को पंखोंसे प्रहार करने लगे, तब लोगोंमें बड़ा आतङ्क फैला। बगुलेने लाल-लाल आंखें फाड़-कर अपने पंखोंको कँपाकर जब आड़ीको आहत किया, तब आड़ीने भी ग्रीवा उन्नत कर पंजोंसे बगुलेको चोट पहुंचायी। उनके पंखोंकी झपेटमें आकर बड़े-बड़े पर्वत भूमिपर लेट गये। पर्वतोंके गिरनेसे पृथ्वी काँपने लगी और भूचालसे समुद्रका पानी उछलने लगा। पृथ्वी डोलती हुई टेढ़ी होकर पातालकी ओर धँसने लगी। तब पृथ्वीके सब प्राणी कोई पर्वतोंसे दबकर, कोई समुद्रमें डूबकर और कोई भूचालमें आकर क्षयको प्राप्त होने लगे। इस प्रकार सर्वत्र हाहाकार होने लगा, जगत् त्रस्त और चेतनाशून्य हो गया, सब लोग हक्का-बक्का होगये, पृथ्वीमें उथल-पुथल मच गयी। पृथ्वीके सभी लोग अत्यन्त भयभीत और व्याकुल होकर, हा वत्स! हा कान्त! हा शिशो! भागो, भागो! देखो, हमारी क्या दशा हुई है। हा प्रिये! हा नाथ! देखो, यह पर्वत घहरा रहा है, शीघ्र पलायन करो" इत्यादि कह-कर रोने-चिल्लाने लगे। तब स्वयं पितामह ब्रह्मा सब देवताओंके साथ वहां उपस्थित हुए और अत्यन्त क्रुद्ध होकर दोनों पक्षियोंसे बोले कि, तुम्हारा युद्ध बन्द हो और पृथ्वीके सब प्राणी सुस्थ हों। अव्यक्तजन्मा ब्रह्माके वचनको सुनकर भी उसकी उपेक्षाकर क्रोध और डाहके वशीभूत हुए दोनों पक्षी लड़ते ही जाते थे, किसी प्रकार शान्त नहीं होते थे। तब पितामह ब्रह्माने इस प्रकार प्रजाका क्षय होते देख, उनके हितसाधनके विचारसे दोनों पक्षियोंका पक्षित्व हरण कर लिया। दोनों महर्षियोंकी पूर्वदेह प्राप्तिके बाद उनका तामस-भाव तिरोहित होनेपर दिव्य शक्तिमान् प्रजापति वसिष्ठ और कौशिकसे बोले,—हे वत्स वसिष्ठ! हे बुद्धिमान् कौशिक! तामस भावका अवलम्बनकर तुम जैसा युद्धकर कर रहे थे, उससे विरत हो जाओ। तुमने पृथ्वीक्षयकारक जो युद्ध आरम्भ किया था, वह राजा हरि-श्चन्द्रके राजसूय यज्ञका विपाक (परिणाम) था। कौशिकने राजाका कोई अपराध नहीं किया है, उलटे हे ब्रह्मन्! ये उसके स्वर्गप्राप्तिके कारण होनेसे उपकारकही हुए हैं। तुम काम और क्रोधके वशीभूत होकर तपस्यामें विघ्नभूत हो रहेहो। अतः इस मनोवृत्ति को त्याग दो। तुम्हारा मङ्गल हो। देखो, ब्रह्मतेजसे बढ़कर कोई बल नहीं है॥ १०-२६॥ प्रजापति ब्रह्माके द्वारा उक्त प्रकारसे कहे जानेपर वे दोनों अत्यन्त लज्जित हुए और प्रेमपूर्वक परस्परको आलिंगन कर एक दूसरे से क्षमा मांगने लगे, फिर लोकपितामह ब्रह्माको सब देवताओंने प्रणाम किया और वे ब्रह्मलोकको चले गये। वसिष्ठ और विश्वामित्रने भी अपने अपने आश्रममें गमन किया॥३०-३१॥ जो मनुष्य इस आड़ी-बककी तथा हरिश्चन्द्रकी कथा

टीका :—पुराणशास्त्रमें कौन विषय है और कितना विषय परकीय-भाषाका है और कौन और कितना लौकिकी भाषाका है, यह निश्चय करना दार्शनिक-बुद्धि-गम्य है। अष्टाङ्ग-योगका समाधि रूपी अन्तिम साधन दो भागोंमें विभक्त है। यथा—सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि। निर्विकल्प

को पढ़ेंगे या जो भलीभांति सुनेंगे, कथा सुनतेही उनके समस्त पाप दूर होंगे और उनके किसी कार्यमें कभी विघ्न उपस्थित नहीं होगा ॥ ३२-३३ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणका आडी-वक युद्ध नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ ।

दशम अध्याय ।

जैमिनी बोले,—हे द्विजशार्दूलो ! जहाँ प्राणिमात्रकी स्थिति है, वहाँ उनका आविर्भाव और तिरोभाव कैसे होता है, इस विषयमें मुझे संशय है । मैं जिज्ञासा करता हूँ, इस विषयको आप कथन करिये । प्राणी किस प्रकार उत्पन्न होता है, कैसे बढ़ता है और कैसे सिमटे हुए अंगोंसे गर्भमें रहता है ? गर्भसे बाहर होनेपर कैसे बढ़ने लगता है ? मृत्युके समय उसका चैतन्य कैसे नष्ट हो जाता है ? प्राणियोंके काल कवलित होनेपर वे कैसे अपने शुभ कर्मों अथवा अशुभ कर्मोंको पाते और उनका फल भोगते हैं ? स्त्रियोंके कोठे (पेट) में जब कि, अनेक गरिष्ठ पदार्थ पच जाते हैं, तब सामान्य पिण्डी-कृत देह कैसे नहीं पचता ? हे द्विजतनयो ! जिस तरह मेरा सन्देह दूर हो जाय, उसी तरह इस विषयको समझाइये । क्योंकि यह बड़ा गुह्य विषय है और प्राणी इसीमें विमोहित हो जाते हैं ॥ १—६ ॥ पक्षियोंने कहा,—आपने भावाभावसे युक्त और सब प्राणियोंके समझमें न आनेवाले इस बेजोड़ प्रश्नका भार हमपर डाला है । हे महाभाग ! प्राचीन कालमें परम धार्मिक सुमति नामक पुत्रने अपने पिताको इसी प्रकारके सन्देहों पर जैसा कुछ समझाया था, वह हम कथन करते हैं, आप सुनिये । किसी समय भार्गव वंशमें

समाधिका स्वरूप एक ही होता है, परन्तु सविकल्प समाधिकी चार अवस्थाएं रहती हैं । यथा,—वितर्कानुगत समाधि, विचारानुगत समाधि, आनन्दानुगत समाधि, और अस्मितानुगत समाधि । जिनका वर्णन इस टीकाकारके योगदर्शनभाष्यमें भलीभांति वर्णित है । वितर्कानुगत समाधिकी सहायतासे लौकिकी भाषाकी रचना और विचारानुगत समाधिकी सहायतासे परकीय-भाषाकी रचना होती है । इस गाथाका प्रथम परिशिष्टांश परकीय भाषामें ही है । यह लौकिकी भाषा है । यह शिष्य-वात्सल्यके आदर्श से पूर्ण, सूर्य-वंशके क्षत्रियोंके कुलगुरु, ब्रह्मतेजा महर्षि वसिष्ठकी करुणासे उत्पन्न मोह और दूसरी ओर तपके आदर्श मूर्ति, क्षत्रियजनित कठोर स्वभावापन्न, जगतके अमित्र होनेपर भी तत्वतः जगतके मित्र महर्षि विश्वामित्रके स्वाभाविक क्रोधके द्वारा जो अज्ञानजनित संघर्ष हुआ और उससे जो दोनों महापुरुषोंका क्षणिक पतन हुआ, उसी पतन तथा द्वन्द्व युद्धके आध्यात्मिक रहस्यका लौकिकी भाषामें मधुर कविता द्वारा प्रकट कर इस आख्यायिकाकी सौन्दर्य वृद्धि की गयी है । अतः पुराणपाठकोंको समझना चाहिये कि, इस गाथाका पूर्वार्ध परकीय भाषामें तथा उत्तरार्ध लौकिकी भाषामें लिखा गया है ॥

महामति नामक एक ब्राह्मण हुआ। उसको सुमति नामक एक पुत्र था, जो जड़की तरह देख पड़ता था, किन्तु शान्त प्रकृतिवाला था। जब उसका उपनयन होगया, तब उसके पिताने उससे कहा कि, हे सुमते! गुरुसेवामें रत रहकर और भिक्षान्नसे उदर निर्वाह कर तुम यथाक्रम आरम्भसे समस्त वेदोंका अध्ययन करो। फिर गार्हस्थ्य-धर्मका अवलम्बन कर अनेक यज्ञानुष्ठान तथा अभिलषित सन्तान उत्पन्न करो। हे वत्स! तत्पश्चात् वनमें गमन करो और वानप्रस्थके अनन्तर निष्परिग्रह परिव्राजक (संन्यासी) हो जाओ। उस अवस्थामें तुम्हें ब्रह्मज्ञान होगा और ब्रह्मज्ञान होनेपर शोक-दुःखसे तुम निवृत्त हो जाओगे॥ ७--१२॥ पक्षी बोले,—पिताके इस प्रकार कई वार कहने समझाने पर भी जड़ताके कारण सुमतिने कभी कोई उत्तर नहीं दिया। पिता भी स्नेहके कारण बार-बार उसे वही बात कहने लगे। पिताके द्वारा वार-वार प्रीति पूर्वक प्रलोभन युक्त मधुर-वाक्यों से समझाये जानेपर सुमतिने मन्द-हास्यकर पितासे कहा,—हे तात! आज आप जिस विषयका मुझे उपदेश दे रहे हैं, उसका मैंने कई वार अभ्यास किया है और अन्यान्य नाना शास्त्रों और अनेक शिल्पशास्त्रोंमें भी मैं अभ्यस्त हो चुका हूँ। दस हज़ारसे कुछ अधिक जन्मोंका स्मरण मुझे है। मैंने अनेक वार दुःख पाया है और अनेक बार सन्तुष्ट भी हुआ हूं। अनेक वार क्षयवृद्धिके उदयमें रत रहा हूँ। मैं अनेक वार शत्रु, मित्र और कलत्रों (स्त्रियों) से मिला और बिछुड़ा भी। मैंने अनेक माता-पिता देखे और सहस्रों सुख-दुःख सहे। अनेक तरहके कुटुम्बी और अनेक तरहके पिता देखे। विष्ठा और मूत्रके कीचड़से युक्त स्त्रियोंके गर्भोंमें मैंने अनेक वार वास किया है। हजारों रोगोंकी दारुण यन्त्रणाएं भोगी हैं। गर्भ, बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य दशामें जितने वार जैसे जैसे कष्ट सहे हैं, वे सब मेरे स्मृतिगोचर हैं। कितनी ही वार मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पशु, कीट, मृग और पक्षियोंकी योनियोंमें जन्मग्रहण किया है। आपके घर जिस प्रकार मैं जन्मा हूँ, उस प्रकार कितनी ही बार कितने ही राजसेवकों और योधा राजाओं-के घर मैंने जन्मग्रहण किया है। मैं अनेक बार अनेक मनुष्योंका दास और चाकर बना हूँ। कई बार स्वामित्व, प्रधानत्व और दारिद्र्य का मैंने अनुभव किया है। कई बार कई लोगोंको मैंने मारा है और कई बार कितने ही लोगोंसे मैं और मेरे साथी मारे गये हैं। मैंने अनेक बार दान किया और अनेकोंसे अनेक बार दान प्राप्त किया है। पिता, माता, सुहृद और कलत्र आदिसे कई बार मैं परितुष्ट हुआ हूँ और कई बार दीन दशाको प्राप्त होकर आंसुओंसे अपना मुख धो चुका हूँ॥ १३--२५॥ हे तात! इस प्रकार मैं सङ्कटमय संसारचक्रमें निरन्तर परिभ्रमण कर मोक्ष प्राप्ति करानेवाले ज्ञानको सम्पादन कर चुका हूँ। जब मैं इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त कर चुका हूँ, तो मेरे लिये ऋक्, यजु और साम

नामक क्रिया कलाप निःसार हैं। ये मुझे अच्छे नहीं लगते। मुझे ब्रह्मज्ञान हो गया है, मेरा आत्मा विशुद्ध है, मैं श्रेष्ठ-विज्ञानसे तृप्त हूँ और करने योग्य कोई बात मेरे लिये नहीं बच रही है। अब वेदोंसे मुझे क्या प्रयोजन है? मैं निःसन्देह छः प्रकारकी क्रिया-ओं और सुख, दुःख, हर्ष, रस तथा गुणोंसे रहित परम ब्रह्मपदको प्राप्त करूंगा। पिताजी! रस, हर्ष, भय, उद्वेग, क्रोध, डाह और जरासे तथा मृग, श्वान आदि जिसमें फँसते हैं, ऐसे सैकड़ों पाशोंसे युक्त इस जानी हुई दुःख सन्ततिको, एवं जिसका फल दुखदायीके समान है, उस अधर्मसे युक्त तीनों वेदोंके धर्मको, त्यागकर मैं ब्रह्मपद प्राप्त करूंगा॥ २६--३१॥ पक्षी बोले,--उसका यह भाषण सुनकर महाभाग पिता प्रसन्न चित्तसे हर्ष और विस्मयसे गद्गद् होकर अपने पुत्रसे कहने लगे,--हे वत्स! तुम जैसा कह रहे हो, वह ज्ञान तुमको कैसे प्राप्त हुआ? अब तक तुम मूढ़ कैसे रहे और इसी समय तुम्हें ज्ञानोदय कैसे हो गया? तुम्हारा छिपा हुआ ज्ञान इस समय सहसा जाग गया, यह क्या किसी मुनि अथवा देवताके शापका विकार था? पूर्व कालमें जो-जो हुआ, हे वत्स! वह सब तुम मुझसे कहो, मुझे बड़ा ही कौतूहल हो रहा है, वह मैं सुनना चाहता हूं॥ ३२--३५॥ पुत्र बोला,—हे तात! मैं पूर्व जन्मोंमें कौन-कौन था और क्या क्या हुआ, वह सब सुख दुःख कारक अपना प्राक्तन वृत्तान्त कथन करता हूँ, आप सुनिये। पूर्व जन्ममें मैं एक ब्राह्मण

टीका :—यह अध्याय परकीय-भाषा और समाधि भाषासे पूर्ण है। ऊपर लिखित वर्णनमें जो कथाका प्रसंग है, वह परकीय-भाषा है और जो आत्मज्ञान सम्बन्धका है, वह समाधि भाषा है। पर-कीय-भाषा जिस प्रकार विचारानुगत समाधि और लौकिकी भाषा जिस प्रकार वितर्कानुगत समाधिकी सहायतासे रचित होती है, उसी प्रकार समाधि भाषा योगशास्त्रोक्त संयम क्रियाकी सहायतासे अनुभव करके लिखी जाती है। एकाधारमें धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनोंके करनेसे संयमकी सिद्धि होती है। इसी संयमकी सहायता से नाना सिद्धियां प्राप्त होती हैं। उसका विस्तृत वर्णन टीकाकारके योग-दर्शन भाष्यके तीसरे पादमें द्रष्टव्य है। योग साधनोक्त संयम क्रिया द्वारा पिण्डसे लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्तका, एक लोकसे लेकर लोकान्तर पर्यन्तका सब देव तथा असुर लोकका तथा कर्मके सब रहस्यों और कर्म विपाकका तथा आत्मा और अनात्माका, सब रहस्य, आदि सभी समाधिगम्य विषय और भाव अच्छी तरह जाने जा सकते हैं। उसी संयमक्रियाकी सहायतासे, जो समाधिस्थ योगी ही कर सकता है, समाधि-भाषाका वर्णन किया जाता है। पुराणोंमें जहां जहां ऐसे वर्णन आते हैं, वह समाधि भाषा है। और वह सब संयम क्रियाके द्वारा ही उपलब्ध होते हैं।

ऊपर जो छः क्रियाओंका वर्णन है, वे क्रियाएं ये हैं:—अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति। ये छहों क्रियाएं प्रकृतिमें होती हैं। इनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है।

वेद जो कुछ कहते हैं, वह जीवके कल्याणके लिये कहते हैं। सृष्टि जब त्रिगुणात्मक है, तो वेद भी त्रिगुणात्मक हैं। आत्मा प्रकृतिसे परे है इस कारण त्रिगुणसे रहित है। वेदमें धर्मका वर्णन है और अधर्मकी निवृत्तिका भी वर्णन है। इस कारण धर्माधर्मसे रहित और त्रिगुणसे अतीत पदका लक्ष्य करानेके लिये "अधर्मसे युक्त तीनों वेदोंका धर्म" ऐसा प्रयोग इस समाधि भाषामें हुआ है॥ २६--३१॥

था। उस अवस्थामें मैंने आत्माको परमात्मामें रखकर आत्मविद्याके विचारोंमें परम-निष्ठा लाभ की थी। निरन्तर योगयुक्त रहने और साधुताके अभ्यास, सत्सङ्ग, सत्स्वभाव, विचार विधिशोधन तथा परमात्मामें युक्त रहनेसे उस जन्ममें बहुत आनन्दित था और शिष्योंके सन्देहोंके मिटानेमें कुशल होनेके कारण मैंने आचार्यत्व प्राप्त किया था। कुछ समय बीतनेपर मैं एकान्तिक हो गया। (अर्थात् मैंने पुरुषार्थ साधन आदि छोड़ दिया) अनन्तर अज्ञानजन्य आकृष्टसद्भाव होकर (अज्ञानसे सद्वृत्तियोंके आवृत होनेपर) प्रमादके कारण मैं विपन्न अवश्य हुआ, किन्तु मृत्युके समय तक मुझे स्मरण बना रहा। इस कारण जन्मसे लेकर जितने वर्ष बीते, उन सबकी मुझे स्मृति है। अतः हे तात ! पूर्वाभ्यासके बलसे ही मैं जितेन्द्रिय होकर ऐसा यत्न करूंगा, जिससे मेरा पुनर्जन्म न हो। मैं जाति स्मर (जन्मसे ही पूर्व जन्मोंका स्मरण रखनेवाला) हुआ हूँ, यह मेरे पूर्वजन्मके ज्ञान और दानका फल है। हे पिता ! त्रयीधर्म (वेदोक्त सकाम धर्म) का आश्रय करनेवाले इस प्रकार जातिस्मर हो नहीं सकते। मैं पूर्वजन्मार्जित निष्ठा (आत्मनिष्ठा) धर्मका ही आश्रय कर ऐकान्तिकत्वको (स्वाभाविक ऐकान्तिकत्वको) प्राप्त करते हुए अपने मोक्षमें यत्नवान् होऊँगा। अतः हे महाभाग ! आपके हृदयमें जो कुछ सन्देह हों, कहिये। मैं जिस किसी तरह हो, उनको दूर कर तथा आपको प्रसन्नकर आपके ऋणसे उऋण होऊँगा ॥ ३६-४५ ॥ पक्षियोंने कहा,—अनन्तर पुत्रका यह वचन सुनकर पिताने श्रद्धापूर्वक उससे संसार में जीवोंके जन्म और मृत्यु होनेके सम्बन्धमें वे ही प्रश्न किये, जो आपने मुझसे किये हैं। पुत्रने कहा,—हे तात ! मैंने बार-बार जो अनुभव किया है, वह ठीक-ठीक कथन करता हूं, आप श्रवण कीजिये। यह संसारचक्र न कभी रुकता है, न बुझा ही होता है। हे पिता ! आपकी आज्ञासे मैं वह सब कहता हूं। दूसरा कोई मृत्युकाल तककी सब घटनाओं का वर्णन करनेमें समर्थन नहीं हो सकता। देहमें जो उष्मा (पित्त) है, वह कुपित होकर इन्धन विहीन होनेपर भी तीव्रवायुके संचालनसे धधक उठता है और सब मर्मस्थानों को भेद करता है। फिर शरीरस्थ उदान नामक वायु उसके ऊपर उठकर द्रवीभूत सब खाद्य पदार्थोंको निगलनेसे रोक देता है। उसी समय प्राणीकी मृत्यु हो जाती है। जिन्होंने जल अथवा अन्न रसका दान किया होता है, वे उस मृत्युरूपी आपत्कालमें आह्लाद प्राप्त करते हैं। जिन्होंने श्रद्धापूर्वक पवित्र मनसे अन्नदान किया होता है, वे बिना अन्नके भी उस समय तृप्तिलाभ करते हैं। जो कभी मिथ्या न बोले हों, किसीके प्रेमभंगमें प्रवृत्त न हुए हों, आस्तिक और श्रद्धवान् हों, उनकी सुखसे मृत्यु होती है। जो देवता और ब्राह्मणों की पूजामें परायण हों, असूया रहित हों, शुद्धचरित, वदान्य और लज्जावान् हों, वे सुख से प्राणविसर्जन करते हैं। जो काम, क्रोध अथवा द्वेषके वशीभूत होकर कभी धर्मका त्याग

नहीं करते, जो कुछ कहते हैं वही करते हैं और जो सौम्यमूर्ति हैं, वे सुखसे प्राणत्याग करते हैं ॥ ४६-५५ ॥ जिन्होंने कभी प्यासेको जल और भूखेको अन्न नहीं दिया है, वे मृत्युके समय दाह और क्षुधासे पीड़ित होते हैं । जो लकड़ीको दान करते हैं, उन्हें मृत्युकालमें शीतकी बाधा नहीं होती । जो चन्दन दान करते हैं, उन्हें ताप नहीं होता । जो निरन्तर प्राणियोंको सताते हैं, उन्हें मृत्युके समय कष्टप्रद प्राणान्त अनेक वेदनाएँ सहनी पड़ती हैं । जो अधम मनुष्य लोगोंको मोह और अज्ञानमें डालते हैं, उन्हें प्राण छूटते समय बड़ा भय लगता है और तीव्र वेदनाओंसे पीड़ित होना पड़ता है । जो कूट (चालबाज़ीकी) साक्षी देते हैं, झूठ बोलते हैं, वेदोंकी निन्दा करते हैं, असत् मार्गका उपदेश देते हैं, उनकी मृत्यु अज्ञानावस्थामें (अचानक) हो जाती है और उनके मरते समय पीबकी दुर्गन्धिसे युक्त, अति भयङ्कर, दुरात्मा यमदूत गण हाथमें मुगरी और मुद्गर लिये पहुंच जाते हैं, यमदूतोंके दृष्टिगोचर होते ही वे कांपते हुए भाई, माता, पिता आदिको लगातार पुकारने, चिल्लाने लगते हैं । तब उनकी बात अस्पष्ट होती है, कोई कोई, एक.ध अक्षर मुखसे निकलता है, दृष्टि घूम जाती और त्रास तथा श्वासके कारण मुँह सूख जाता है । अनन्तर श्वास उखड़ जाता है, दृष्टिकी शक्ति नष्ट हो जाती है और प्राणी अत्यन्त वेदनाओंसे आक्रान्त होकर शरीरको त्याग देता है । फिर वायुके आगे होकर जीव अपनी कर्मफल स्वरूप यातनाओंको भोगनेके लिये दूसरा शरीर धारण करता है । वह शरीर माता पित.के सम्बन्धसे नहीं होता, परन्तु वह पहिले शरीरकी तरह वयस्, अवस्था और स्थितिसे युक्त रहता है । फिर यमदूत गण कड़ी फाँसीमें उसे फँसाकर डण्डोंसे पीटते सताते हुए उसे दक्षिण दिशाकी ओर खींच ले जाते हैं ॥ ५६-६५ ॥ घोर अमंगल निनाद करनेवाले यमदूतोंसे घसीटे और सैकड़ों भयानक गीदड़ोंसे नोचे जाते हुए पापी लोग जिस मार्गसे यम सदनमें ले जाये जाते हैं, वह बड़ा ही भयंकर और कुश, कंटक, टीलों, खूँटों तथा पत्थरोंसे आकीर्ण होता है । वह कहीं तो जलती हुई आगसे उत्तप्त, कहीं सैकड़ों गड़होंसे उत्कट, कहीं प्रखर सूर्यतापसे जलता हुआ और कहीं आदित्यकी किरणोंसे धधकता रहता है । जो मनुष्य छाता, जूता, वस्त्र और अन्नका दान किये होते हैं, वे ही बिना कष्टके उस मार्गसे जा सकते हैं ॥ ६६-६९ ॥ इस प्रकार पापी लोग विवश होकर कष्टोंका अनुभव करते हुए बारह दिनोंमें धर्मराजकी नगरीमें पहुँचते हैं । उनका कलेवर जब जलने लगता है, तब तीव्र दाहका और पीटे जाने, छेदे जाने अथवा जलमें डुबाये जाने पर तीक्ष्ण वेदनाओंका वे अनुभव करते हैं । देहान्तर प्राप्ति होने पर भी अपने कर्मोंके परिणाम स्वरूप दुःखोंको प्राणी दीर्घकाल तक भोगता रहता है । उसके कुटुम्बी उसके लिये तिल सहित जो जल अथवा पिण्ड देते हैं, वह उसके पास ले जाया जाता है और वही वह पीता खाता है ।

कुटुम्बी यदि शरीरमें तेल मलें या उबटन लगावें तो वही उसे खिलाया जाता है (अतः सूतकमें तेल या उबटन लगाना निषिद्ध है) और कुटुम्बी जो भोजन करते हैं, उससे वह तृप्त होता है । कुटुम्बी यदि (सूतकमें) भूमि पर शयन करें, तो मृत व्यक्ति अधिक क्लेश नहीं पाता । कुटुम्बी (उसके उद्देश्यसे) दान करें, तो उससे वह तृप्त होता है ॥ ७०–७५ ॥ बारहवें दिन वह फिर घर लाया जाता है और उसके निमित्त भूमिपर जो जल या पिण्डादि अर्पण किये जाते हैं, उनका वह उपभोग करता है । बारह दिन बीतने पर फिर यमदूतों द्वारा घसीटा जाकर बहुत बड़े भीषणाकृति लोहमय यमपुरको देखता है । वहाँ जाने पर उसे मृत्यु, काल, अन्तक आदि सभासदोंसे घिरे हुए लाल लाल आँखोंवाले काले भुसुंड यमराज देख पड़ते हैं । बड़ी बड़ी खीसोंसे जिनका मुख विकराल है, टेढ़ी भौंहोंसे जिनकी आकृति अत्यन्त क्रूर हो रही है, सैकड़ों कुरूप, भयानक और टेढ़े मेढ़े रोगोंसे जो वेष्टित हैं, जिनकी लम्बी भुजाएँ हैं, एक हाथमें डण्डा और दूसरे हाथमें जो फाँसी लिये हुए हैं, जो बड़े ही भीषण और उस नगरके अधीश्वर हैं, उन यमराजके आदेशानुसार ही प्राणिमात्र अच्छी या बुरी गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ७६–८० ॥ चालबाजीकी साक्षी देने और झूठ

टीकाः—इस परलोक वर्णनके अध्यायोंमें जहाँ कर्मविपाक वर्णन, प्रेतलोक वर्णन, नरक लोक वर्णन, स्वर्गलोक वर्णन आदि हैं अथवा सदसत् कर्म फलका वर्णन है, वह सब समाधि भाषा है । इसी सम्बन्धसे रोचक और भयानक वर्णन शैली भी स्थान स्थान पर आयी है । जिससे जीवोंकी धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्ति हो जाय । परन्तु वह वर्णन भी कल्पनाप्रसूत नहीं हैं, कर्मविपाकके सिद्धान्तके अनुकूल है । ऊपर जो भगवान् यम धर्मराजके भयदायक रौद्र मूर्तिका वर्णन किया गया है, वह भी कर्मविपाक विज्ञानसे गुम्फित है । भगवान् यम धर्मराज धर्माधर्मके फलदाता हैं । वे भूलोकके शासक हैं । मृत्युलोक, प्रेतलोक, पितृलोक, (पुत्रकलत्रादि धनैश्वर्यमें तीक्ष्ण इच्छा रखनेवालोंके लिये जो स्वर्गलोक है) और नरक लोक ये चारों भूलोकके विभाग हैं, ऐसे साक्षात् भगवान्की मूर्ति ऐसी विकट नहीं हो सकती । परन्तु रहस्य यह है कि, पापी गण अपने कर्मविपाकके कारण उनका ऐसे ही भयानक रूपमें दर्शन किया करते हैं । ऊपर जो जीवोंका वर्णन आया है, वह पापी जीवोंका वर्णन है । पापी जीव प्रेतलोकमें या नरक लोकमें भेजे जाते हैं । ये दोनों लोक अलग अलग हैं । दूसरी ओर पुण्यात्मा जीव जब यमराजधानीमें पहुंचते हैं, तो वे भगवान् यम धर्मराजका अति पवित्र मंगलमय रूपमें दर्शन करते हैं । जैसा कि, वेदोक्त महात्मा नचिकेताने किया था । भगवान् यम धर्मराजको ही पृथ्वीके अनेक अल्पज्ञ धर्मावलम्बी जगदीश्वर करके मानते हैं । उनके व्यक्तिगत ईश्वर यमराज हैं, जो जीव मात्रके धर्माधर्मके फलदाता हैं । और परलोकके शास्ता हैं । ऊपर लिखित वर्णनसे यह नहीं समझना चाहिये कि, सबकी एक सी ही गति होती है । इह लोकमें मोह रखनेवाले विषयासक्त जीवको प्रायः थोड़े या अधिक समयके लिये प्रेतलोकमें रहना होता है और तत्पश्चात् उसे नरकमें जाना पड़ता है, जिसके विभाग भी अनेक हैं । जिस जीवका पुण्य कम है, वह पहिले पितृलोकमें जाता है, जिसका पाप कम है, वह पहिले नरक लोकमें जाता है । उन्नत पुण्यात्मा उत्तरोत्तर उन्नत स्वर्गोंमें भेजे जाते हैं । पाप और पुण्यके अनुसार प्रेत, नरक और पितृलोकमें पहुंचाना और उन्नत स्वर्ग लोकोंका पथ सरल कर देना यह यम धर्मराजके शासनका कार्य है ॥ ७६–८० ॥

बोलनेवाला मनुष्य रौरव नरकमें जाता है। हे पिताजो! उस रौरव नरकका मैं वर्णन करता हूं, उसे सुनिये। उस रौरव नरककी परिधि दो सहस्र योजन है। उसमें जंघाके बराबर गहरा गढ़ा है। इसमें जलते हुए अंगार भूमिके समतल तक भरे हुए होते हैं और वे धधकते रहते हैं। पापी मनुष्योंको यमदूत गण उस आगमें छोड़ देते हैं, तब वे तीखी आँचमें जलते हुए इधर उधर दौड़ने लगते हैं। उनके दोनों पांव जल भुनकर इतने जीर्ण शीर्ण हो जाते हैं कि, दिन रातमें वे किसी प्रकार एक ही पग धर सकने या उठा सकनेमें समर्थ होते हैं। इसी गतिसे एक सहस्र योजन चलनेपर वहाँसे उनका छुटकारा होता है और पापशुद्धिके निमित्त फिर वे इसी तरहके दूसरे नरकमें जा गिरते हैं ॥ ८१—८६ ॥ पापात्मा प्राणी इस प्रकार समस्त नरकोंको पार कर तिर्यक् योनिको प्राप्त करते हैं। अनन्तर सृष्टिधाराके क्रमानुसार कृमि, कीट, पतङ्ग, पशु, मच्छड़, गौ, घोड़े, हाथी, वृक्ष, लता आदि नानाविध कष्टप्रद योनियोंसे होते हुए वे पुनः मानव जन्म ग्रहण करते हैं। मानव होने पर भी पहिले कुबड़े, ठूंठे, कुरूप, बौने होते हैं अथवा चाण्डाल, डोम आदि हीन कुलोंमें उत्पन्न होते हैं। फिर अवशिष्ट पाप और (संचित) पुण्यके मिलनसे क्रमशः उन्नत होते हुए आरोहिणी (चढ़ती) गतिसे शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण और देवेन्द्र तक हो सकते हैं। और फिर अधर्माचरण करनेसे अवरोहिणी (उतरती) गतिको प्राप्त होकर नरकोंमें जा गिरते हैं ॥ ८७—९१ ॥ अब जिस प्रकार पुण्यवान् मनुष्य गमन करते हैं, वह कहता हूँ; उसे सुनिये। पुण्यात्मा पुरुष भी यमराजकी निर्दिष्ट पुण्यमयी गतिको प्राप्त करते हैं। जब वे चलने लगते हैं, तो उनके साथ उन्हें चारों ओरसे घेरकर गन्धर्व गण गाते हुए चलते हैं अप्सरायें नाचती जाती हैं। हार, नूपुर आदि मधुरतासे सजाये हुए उनके लिये विमान आते हैं, और नाना दिव्य मालाओंको धारण कर उन विमानोंमें चढ़कर वे स्वर्गको गमन करते हैं। अनन्तर पुण्य शेष होनेपर स्वर्गसे गिरकर वे किसी महात्माके घर अथवा राजाके घर जन्म ग्रहण कर सद्वृत्तपरिपालक मनुष्य होते हैं और नाना प्रकारके भोगोंका उपभोग कर क्रमशः पुनः ऊर्द्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं। यदि वे (असत् कर्मोंके

टीका—यह साधारण कारणोंकी गतिका वर्णन है। इसमें जो जो शंकाएं हो सकती हैं, उनका समाधान किया जाता है। प्रबल पापी गण पहिले प्रेतलोकमें होकर नरकमें जाते हैं। असिपत्र, रौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंमें भोग करने पर यदि पाप कर्मोंका विपाक शेष रहा, तो उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनिके पिण्डोंमें वे दण्ड देनेके लिये फेंके जाते हैं। और पुनः दुःखप्रद अथवा अज्ञानी मनुष्य-पिण्डको प्राप्त करते हैं। यही गुरुतर पाप भोगका क्रम है। पहिले नरक भोग होनेका कारण यह है, कि, नरकमें जीवको मालूम रहता है कि, मैंने किस पापका यह फल पाया है। पशु आदि योनिमें जीवको वह ज्ञान नहीं रहता। इस कारण पापीको पहिले नरक भोग करा दिया जाता है ॥ ८७—९१ ॥

करनेसे) अवरोहिणी दशाको प्राप्त हुए, तो फिर पहिले कहे हुए दुःखोंको भोगते हैं। पिताजी ! प्राणी किस प्रकार विपन्न होते हैं, यह मैंने आपसे कहा । हे विप्रर्षे ! गर्भ धारण कैसे होता है, वह अब मैं कहता हूं, उसको श्रवण कीजिये ॥ ९२-९६ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणका पितापुत्रसंवाद नामक दशम अध्याय समाप्त हुआ ।

एकादश अध्याय ।

पुत्रने कहा,--स्त्री-पुरुष-प्रसङ्गमें स्त्रियोंके रजमें जब पुरुषोंका वीर्य गिरता है, तब स्वर्ग या नरकसे छूटते ही जीव उसका अवलम्बन कर उससे अभिभूत हो जाता है। रज और वीर्य स्थिर हो जाने पर वह कलल, बुद्बुद और पेशी भावको धारण करता है ॥ १--२ ॥ उन पेशियोंमें जो सूक्ष्म अण्डके समान बीज रहता है, उसे अंकुर कहते हैं। उसी अंकुरसे भाग्यक्रमानुसार पांच अंगोंकी उत्पत्ति होती है। फिर अंगुली, नेत्र, नासिका, मुख, कान आदि उपाङ्ग बनते हैं और उनके बढ़नेपर नखआदि उत्पन्न होते हैं। अनन्तर त्वचाके ऊपर रोम और केश जमने लगते हैं। इस प्रकार जीवके अङ्ग-प्रत्यङ्ग और उद्भव कोष दोनों एक साथ वर्धित होते हैं। जिस प्रकार कोष (कवच =

टीकाः—स्त्री-पुरुष-सङ्गमसे पीठकी उत्पत्ति अपने आप होती है। प्राणके आकर्षण और विकर्षणके समन्वयसे पीठ बनता है। उपासना पीठ कई प्रकारके होते हैं, जिनमें देवपूजा की जाती है। और स्त्रीपुरुषके सम्बन्धसे जो पीठ उत्पन्न होता है, वह सहज पीठ कहाता है। पीठमें जैसा जहां सम्भव हो ऋषि देवता, पितृगणसे लेकर स्वर्ग और नरकके जीवगण तक यथाकर्म आकृष्ट होते हैं। पुरुषशक्ति परास्त होते ही पीठ नष्ट हो जाता है। और वीर्य और रजका सम्मेलन होकर स्त्रीगर्भमें जीव, जिसका जन्म उस गर्भमें होगा, उसका स्थूल शरीर रूपी घर बनना प्रारम्भ हो जाता है। जिस जीवका घर बनना प्रारम्भ हो जाता है, उसका सम्बन्ध उस घरसे हो जाता है। इस कारण उसके उसमें अभिभूत होनेकी बात कही गयी है। चाहे पापी जीव हो, चाहे पुण्यात्मा हो, चाहे आसुरी सम्पत्तिका जीव हो, चाहे दैवी सम्पत्तिका जीव हो, चाहे देवताओंके अंशसे उत्पन्न हो, चाहे ऋषियोंके अंशसे उत्पन्न हो, चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो, इसी समयसे उसका इस घरकी नींवकी ओर दृष्टि हो जाती है। अर्यमा आदि नित्य पितृगण उस घरके बनानेमें सहायक रहते हैं। और जब घर रहने योग्य हो जाता है, तब देवतागण उस जीवको वहां गर्भमें पहुंचा देते हैं। यहीं मृत्युलोकमें मातृगर्भमें जीवके जन्मके लेनेका दार्शनिक रहस्य है। वेद अथवा शास्त्रोंमें जीवके जन्म ग्रहण करनेके जो नाना प्रकारके वर्णन हैं, वे वर्णन भी त्रिभावात्मक हैं। अर्थात् कहीं तो वह वर्णन स्थूल शरीरकी प्राप्तिके लिये है, माता पिताके सम्बन्धसे संस्कारजन्य है और कहीं लोक लोकान्तरसे लौटे हुए जीवोंके सूक्ष्म शरीरोंसे सम्बन्धयुक्त है। इस कारण वर्णनवैचित्र्य होना स्वाभाविक है ॥ १—२ ॥

नरियली) के साथ ही नारियल बढ़ता है, उसी प्रकार प्राणी भी गर्भकोषके साथ ही साथ अधोमुख होकर बढ़ता जाता है ॥३–६॥ प्राणी जब गर्भमें अधोमुख होकर वास करते हैं, तब उनके पार्श्व और जानुओंके तले हाथ दबे रहते हैं। और वह बढ़ने लगते हैं। अँगूठे जानुके ऊपर और अँगुलियाँ जानुओंके अग्रभागमें रहती हैं। जानु पृष्ठमें आंखें और दोनों जानुओंके बीचमें नासिका रहती है। दोनों कूले पार्ष्णिके ऊपर और बाहु तथा जङ्घाएं बाहर निकली रहती हैं। इस प्रकार मनुष्य प्राणी स्त्रीके गर्भमें रहकर क्रमशः वृद्धिङ्गत होता है। अन्यान्य प्राणियोंकी भी जैसी आकृति हो, वैसा उनका गर्भ रहता है। उदरकी अग्निसे वह कठिन होता और स्त्री जो कुछ खाती पीती है, उसीके रससे जीवन धारण करता है। गर्भमें भी पुण्यपापके न्यूनाधिक्यके अनुसार ही प्राणीकी स्थिति होती है। गर्भस्थ पिण्डकी नाभिमें आप्यायनी नामक जो नाड़ी होती है, वह स्त्रीकी अंतड़ीके रन्ध्रसे सम्बन्ध रखती है। स्त्री जो कुछ खाती-पीती है, उसका रस उसी नाडीके द्वारा गर्भस्थ पिण्डमें पहुँचता है; जिससे वह तृप्त होकर बढ़ता रहता है ॥ ७–१७ ॥ गर्भावस्थामें जीवको संसारकी अनेक भूमियां स्मृति-गोचर होती और चारों ओरसे पीडित होकर वह बहुत दुःख पाता है। दैवजनित पूर्वानुभूत सैकड़ों जन्मोंके दुःखोंको स्मरण कर वह सोचने लगता है कि, मैं इस गर्भवाससे निवृत्त होनेपर ऐसे कार्य (जिनका फल दुःख हो) कभी नहीं करूँगा। अब ऐसा यत्न करूँगा, जिससे फिर गर्भवासका दुःख न भोगना पड़े। इसी प्रकार वह अधोमुख प्राणी कालक्रमसे जब नौ या दस मासका हो जाता है, तब जन्म ग्रहण करता है। जन्मके समयमें प्राजापत्य वायुके द्वारा वह अत्यन्त पीड़ित होकर बाहर आने लगता है, हृदयके अत्यन्त दुःखसे विलाप करता हुआ बाहर आता है। गर्भसे बाहर आते ही वह असह्य पीड़ासे मूर्छित हो जाता है और फिर वायु लगनेसे चैतन्य लाभ करता है। फिर मोहिनी वैष्णवी माया उसे घेर लेती है। उसी मायासे विमोहित होनेके कारण उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है। ज्ञान नष्ट होनेसे वह क्रमशः बाल्य, कौमार, यौवन, वार्द्धक्य आदि नाना दशाओंको पाता और देहावसानके पश्चात् फिर वैसा ही

टीका:—परमात्मा तथा मायामें मैं और मेरी शक्तिके समान अभिन्न सम्बन्ध है। जैसे गायक और गायककी गानशक्तिमें अभिन्न सम्बन्ध है, उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामायामें अभिन्न सम्बन्ध है। वह शक्ति पुनः त्रिगुण भेदसे तीन रूपोंमें कार्यकारिणी होती है। वह सृष्टिके सम्बन्धसे ब्राह्मी शक्ति प्रलयके सम्बन्धसे रौद्रीशक्ति और स्थितिके सम्बन्धसे वैष्णवी शक्तिके नामसे आभिहित होती है। यह वैष्णवी शक्तिका ही प्रभाव है कि, सृष्टिरक्षाके सम्बन्धसे वैष्णवी माया मनुष्यके गर्भसे निकलते ही उसकी पुरानी स्मृति भुला देती है। एक ओर गर्भसे निकलते समय निष्पेषणके क्लेशसे मूर्छा आना यह विस्मृतिका कारण है। दूसरी ओर यदि वह जीव अपनी पुरानी बातें भूल न जाय, तो अनन्त जन्मोंकी पूर्वस्मृतियां उसको

जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार घटीयन्त्रकी तरह यह संसारचक्र निरन्तर घूमता रहता है ॥ १३-२१ ॥ जीव कभी स्वर्गमें, कभी नरकमें और कभी दोनों स्थानोंमें जाता है। कभी यहीं फिर जन्म लेकर अपने कर्मफलोंका भोग करता है। कभी अपने कर्मफलोंको थोड़े ही समयमें भोगकर प्राण छोड़ देता है। हे द्विजसत्तम ! कभी कभी बहुत थोड़े शुभाशुभ कर्मोंके होनेसे अति अल्प समय तक स्वर्ग या नरकका भोग करता है। स्वर्गवासी लोग स्वर्गमें नाना प्रकारके आमोद प्रमोद करते हैं, यह देखकर नरकमें पड़े पापियोंके हृदयोंमें बड़ा दुःख होता है। इधर स्वर्गमें भी दुःखकी सीमा नहीं रहती। क्योंकि जीव जबसे स्वर्ग पहुंचते हैं, तभीसे उनको यह चिन्ता लगी रहती है कि, पुण्यक्षय होने पर हम भी इसी तरह नरकमें पड़ेंगे। हे तात ! नरकमें गिरे हुए जीवोंको देखकर स्वर्गवासियोंको बहुत दुःख होता है और हमारी भी यही गति होगी, यह सोचते हुए दिन रात वे अस्वस्थ रहा करते हैं। प्रथम तो गर्भवास ही दुःखकर है, फिर योनिरन्ध्रसे जन्म ग्रहण करना उससे भी अधिक कष्टप्रद होता है। जन्म पाने पर भी वाल्यावस्था और वृद्धावस्था दोनों अवस्थाएँ क्लेशमयी हैं। यौवनावस्था भी काम, क्रोध, ईर्ष्या आदिके कारण महान् कष्टोंसे खाली नहीं है। वृद्धावस्था तो दुःखकी खान है और मरणावस्थाका कहना ही क्या है। उसमें अत्युत्कट दुःख बना ही हुआ है ॥ २२-२६ ॥ मरणोपरान्त यमदूतगण जीवको घसीटते हुए जब नरकमें डालते हैं, तब तो दुःखकी सीमा ही नहीं रहती। इतना होने पर भी जीवको छुट्टी नहीं ; उसे फिर गर्भवास, जन्मग्रहण मरण और नरकवासका दुःख भोगना ही पड़ता है। इस प्रकार इस संसारचक्रमें सब प्राणी प्रकृत बन्धनसे आबद्ध होकर घटीयन्त्रकी तरह निरन्तर परिभ्रमण किया करते हैं और अत्यन्त बन्धन यन्त्रणा भोगते रहते हैं। हे पिताजी ! सैकड़ों दुःखोंसे व्याप्त इस संसार में सुखका लेश भी नहीं है। अतः जब मैं मुक्ति लाभके निमित्त यत्न करता हूं, तब वैदिक धर्मका अभ्यास क्योंकर करूं ? ॥ ३०-३२ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेयमहापुराणका पितापुत्रसंवादात्मक एकादश अध्याय समाप्त हुआ।

पागल कर सकती हैं। यह वैष्णवी मायाकी कृपा ही है कि, जिससे जीव पूर्व स्मृतियोंको भूलकर सम्पूर्ण रूपसे नवीन जीवनका अनुसरण करता है। नहीं तो अगणितवार नरकवासका भय और अगणित वार स्वर्गवासका अभाव उसको हर समय विचलित कर देता। दूसरी ओर अपने माता पिता, पुत्र, कलत्र, कन्या आदिके पूर्वजन्म के सम्बन्धकी स्मृति बनी रहती, और माताको स्त्री और स्त्रीको माता, पिताको पुत्र और पुत्रको पिता और इसी प्रकार आत्मीयोंको पूर्व शत्रु आदि रूपसे जानता, तो उसका यह जीवन नरकसेभी अधिक दुखदायी और उसकी वृत्ति पागलसे भी बढ़कर हो जाय, इसमें संदेह नहीं। अतः भगवती वैष्णवी मायाके प्रभावसे ही एक ओर पूर्वस्मृतिको भूलकर दूसरी ओर असत्‌में सत् और दुखदायी पदार्थोंमें सुखका अनुभव करक जीव अपने जीवन पथमें अग्रसर होता रहता है ॥ १३-२१ ॥

द्वादश अध्याय ।

पिताने कहा,—हे वत्स ! तुमने ज्ञानदानके अर्थ संसारकी परम गहनताका महाफलप्रद विषय भली-भांति कह सुनाया और रौरव तथा अन्यान्य नरकोंका भी विषय कहा, यह ठीक किया । अब उसीको विस्तार पूर्वक समझाओ । पुत्रने कहा,—पिताजी ! प्रथम मैंने रौरव नरकका वर्णन किया है । अब महारौरव नरकका वर्णन करता हूं, आप श्रवण कीजिये । यह नरक बारह सहस्र योजन लम्बा चौड़ा है । इसकी भूमि तांबेकी है और उसके नीचे आग जलती रहती है । वह भूमि अग्निके तापसे परितप्त होनेके कारण नव उदित चन्द्रमाकी तरह चारों दिशाओंको प्रकाशित करती है । इसका देखना या स्पर्श करना बड़ा भयङ्कर है । यमदूतगण पापियोंको हाथ पैर बांधकर उसमें छोड़ देते हैं और पापी लोग उसपर लोटते-लोटते उसके भीतर प्रवेश कर जाते हैं । नीचे धँसते हुए उन्हें कौवे, बगुले, सियार, उल्लू, बिच्छू, मशक, गीध आदि नोचते-काटते जाते हैं ॥ १-७ ॥ वहां दाह यन्त्रणासे पीडित होकर व्याकुलचित्तसे वे "हाय बप्पा, हाय मैया, हाय भैया" आदिकह कर चिल्लाते और अत्यन्त उद्विग्न होते हैं, किन्तु शान्ति नहीं पाते । जो दुष्ट मनुष्य निरन्तर पाप करते रहते हैं, उन्हें वहां दस सहस्र वर्ष इसी अवस्थामें बिताना पड़ता है, तब छुट्टी मिलती है । महारौरवके बाद घोर अन्धकारसे आच्छन्न तम नामक एक नरक है । वह भी महारौरवकी तरह दीर्घ और स्वाभाविक रूपसे अत्यन्त शीतमय है । जो उस नरक में गिराये जाते हैं, वे घोर अन्धकारमें शीतसे व्याकुल होकर इधर-उधर दौड़ते और अन्य नारकीय जीवोंमें मिलकर एक दूसरेसे चिपककर परस्परके आश्रयसे रहते हैं । शीतकी पीडासे वे कांपते और दांतसे दांत लगकर उनके दांत टूट जाते हैं । क्षुधा, तृषा और अन्यान्य प्रबल उपद्रवोंसे वे पीड़ित होते हैं । हिमखण्डोंके प्रवाहवाली वायु उनकी हड्डियोंको तोड़ डालती है । उससे जो मज्जा और रक्त शरीरसे बाहर होता है, उसीको वे क्षुधातुर होकर खाते, परस्पर मिलकर भूमिको चाटते हुए भटका करते हैं ॥८-१३॥ हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! जब तक भली-भाँति पापोंका क्षय नहीं होता, तब तक मनुष्य उस तम नामक नरकमें महाक्लेश भोगते हैं । तम नरकके बाद निकृन्तन नामक एक विख्यात और प्रधान नरक है । हे पिताजी ! वहां बहुतसे कुम्हारोंके चक्र निरन्तर घूमते रहते हैं । मानवोंको उन चक्रोंपर चढ़ाकर यमकिङ्करगण हाथमें लिये हुए काल सूत्रसे उन्हें सिरसे लेकर पैरतक चीरा करते हैं । किन्तु हे द्विजवर ! इससे वे मरते नहीं; उनके शरीरके टुकड़े टुकड़े होनेपर भी वे सब

फिर जुट जाते हैं। जब तक पापियोंका पाप पूरा न कट जाय, तब तक अर्थात् सहस्रों वर्षों तक इस नरकमें इसी प्रकार चीरे जाते हैं और वहाँ वे नरकवासी असह्य वेदनाओंका अनुभव करते हैं। अब मुझसे अप्रतिष्ठ नामक नरकका वर्णन सुनिये। इस नरकमें भी पूर्वकथित नरकके अनुसार बहुतसे चक्र और अन्यान्य घटीयन्त्र (रहट) पाप कर्म करनेवाले मनुष्योंको दुःख देनेके हेतु बने हुए हैं। कोई कोई पापी उन चक्रों पर बैठाकर घुमाये जाते हैं। इस दशामें उन्हें कमसे कम सहस्रवर्षों तक रहना पड़ता है। कोई पापी छोटे घड़ोंकी तरह घटीयन्त्रोंमें बाँधकर घुमाये जाते हैं, जिससे वे बार बार रक्त वमन किया करते हैं। प्राणिगण वहाँ मुखसे उगली जानेवाली रक्त धारा और आँखोंसे बहनेवाली रक्तधारासे अत्यन्त पीड़ित होकर असह्य दुःखोंका अनुभव करते हैं ॥ १४-२३ ॥ तदनन्तर असिपत्र नामक नरक है। उसका वर्णन करता हूं, आप सुनिये। यह नरक धधकती हुई अग्निके द्वारा पृथ्वीके सहस्र योजनोंको घेरे हुए है। नरकवासी प्राणी भयङ्कर प्रचण्ड सूर्य किरणोंसे प्रतप्त होकर इस नरकमें गिरते हैं। इस नरकमें एक मनोहर वन होता है। देखने पर उस वनके सब पत्ते स्निग्ध जान पड़ते हैं, किन्तु हे द्विजवर! उन सब पत्रोंके कोने तलवारकी धार जैसे पैने होते हैं। वहां व्याघ्रके समान मुख और तीखी दाढ़ोंवाले भयंकर कुत्ते जोर जोरसे भूका करते हैं। तब क्षुधा तृषासे व्याकुल प्राणी उस वनकी स्निग्ध छाया देखकर (विश्रामके हेतु) उसमें प्रवेश करते हैं। तब वहाँकी अग्निमयी भूमिमें उनके पैर जलने लगते और "हा पिता, हा माता!" कह कर क्रन्दन करने लगते हैं ॥ २४-२६ ॥ उस वनमें गमन करने पर असिपत्रोंको गिरानेवाली वायु बहती है और उससे उन पापियोंपर असंख्य तलवारें आ गिरती हैं। इसके अनन्तर ज्वलन्त अग्निराशि उनको घेर लेती है और वे पृथ्वीको चाटते हुए गिर पड़ते हैं। तब अत्यन्त भीषण कुत्ते, जो वहां होते हैं, उनके शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्गको छिन्न-विच्छिन्न करते हैं। तब तो वे बड़े ही जोरसे रोने चिल्लाने लगते हैं। हे तात! यह असिपत्र वनका विषय मैंने आपको सुनाया। अब उससे भी भयङ्कर तप्तकुम्भका वर्णन मैं करता हूं, उसे श्रवण कीजिये। इस नरकके चारों ओरसे आगकी लपटें निकला करती हैं। वहाँ अग्निके समान जलते हुए तेल और लोह चूर्णसे भरे हुए बड़े बड़े घड़े रक्खे रहते हैं। यमदूतगण दुराचारी मनुष्योंको उलटे कर उन घड़ोंमें भर देते हैं। फिर उनके अङ्गोंको तोड़कर और मज्जाको गलाकर काढ़ा पकाते हैं। उनके कपाल, नेत्र और अस्थिसमूह खण्ड खण्ड छिन्न भिन्न हो जाते और भयंकर वेगवान् गीध उन्हें उठा उठाकर फिर उन्हीं घड़ोंमें छोड़ देते हैं। फिर उनके मस्तक, गात्र, स्नायु, मांस, त्वचा, अस्थि आदि 'छन् छन्' शब्द करते हुए द्रवीभूत होकर (तप्त) तैलमें एक रस हो जाते हैं। इसके पश्चात् यमदूत गण उन पापात्माओंको करछुलसे

घोंटते और तपे तैलसे भरे बड़े कड़ाहमें डालकर मथ डालते हैं। हे पिताजी ! इस प्रकार तप्तकुम्भ आदि नरकोंका विस्तृत वर्णन आपको सुना दिया है ॥ ३०-३६ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेयमहापुराणका महारौरवादि नरकाख्यान नामक द्वादश अध्याय समाप्त हुआ।

त्रयोदश अध्याय।

पुत्रने कहाः—हे तात ! इस जन्मसे पहिलेके सातवें जन्ममें मैं वैश्य कुलमें जन्मा था। उस जन्ममें मैंने निपान (कुएंके निकटके जलाशय) में (पानी पीनेके लिये आयी हुई) गौओंको जानेसे रोका था और उस पाप कर्मके विपाक (फल) स्वरूप मैं भयंकर दारुण नरकमें गिराया गया था। जिस नरकमें मैं गिराया गया थां, वह चारों ओरसे अग्निकी ज्वालाओंसे व्याप्त था और लोहेकी चोंचवाले पक्षियोंसे भरा था। यन्त्रोंमें पेरे जानेवाले प्राणियोंके शरीरोंसे बहे हुए रक्तका वहां कीचड़ हो रहा था और उसमें डाले गये दुराचारियोंके आर्तनादसे वह गूंज रहा था, मैंने वहां कड़ी धूपकी पीड़ासे उत्तप्त और प्यासकी दाहसे व्याकुल होकर सौ वर्षोंसे कुछ अधिक ही वर्ष काटे थे ॥ १-४ ॥ हठात् एक दिन करम्भ (जलती हुई) बालूके घड़ोंसे आह्लादकारक, सुखशीतल वायुका झखोरा आया। उस वायुके सम्पर्कसे मेरी और अन्यान्य नरकवासियोंकी यन्त्रणायें मिट गयीं। सभीको अनुभव होने लगा कि, हमने स्वर्गवासियोंकी तरह नरकसे निवृत्ति पायी है। हम यह कहते हुए कि, "एका एक यह क्या हुआ ?" आंखें लगाकर और आह्लादसे स्तिमित होकर इधर उधर देखने लगे, तो एक श्रेष्ठ नर रत्न पास ही खड़ा हुआ देख पड़ा और देखा कि, वज्रके समान दण्डा हाथमें लिये एक भयङ्कर यमदूत "इधरसे आइये" कहता हुआ उसे मार्ग दिखा रहा है। उस पुरुषने नरकमें सैंकड़ों यन्त्रणाओंको भोगते हुए जीवोंको देखकर दयासे पूर्ण हो यमदूतसे पूछा,—हे यमङ्किकर ! शीघ्र कहो, मैंने कौनसा पाप किया है, जिस पापसे इस भयङ्कर यातनामय नरकमें ले आया गया हूं ? ॥ ५-१० ॥ देखो मैं राजा जनकके कुलमें उत्पन्न होकर विदेहनगरीके शासन सम्बन्धमें उत्तम प्रजा पालक तथा पण्डित रूपसे विख्यात था। मैंने अनेक यज्ञ किये और धर्मानुसार पृथ्वीका पालन किया। कभी रणमें पीठ नहीं दिखाई और मुझसे कभी कोई अथिति विमुख होकर नहीं गया। मैंने पितृ, देवता, ऋषि और सेवकोंका कभी निरादर नहीं किया। परस्त्री और परधनमें कभी मेरी स्पृहा नहीं रही। गौएँ जिस प्रकार पोसरेपर जाती हैं, उसी प्रकार पर्वकालमें पितृगण और तिथिकालमें देवतागण मेरे पाससे विमुख

होकर लौट जाते हैं, उसके इष्ट धर्म और पूर्त धर्म (जो श्रौतधर्म) दोनों नष्ट हो जाते हैं। पितृगणके निश्वाससे सात जन्मोंका और देवगणके निश्वाससे तीन जन्मोंका सञ्चित पुण्य नाशको प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं। अतः मैं देवों और पितरोंके हितमें निरन्तर अत्यन्त तत्पर रहा करता था। फिर क्योंकर अत्यन्त दारुण इस नरकमें लाया गया हूं ॥ ११-१७ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणका पिता पुत्रसे वादात्मक त्रयोदश अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्दश अध्याय।

पुत्रने कहा,—हम उस समय (उनकी बातचीत) सुन रहे थे। उस महात्माके इस प्रकार प्रश्न करने पर यमदूतने अति भयंकर होनेपर भी नम्रभावसे उत्तर दिया,—हे महाराज ! आप कहते हैं, वह यथार्थ है। इसमें सन्देह नहीं, किन्तु आपने जो एक छोटा सा पाप किया है, उसका स्मरण दिला देता हूं। विदर्भ देशकी पीवरी नामक आपकी रानी थी, ऋतुमती होनेपर एक बार आपने उसके ऋतुको विफल कर दिया था। क्योंकि उस समय आप कैकय देशकी सुशोभना नामक रानी पर बहुत रीझे हुए थे। अग्नि जिस प्रकार होमके समय घृताहुतिकी अपेक्षा करता हैं, उसी प्रकार ऋतुकालमें प्रजापति भी बीजपातकी अपेक्षा करता है। ऋतुकालके व्यतिक्रम करनेसे ही आप इस घोर नरकमें लाये गये हैं। जो पुरुष ऋतुकालका व्यतिक्रम कर अन्यत्र कामासक्त होता है, वह पितरोंके ऋणके कारण पाप पङ्कमें निमग्न होकर नरकमें गिरता है। हे पृथ्वीनाथ ! आपने केवल यही पाप किया है, और कोई आपका पाप नहीं है। अतः अब आइये और अपने समस्त पुण्यफलोंको भोगनेके लिये चलिये ॥ १—७ ॥ राजाने कहा,—हे देवानुचर ! तुम मुझे जहां ले जाओगे, वहीं मैं चलूँगा, किन्तु मैं जो पूछता हूँ, उसका ठीक ठीक उत्तर दो। यहां ये सब वज्रके समान चोंचवाले कौवे प्राणियोंकी आंखें निकाल लेते हैं और इनकी आंखें पुनः उत्पन्न हो जाती हैं। कहो, ऐसा इन्होंने कौनसा निन्दनीय कर्म किया है ? देखो, इनकी जिह्वा उपाड़ लेने पर भी फिर नयी जिह्वा आ जाती है। ये अति दुःखी लोग करपत्रों (आरों) से चीरे जाकर क्योंकर जलती हुई बालू तथा खौलते हुए तेलमें गिराये जाते हैं ? लोहेकी चोंचवाले पक्षी इन्हें पकड़ कर खींचते हैं और ये देहके जोड़ टूटनेसे पीडित होकर घोर चीत्कार करते हैं। पक्षियोंके लोहमय तुण्डाघातसे इनके सब अङ्ग क्षत विक्षत हो रहे हैं और ये दारुण यन्त्रणा भोग रहे हैं। इन्होंने ऐसा कौनसा

अनिष्ट कार्य किया है, जिससे ये इस प्रकार सताये जाते हैं? उपरि कथित और ऐसी ही नाना प्रकारकी यातनाएँ पापी लोगोंको भोगते हुए जो देखा जाता है, यह उनके किन कर्मों का फल है, वह मुझसे आद्योपान्त कहो ॥ ८—१४ ॥ यमदूत बोला,—हे भूपाल! पापकर्मों के फलोदयके सम्बन्धमें आपने जो जिज्ञासाकी, उसका संक्षेपमें मैं उत्तर देता हूँ। मनुष्य अपने पुण्य पापोंका यथाक्रम उपभोग करते हैं और भोग कर लेनेपर पुण्य अथवा पाप नष्ट हो जाते हैं। पुण्य वा पापका भोग हुए विना मानवोंके शुद्धि विधानमें कोई कर्म समर्थ नहीं हो सकता। पाप पुण्यका क्षय उनके भोगसे ही होता है। कर्मबन्धनमें फंसकर ही प्राणियोंकी नाना प्रकारकी गति होती है। जो पापात्मा हैं, वे ही दरिद्री होकर दुर्भिक्षके बाद दुर्भिक्ष, क्लेशके बाद क्लेश, भयके बाद भय और मृत्युके बाद मृत्युके दुःखों को भोगा करते हैं। जो श्रद्धावान्, शान्तचित्त, दानी और शुभकर्म करनेवाले हैं, वे उत्सवके बाद उत्सव, स्वर्गके बाद स्वर्ग और सुखके बाद सुखका लाभ करते हैं ॥१५—२०॥ पापीगण पापके प्रभावसे मारे जाकर जहां सांप, चोर और मस्त हाथी आदिका भय है, वहां गमन करते हैं। इसके सिवा उनकी और क्या गति हो सकती है? पुण्यात्मा अपने पुण्यके प्रभावसे सुगन्धि माला, अच्छे वस्त्र, उत्तम यान, उच्च आसन, मधुर भोजन आदिको प्राप्त कर (देवताओंसे) प्रशंसित होते हुए नन्दन काननमें विहार करते हैं। इस प्रकार सैकड़ों, सहस्रों जन्मोंमें प्राणिगण जो अनेक पाप-पुण्योंको बटोरते हैं, हे भूपाल! वे ही उनके सुख-दुःखोंके अंकुर स्वरूप हो जाते हैं। राजन्! बीज जिस प्रकार जलकी अपेक्षा करते हैं, उसी प्रकार पुण्य-पाप भी काल, देश और पात्रकी अपेक्षा करते हैं। यदि मनुष्य देशकालानुसार स्वल्पमात्र पाप करे, तो पैरमें कांटा चुभने जैसा उसे स्वल्प ही दुःख होता है। यदि वह प्रचुर पापाचरण करे, तो शूल, कीलकादि चुभनेवाले शिरो-रोग जैसे रोगोंके दारुण दुःखोंका उसे अनुभव करना पड़ता है ॥ २१—२६ ॥ फलोत्पत्तिके समय सब पाप परस्परकी अपेक्षा करते हैं। इसीसे अपथ्य भोजन, शीत, उष्ण, श्रम, ताप आदि भोगना पड़ता है। महापापोंका आचरण करनेसे ही राजरोगोंके विकार, शस्त्र अथवा अग्निजनित महापीडा और बन्धनादि होते हैं। थोड़ा ही पुण्य करनेसे मधुर गन्ध, सुखमय स्पर्श, मनोहर शब्द, सुमिष्ट रस और सुन्दर रूप थोड़े ही समयके लिये प्राप्त होता है। अत्यन्त पुण्य करनेसे इन्हीं सब बातोंका प्रचुर परिमाणमें लाभ होता है ॥ २७—३० ॥ जाति और देश आदि द्वारा अवरुद्ध ज्ञान तथा अज्ञानका फल आत्मापर अङ्कित (संस्कार रूपसे) हो जाता है। इसीसे प्राणी अनेक संसार जनित पाप पुण्योंके दुःख सुखमय सब फल यहीं (अर्थात् नरक स्वर्गादि भोग लोकोंमें) भोग करते हैं। प्राणी किसी समय, किसी स्थानमें काया, मन और वाणीके द्वारा किसी पुण्य या पापका अनु-

ष्ठान न करके भी जो (पूर्व संस्कार रूपी कारणके बीजके अनुसार) सुख वा दुःख पाते हैं वह चाहे थोडा हो या अधिक, उससे मनमें विकार उत्पन्न होता है। वह विकार पुण्य-मय हो या पापमय, दोनोंका खाये हुए पदार्थोंकी तरह, भोग किये विना क्षय नहीं होता ॥ ३१—३५ ॥ हे राजन्! इस प्रकार ये नरकमें पड़े हुए मनुष्य अहर्निश यातना द्वारा घोर महापापोंका क्षय कर रहे हैं और स्वर्गस्थ मनुष्य देवताओंके साथ सिद्ध, गन्धर्व तथा अप्सरा आदिके गीत सुनते हुए अपने पुण्योंका उपभोग कर रहे हैं। देवत्व, मनुष्यत्व, अथवा तिर्यक योनिमें भी पुण्य पापसे उत्पन्न सुख दुःखात्मक शुभाशुभ कर्मोंका फल प्राणी भोगते हैं। राजन्! आप जो पूछते हैं कि, पापी लोग किन किन पापोंसे ऐसी यातना भोगते हैं, वही सब अब भली भांति निवेदन करता हूँ। जो नराधम बुरी दृष्टिसे पराई स्त्रीको निहारते अथवा दुष्ट चित्तसे पराया धन पानेकी इच्छा रखते हैं, उन्हींके नेत्र ये वज्रतुण्ड पक्षी निकाल लेते और पुनः वह उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३६—४१ ॥ राजन्! इन्होंने जितने निमेष तक पर-स्त्री और पर-धन पर कुदृष्टि डालनेका पाप किया है, उतने सहस्र वर्षों तक ऐसी ही नेत्र पीड़ाका ये अनुभव करते रहेंगे। जिन्होंने शत्रुको भी उसकी ज्ञान-दृष्टि नष्ट होनेके विचारसे अन्याय रूपसे शास्त्रोपदेश या असत् परामर्श दिया है, जिन्होंने शास्त्रोंकी विपरीत व्याख्या की है, जिन्होंने झूठी कथाएँ कही हैं, और जिन्होंने वेद, देवता, ब्राह्मण और गुरुजनकी निन्दा की है, हे राजन्! उन्हींकी पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाली जिह्वाओंको ये भयानक वज्रतुण्ड पक्षी कतर डालते हैं। इन्होंने जितनी बार यह पाप किया होगा, उतने ही वर्षों तक ये वज्रतुण्ड पक्षी इन्हें ऐसी यन्त्रणा देते रहेंगे। जिन नराधमोंने मित्रभेद पिता पुत्र भेद अथवा स्वजन भेद किया है; अर्थात् इनमें परस्पर वैमनस्य उत्पन्न किया है अथवा यजमान और उपाध्याय, माता और पुत्र, पति और पत्नी किंवा सहचरोंका विच्छेद कराया है, हे पृथ्वीनाथ! देखिये; वेही आरोंसे चीरकर उपाड़े जा रहे हैं। जो दूसरोंको सन्तप्त करते हैं, दूसरोंके आनन्दमें विघ्न करते हैं, ताड़का पंखा, चन्दन और उशीर (खस) हरण करते हैं और साधुजनको प्राणान्तिक ताप देते हैं, हे नृपाल! वेही पापभागी अधम इस उत्तप्त वालूके ढेरमें पड़े हुए अपने पापोंका फल भोग रहे हैं ॥ ४२-४६ ॥ हे भूपाल! जो मनुष्य देव अथवा पितृकार्यमें एककी ओरसे निमन्त्रित होकर दूसरोंके यहां श्राद्ध भोजन करते हैं वेही इन पक्षियों द्वारा दोनों ओरसे नोचे-खसोटे जाते हैं। जिन्होंने दुर्वचनोंसे सत्पुरुषोंका मर्मभेद किया है, उन्हें ही बेरोक टोक ये पक्षी व्यथित करते हैं। जो मनमें एक और वचनमें कुछ औरही रखकर बात बनाकर दूसरेकी चुगली करते हैं, उनकी जीभ इस तीक्ष्ण छुरेसे दो टूक करदी जाती है। हे राजन्! जो उन्मत्त होकर माता, पिता अथवा गुरुजनकी अवज्ञा करते हैं, वे इस पीप, विष्टा और

मूत्रसे भरे हुए गढ़ेमें अधोमुख होकर निमग्न होते हैं ॥ ५०—५३ ॥ जो दुष्टात्मा, देवता, अतिथि, सेवक, अभ्यागत, पितृगण, अग्निगण और पक्षियोंको भूखा रखकर स्वयं भोजन कर लेते हैं, वेही सूचीमुख होकर इनकी तरह पर्वत तुल्य शरीर धारणकर पीप ओर गोंदका भोजन करते हैं ॥ ५४-५५ ॥ जो ब्राह्मणों और दूसरी जातियोंके लोगोंको एक पंक्ति में बैठाकर, विषम भोजन कराते अर्थात एकको एक वस्तु और दूसरे को दूसरी वस्तु परोसते हैं, वे इनकी तरह विष्टा खाया करते हैं। हे राजन्! जो व्यापारके लिये एक साथ चलकर अपने धनहीन और वित्तेच्छु साथी को विना खिलाये स्वयं अन्न ग्रहण करते हैं, उन्हें कफका भोजन करना पड़ता है। हे नरेश्वर! जूठे हाथों से जो गौ ब्राह्मण और अग्निको स्पर्श करते हैं, उनके हाथ इन आगके घड़ोंमें जला करते हैं। जूठे मुंह जान बूझ कर जो सूर्य, चन्द्र या तारकाओंका अवलोकन करते हैं, यमदूतगण उनके नेत्रोंको आगमें डाल कर पवित्र करते हैं। जो गौ, अग्नि, मा, ब्राह्मण, बड़े भाई, पिता, बहिन, कुल स्त्री, गुरु अथवा वृद्ध विप्रको लात से छूते हैं, यमदूतों द्वारा आगमें तपायी हुई लोहेकी बेड़ियाँ उनके पैरोंमें डाली जाती हैं, वे अंगारोंमें झोंक दिये जाते और जानुपर्यंत आगमें जला करते हैं ॥ ५६-६१ ॥ जो पापी खीर, खिचड़ी, छाग या और कोई देवान्न विना संस्कार किये खाते हैं, देखिये, उन पापियोंके नेत्र यहां पृथ्वीपर उखाड़ कर छींटे हुए हैं और डसनेवाले यमदूत उन्हें मुखोंसे खींच रहे हैं। जो नराधम गुरु, देवता, द्विज और वेदोंकी निन्दा सुन कर प्रसन्न होते हैं, उन विलाप करनेवाले पापियोंके कानोंमें यमदूत गण आगमें लाल किये हुए लोहेकी कीलें बार बार ठोक देते हैं ॥ ६२-६५ ॥ हे भूपाल! इधर देखिये, जो क्रोध अथवा लोभके वशीभूत होकर सुन्दर प्याऊ (पोसरा), देवमूर्ति, देवमन्दिर, ब्राह्मणके घर अथवा सभा-मण्डपको ढाह दिये हैं, उन पापात्माओंकी खाल दारुण यमदूतगण तीखे छुरोंसे खींच रहे हैं और पापी बिलख रहे हैं। जो गौ, ब्राह्मणोंके मार्गमें और सूर्याभिमुख होकर मलमूत्र त्याग करते हैं, उन पापियोंकी आंतें गुदाके मार्गसे कौवे खींचते हैं। जो व्यक्ति एकको कन्या दान कर फिर किसी दूसरेको उसी कन्याका दान करते हैं, वे टुकड़े टुकड़े करके इस तरह क्षारकी नदीमें बहा दिये जाते हैं। दुर्भिक्ष अथवा अन्य किसी विपत्तिके समयमें जो क्रोध वश होकर अकिञ्चन पुत्र, सेवक, स्त्री और बन्धुवर्गको त्याग देते हैं, यमदूतगण उनका मांस काट काट कर उन्हींको देते और वे भूखसे पीड़ित होकर उसीको खाते हैं ॥ ६६-७१ ॥ जो लोभके वशीभूत होकर वैतनिक सेवकों अथवा शरणागतोंको त्याग देते हैं, उन्हें यमदूत इस तरह यन्त्रमें डाल कर निचोड़ते हैं। जो अपने सम्पूर्ण-जीवनमें किये हुए पुण्यको दूसरेके हाथ बेच डालते हैं, वे पापी सिलपर रखकर इस

प्रकारसे पीसे जाते हैं। जो दूसरोंकी धरोहर हड़प लेते हैं, उनका सब शरीर बन्धनसे बांधा जाकर कृमि, विच्छू, कौवे और उल्लुओं द्वारा अहर्निश भक्षित होते हैं। जो पापी दिनमें स्त्री संभोग या पराई स्त्रीका उपभोग करते हैं, वे क्षुधासे व्याकुल होते हैं और प्याससे जिह्वा सूख कर तालूसे चिपक जानेके कारण बड़े कष्ट पाते हैं। हे पुरुषव्याघ्र! परस्त्रीगामी पापियोंको देखो, बड़े बड़े लोहेके कांटेसे युक्त शाल्मली (सेमर) वृक्षमें लटका कर उनके अंग अंग काटे जा रहे हैं। जिनसे रक्तस्राव होनेसे वे व्याकुल हो रहे हैं। परस्त्रीगमन करनेवालोंकी और भी कैसी दुर्दशा हो रही है, वह देखिये। यमदूत उन्हें मूस (धातुको ढालनेके साँचे) में उतार कर नष्ट कर रहे हैं। जो अध्यापकको नीचे बैठाकर और निरुत्तर करके अध्ययन करते या शिल्प सीखते हैं। उनके सिरपर भारी शिला रखकर उन्हें रास्तेसे घुमाया जाता है। भारी शिलाके भारसे सिर पिराने लगता है। दिनरात बोझा ढोनेसे बड़ा क्लेश होता है। ऐसी अवस्थामें कुछ खानेको भी नहीं मिलता। इससे वह पापी बड़ा दुबला हो जाता है। जिन्होंने जलमें मूत्र, विष्ठा या कफ उत्सर्ग किया हो, वे मूत्र, विष्ठा और कफसे भरे या ऐसे ही दूसरे दुर्गन्धिमय नरकमें जाते हैं। राजन्! देखो, इधर जो पापी क्षुधासे कातर होकर एक दूसरेका मांस नोच खा रहे हैं, उन्होंने परस्परके यहां आतिथ्यकी विधिसे पूर्व जन्ममें भोजन नहीं किया है। जिन अग्निहोत्री पुरुषोंने वेद और अग्निका अनादर किया है, वे पर्वतकी ऊँची ऊँची चोटियोंसे बार बार गिराये जा रहे हैं ॥ ७२-८२ ॥ जो पुनर्विवाहिता (विधवा विवाहिता) स्त्रीके पति होकर सारा जीवन बिताते हैं, वे कृमि होकर चिऊँटियों द्वारा भक्षित होते हैं। जो पतित व्यक्तियोंका दान लेते हैं, उनके कर्मकाण्डोक्त कर्म कराते या उनकी खुशामद करते हैं, वे पत्थरके कीड़ोंके रूपमें परिणत होते हैं। जो अतिथि, सेवक और भाइयोंको देखकर उनकी उपेक्षा करते और स्वयं मिष्ठान्न भोजन करते हैं, उन्हें जलते हुए अंगारोंको भक्षण करना पड़ता है। हे नरनाथ! जिन्होंने जीवोंकी पीठका मांस भक्षण किया है, उनकी पीठका मांस भयंकर भेड़िये खा रहे हैं। हे राजन्! इन नराधमोंने उपकारियोंके प्रति कभी कृतज्ञता प्रकट नहीं की, इससे ये अन्धे, बहिरे, गूंगे और क्षुधासे कातर होकर भटक रहे हैं। ये दुष्टात्मा कृतघ्न हैं और बान्धवोंका अपकार किये हुए हैं; इससे तप्त कुम्भमें डाले जा रहे हैं। इसके बाद वे पीसे जाकर तपी हुई बालूमें भूने जायँगे, फिर यन्त्रोंमें डालकर पेरे जायंगे। फिर असिपत्र वनमें तलवारोंसे कटेंगे और आरेसे चीर कर उपाड़े जायंगे। अनन्तर काकसूत्रसे छेदे जायंगे और इस तरहकी अन्य यातनाएँ भोगेंगे। हे राजन्! इन यातनाओंसे इन्हें कब छुट्टी मिलेगी, यह मैं कह नहीं सकता ॥ ८३-९० ॥ इन दुष्ट ब्राह्मणने परस्पर गुट बांधकर श्राद्ध भोजन किया है

अर्थात् इससे इनके सब अंगोंसे फेन निकल रहा है और उसीको ये पी रहे हैं। राजन्! इन्होंने सोना चुराया है, इन्होंने ब्रह्महत्या की है और इन्होंने गुरुपत्नीका अपहरण किया है; इससे ये नीचे, ऊपर और चारों ओर जलती हुई आगमें सहस्र सहस्र वर्षोंसे जल रहे हैं। अब ये कुष्ठ और क्षयादि रोगोंसे युक्त मानवशरीर धारण करेंगे और मरने पर नरकमें डाले जायंगे। इसी तरह ये बार बार जन्म ग्रहण कर कल्पान्त तक नरकभोग और व्याधियोंको भोगते रहेंगे। गो-हत्या अथवा अन्य उपपातक करनेवालोंको तीन जन्मों तक क्रमशः नीचेके नरकोंके दुःखोंको भोगना पड़ता है। हे महाराज! नरकमें पड़े हुए जीव किन किन पापोंसे किस किस योनिमें जन्म ग्रहण करते हैं, वह अब मैं निवेदन करता हूं, सुनिये ॥ ९१-९६ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणका पिता पुत्र संवादात्मक जडोपाख्यान नामक चतुर्दश अध्याय समाप्त हुआ।

पञ्चदश अध्याय।

यमदूतने कहा,—पतित व्यक्तिका दान लेनेवाला ब्राह्मण गधा होता है। पतितके यहां यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण नरकमें जाता है और नरकसे छूटकर कृमिके रूपमें जन्मता है। उपाध्याय (गुरु) से छल करने अथवा उसकी स्त्री किंवा अन्य किसी वस्तुकी मनमें अभिलाषा करनेसे कुत्तेका जन्म मिलता है। माता पिताका अपमान करनेसे गदहा और उन्हें गाली देनेसे मनुष्य मैना होता है। भावजका अपमान करनेवाला कबूतर होता है। भावजको पीड़ा देनेवाला कछुवा होता है। जो स्वामीका अन्न खाकर उसकी भलाई की चेष्टा नहीं करता, वह मोहाच्छन्न होकर मरणके उपरान्त बन्दरका जन्म ग्रहण करता है। जो दूसरोंकी धरोहर डकार जाता है, वह नरक यन्त्रणा भोगनेके पश्चात् कृमि होता है और डाह रखनेवाला मनुष्य नरक भोगनेपर राक्षस योनिमें जन्म पाता है। विश्वासघाती मछली बनता है। जो धान्य अर्थात् यव, तिल, उर्द, कुलथी, सरसों,

---

टीकाः—पूज्यपाद महर्षियोंने शारीरिक, वाचनिक और मानसिक कर्मके अनुसार धर्म और अधर्मका निर्णय किया है। सत्वगुण वर्द्धक कर्मसे धर्म और तमोगुणवर्द्धक कर्मसे अधर्म होता है। ऊपर जो पापसमूहका वर्णन है, वह सब स्मृतिके अनुसार अधर्म है। उन सब पापोंका जो फलरूपी कर्म-विपाक वर्णन किया है, वह सब उक्त पापोंका पूर्ण मात्राका दण्ड है। भावके तारतम्यसे दण्डमें न्यूना-धिकता भी हुआ करती है ॥ ९१-९६ ॥

चना, कैता, मूंजी, मूंग, गेहूं, अलसी अथवा अन्य कोई धान्य चुराता है, वह मोहके कारण अचेतन होकर नेवलेके समान लम्बे मुंहवाला चूहा होता है। परदारासे सम्भोग करनेवाला भयङ्कर भेड़िया होता है और फिर क्रमशः कुत्ता, सियार, बगुला, गीध, सांप और कंक पक्षीकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है। जो पापी दुष्टबुद्धिके कारण भौजाईसे भोग करता है, वह कोयल होता है ॥ १—१० ॥ जो पापी मित्रको पत्नी, गुरुपत्नो अथवा राजपत्नीसे संभोग करता है, वह पुरुष सुअर होता है। यज्ञ, दान अथवा विवाहमें विघ्न करने वालेको कृमि होना पड़ता है और एकवार दानकी हुई कन्याका जो फिर दूसरेको दान करता है, वह भी कृमि होता है (जो मनुष्य देवता, पितृगण और ब्राह्मणको खिलाये विना अन्न ग्रहण करता है, वह नरक यन्त्रणाओं को भोगने पर कौवा होता है। जो पिताके समान बड़े भाईका अपमान करता है वह नरकान्तमें क्रौञ्चपक्षी होता है। शूद्र यदि ब्राह्मणीगमन करे, तो कृमि होता है) और यदि उसके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करे, तो काठका कीड़ा, सूअर, कृमि, मद्गु (मलका कीड़ा) होता है अथवा चाण्डाल योनिमें जन्म पाता है। जो पुरुष अकृतज्ञ और कृतघ्न है वह नरकसे छुटकारा पानेपर कृमि, कीट, पतङ्ग, बिच्छू, मछली, कौवा, कछुआ अथवा डोम होता है ॥ ११—१७ ॥ निहत्थेका वध करनेवाला गदहा, स्त्री अथवा बालकको हत्या करने वाला कृमि और भोजन चुराने-वाला मक्खी होता है। भोजनके सम्बन्धमें जो विशेष बातें हैं, वे मैं कहता हूं, आप सुनिये। अन्न चुरानेसे नरक भोगनेके पश्चात् बिच्छी होना पड़ता है। तिल अथवा दाना मिला हुआ अन्न (चबेना) चुरानेसे चूहा होता है। घी चुरानेवाला नेवला और बकरेका मांस चुरानेवाला कौवा अथवा मलका कीड़ा होता है। मछलीका मांस चुरानेवाला कौवा और हरिणका मांस चुरानेवाला बाज होता है। नमक चुरानेवाला पनडुब्बी, दही चुरानेवाला कृमि, दूध चुरानेवाला बगुला, तैल चुरानेवाला नकतोड़ा, शहद चुरानेवाला बनमक्खी और आटा चुरानेवाला चिउंटी होता है ॥ १८-२३ ॥ हविष्यान्नको चुरानेवाला गोह, आसव (मद्य) चुरानेवाला तीतर, लोहा चुरानेवाला पापी कौवा, कांसा चुरानेवाला हरेवा, चांदी चुरानेवाला कबूतर, सोनेकी वस्तु चुरानेवाला कृमि, रेशमी वस्त्र चुरानेवाला चकवा, कोसा चुरानेवाला रेशमका कीड़ा, ऊनी अथवा बकरेके रोमसे बने हुए दुशाले या डुपट्टे को चुरानेवाला तोता, कपासका वस्त्र चुराने वाला क्रौञ्च पक्षी और बल्कल चुरानेवाला पापी बगुला होता है। जो उबटन (चंदन, चोवा आदि सुगन्धित द्रव्य) अथवा काजल आलता आदि चुराता है, वह मोर और लालवस्त्र चुराने वाला चकवा चकई होता है। सुन्दर गन्ध द्रव्य (इत्र आदि) चुरानेवाला छछून्दर, साधारण वस्त्र चुराने-वाला खरहा (खरगोश), फल चुरानेवाला घण्टपक्षी और लकड़ी चुरानेवाला घुणकीट

(कठफोड़ा) होता है । फूल चुरानेवाला दरिद्री और वाहन चुरानेवाला मनुष्य पँगु होता है । साग चुरानेवाला हारीत पक्षी, पानी चुरानेवाला चातक और भूमिहरण करने वाला घोर रौरवादि नरकोंमें जाकर तत्पश्चात् क्रमशः तृण, गुल्म, लता, वल्ली, छाल, वृक्ष आदि रूपोंमें जन्म ग्रहण करता है । इस प्रकार यथा क्रम थोड़ा पापक्षय होनेपर कृमि, कीट, पतङ्ग, जलचर, पक्षी, पशु आदि योनियोंसे होता हुआ वह मनुष्य योनिमें प्राप्त होकर भी पंगु, अन्धा, बहिरा, कोढ़ी, क्षयरोगी, मुखरोगी, नेत्ररोगी और गुह्यरोगी होकर दुःख पाता है और फिर डोम आदिकी निन्दनीय जातियोंमें जन्म ग्रहण करता है । तत्पश्चात् अपस्मार रोगसे व्याप्त होकर शूद्र होता है ॥ २४-३५ ॥ बैलको अथवा अन्य पशुओंको जो बधिया करता है, वह नपुंसक होता है । महाराज ! जो सोना अथवा गोरू चुराता है, (छलसे) विद्यापहरण करता है अथवा गुरुका धन मारता है, वह भी इसी प्रकारकी उग्र यन्त्रणाओंका भोग करता । जो मनुष्य एककी स्त्रीको लाकर दूसरेको देता है, वह नाना यन्त्रणाओंको पाकर अन्तमें नपुंसक होता है । जो अप्रज्वलित अग्निमें होम करता है, वह अजीर्ण राग पीड़ित होकर मन्दाग्नि रोगग्रस्त हो जाता है । परनिन्दा, कृतघ्नता, परमर्मच्छेदन, निष्ठुरता, निर्लज्जता, परदारसेवन, परधनापहरण, अपवित्रता, देवनिन्दा, ठगी, कृपणता, प्राणहिंसा और ऐसे ही अन्यान्य पाप जो करते हैं और उन्हीं पापोंमें निरन्तर संलग्न रहते हैं, जानना चाहिए कि, वे नरककी यन्त्रणाएँ भोग करके ही जन्मते हैं । सर्वभूतोंमें दया, मङ्गल सम्वादकथन, परलोक विश्वास, सत्यता, प्राणियोंके हितके लिये वाणीका उपयोग, वेद प्रामाण्य मानना, गुरु-देवता-ऋषि-सिद्धर्षि पूजा, साधु समागम, सत्कर्माभ्यास, मित्रता और अन्यान्य सत्कार्य, जो उत्तम धर्मके सम्बन्धमें कहे गये हैं, उनको सम्पादन करनेवाले जो मनुष्य देख पड़े, पण्डितोंको जानना चाहिये कि, वे निष्पाप पुरुष स्वर्गसे भ्रष्ट होकर जन्मे हैं ॥ ३६—४४ ॥ हे राजन् ! अपने अपने कर्मोंका फल भोगनेवाले पुण्यात्माओं और पापियोंका सब विषय मैंने इसी उद्देश्यसे कहा है । आपने वह सब अभी देख लिया है और आपको नरकका दर्शन भी हो गया है । अतः आइये चलिये अब अन्यत्र चलें ॥ ४५—४६ ॥ पुत्रने कहा,—तदनन्तर वह राजा यमदूतको आगे करके ज्योंहीं चला, त्योंही सभी नरक यन्त्रणाओंको भोगनेवाले मनुष्य पुक्का फाड़कर रो उठे और कहने लगे,—हे पृथ्वीनाथ ! आप हमपर प्रसन्न होइये और क्षणमात्र ठहर जाइये । आपके अङ्गसे स्पर्श करके आयी हुई पवन हमारे मनको अत्यन्त आह्लादित कर दे रही है । हे नरशार्दूल ! यह वायु हमारे अब अङ्गोंकी दाह और सब प्रकारकी पीड़ाओंको दूर कर रही है । इस कारण हे महीपते ! हमपर दया कीजिये । उन नारकियोंका यह आक्रोश सुनकर राजाने यमदूतसे पूछा,—यमदूत ! मेरे यहां ठहरनेसे इतना आह्लाद

क्यों हुआ? मृत्युलोकमें ऐसा कौनसा बड़ा पुण्यकार्य मैंने किया था, जिससे इनपर ऐसी आह्लाददायिनी वर्षा हो रही है? ॥ ४७—५१ ॥ यमदूत बोला, महाराज! पितृगण, देवता, अतिथि और सेवकोंको तृप्तकर जो अन्न बच गया, उससे आपका यह शरीर पोसा गया है और आपका चित्त सदा परमात्मामें रममाण था। इसीसे आपके शरीरकी आह्लाद-दायिनी वायुसे इन सब पापात्माओंकी यातनाएं मिट रही हैं। आपने अश्वमेध आदि यज्ञोंका यथाविधि अनुष्ठान किया हुआ होनेसे पीड़न, छेदन, दाह आदि सब महादुःखोंके हेतुभूत यमराजके यन्त्र, शस्त्र, अग्नि, कौवे आदि आपके दर्शन और तेजसे अभिभूत होनेके कारण ऐसी मृदुताको अवलम्बन कर रहे हैं। राजाने कहा,—मैं तो समझता हूं कि, मनुष्यको आर्त प्राणियोंकी रक्षा करनेसे जैसा सुख होता है, वैसा स्वर्ग या ब्रह्मलोकमें भी नहीं है। यदि मेरे ठहरनेसे इनकी सब यन्त्रणाएं मिटती हैं, तो हे भद्रमुख! खम्भेकी तरह अचल होकर मैं यहीं खड़ा रहूँगा ॥ ५२—५७ ॥ यमदूत बोला,—राजन्! आइये, चलें। अपने पुण्यपुञ्जसे प्राप्त उत्तम भोगोंको भोगिये। यह पापियोंके यन्त्रणाभोगका स्थान है। राजा बोला,—जब तक ये सब प्राणी दुःखी रहेंगे, तब तक मैं यहांसे नहीं डिगूंगा। क्योंकि ये सभी नरक निवासी मेरे यहां ठहरनेसे सुखी हो रहे हैं। शत्रु भी यदि आर्त और आतुर होकर शरणापन्न हो और उसपर यदि कोई व्यक्ति अनुग्रह न करे, तो उसे धिक्कार है। पीड़ित जीवोंकी रक्षा करनेमें जिसकी प्रवृत्ति न हो, उसका किया हुआ यज्ञ, दान, अथवा तप क्या इस लोक और क्या परलोकके सुखका कारण हो नहीं सकता। बालक, आतुर और वृद्ध आदिके प्रति जिसका हृदय कठोर है, मेरी समझमें वह मनुष्य नहीं, राक्षस है। इनके पास खड़े रहनेसे चाहे मुझे नारकीय अग्नितापजनित तीव्रदुर्गन्धिजनित अथवा क्षुत्पिपासाजनित चेतनाको हरण करनेवाला महादुःख ही क्यों न भोगना पड़े, किन्तु यह जानकर कि, इनकी मैंने रक्षा की है, उस महादुःखको मैं स्वर्ग-सुखसे भी बढ़कर समझूंगा। केवल मेरे दुःख पानेसे यदि बहुतसे दुःखी सुखी होते हैं, तो मैंने क्या नहीं लाभ किया? अर्थात् सब सुख मैंने पा लिये, ऐसा ही मैं समझूंगा। अतः हे यमसहचर! अब तुम विलम्ब न करो और चले जाओ ॥ ५८—६५ ॥ यमदूत बोला,—हे राजन्! ये धर्म और इन्द्र हैं। आपको साथ ले जानेके लिये उपस्थित हुए हैं। आपको उनके साथ अवश्य जाना होगा। अतः आइये। धर्मने कहा,—राजन्! आपने भली भांति मेरी उपासना की है। इस कारण आपको मैं स्वर्ग ले जाऊंगा। अब विलम्ब न करो और इस विमानमें चढ़कर स्वर्ग चलो। राजाने कहा,—हे धर्म! सहस्रों मनुष्य नरकमें पीड़ित हो रहे हैं, और हमारी रक्षा करो, ऐसा कहकर चिल्ला रहे हैं, अतः मैं इस स्थानसे हटकर स्वर्ग नहीं जाऊंगा ॥ ६६—६८ ॥ इन्द्र बोले,—अपने अपने कर्म-

फलोंके अनुसार ये सब पापी नरक यन्त्रणा भोग रहे हैं, अपने कर्मफलके अनुसार आपको स्वर्गमें गमन करना चाहिये। राजाने कहा,—हे धर्म, हे शचीपते इन्द्र! मैंने कितना पुण्य सञ्चय किया है, वह मैं जानना चाहता हूँ, यदि आप दोनों जानते हों, तो बता दीजिये। धर्मने कहा,—राजन्! समुद्रमें जितने जलविन्दु हैं, आकाशमें जितने तारे हैं, वृष्टिमें जितनी जलधाराएं हैं और गंगाजीके जितने वालुकण हैं, आपका उतना ही पुण्य है। महाराज! जिस प्रकार जलबिन्दु आदिकी संख्या गिनी नहीं जा सकती, उसी प्रकार आपका पुण्य भी संख्यासे परे हैं। आज तो इन नारकीयोंके प्रति दया दिखानेसे आपका पुण्य लाख गुना बढ़ गया है। अतः हे नृपश्रेष्ठ! उस पुण्य फलका भोग करनेके लिये अमरावतीमें चलिये और इन पापात्माओंको नरकमें रहकर अपने कर्मजनित पाप फलोंको भोगने दीजिये ॥ ६६—७४ ॥ राजाने कहा,—मेरे निकट रहते हुए यदि इन पापियोंका उद्धार न हुआ; तो मनुष्य मेरे सहवासकी इच्छा क्योंकर करने लगे? अतः सुरेश्वर! मेरा जो कुछ थोड़ा बहुत पुण्य हो, उसके बलसे ये पीडित पापात्मा नरकसे मुक्त हों। इन्द्र बोले,—हे महीपते! आपकी इस (सदिच्छा) से इस (स्वर्ग) से भी उन्नत (लोकोंमें) गति हुई है। देखिये, ये पापी नरकसे छूट गये हैं। पुत्रने कहा,—फिर उस राजा पर पुष्पवृष्टि होने लगी और इन्द्र उसे विमानमें चढ़ाकर स्वर्ग ले गये। इधर मैंने और अन्यान्य नरकनिवासियोंने यातनाओंसे मुक्त होकर अपने अपने कर्म फलानुसार

टीकाः—नरक लोक भूलोकका एक चतुर्थांश है। वहाँकी शृङ्खला और वहांका अनुशासन भगवान् धर्मराजके हाथमें है। उनकी राजधानी पितृलोकमें है। वही भूलोकका एक उत्तमाङ्ग है। भगवान् इन्द्रकी राजधानी अमरावती तृतीय ऊद्र्ध्वलोक अर्थात् स्वर्गलोकमें है। उन्नत स्वर्गसुख भोगनेवाले जीव अमरावतीमें जाते हैं। यह पुण्यवान् राजा अतिपुण्यशाली होनेके कारण और इस पुण्यशाली पुरुष द्वारा असाधारण घटना होनेके कारण इन दोनों पदधारियोंका वहां उपस्थित रहना आवश्यक था। पूर्व-कथित सब अध्यायोंमें, जितने परलोक और नरकका वर्णन है, स्थान स्थान पर परकीय भाषा होनेपर भी तत्वतः अधिकांश समाधि भाषा है। जितने पाप कर्मोंका उल्लेख है, वे सब धर्माधर्म निर्णयकारी समाधिबुद्धिप्रसूत स्मृति शास्त्र ही है। उन सब कर्मोंका फल अवश्य ही पाप होगा। अब देशकाल पात्रानुसार उन सब पापोंकी शक्तिमें अवश्य तारतम्य हो सकता है। संसारमें भी ऐसा देखा जाता है कि, एक ही पापका देशकाल और पात्र भेदसे और भाव भेदसे राजदण्ड और सामाजिक दण्डमें न्यूना-धिकता की जाती है। इस कारण जिज्ञासुओंको शंका करनेका अवसर नहीं है। नरक लोककी विचित्रताके विषयमें साधारण जिज्ञासुओंकी शंकाका और भी समाधान किया जाता है। आजकलके भूत (प्रेत) तत्ववेत्ताओंने यह प्रत्यक्ष कर दिखाया है कि, बेतालगण जब दण्डों या शस्त्रोंसे दुष्ट प्रेतोंको मारते हैं, तो उनके शरीरोंके अंग फट या कट जाते हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण वे जुट जाते हैं। इसका कारण यह है कि, हमारा शरीर पार्थिव होनेसे घावके आराम होनेमें विलंब लगता है, उनकेमें नहीं लगता। इसी कारण नरकके वर्णनमें है कि, कौए पापियोंकी आंखें निकाल निकाल कर खाते हैं और वे पुनः

भिन्न भिन्न योनियोंमें जन्म ग्रहण किया। हे द्विजश्रेष्ठ! यह सब नरक वृत्तान्त यथार्थ रूपसे मैंने कथन किया है। जिस जिस पापसे जिस जिस योनिमें जन्म लेना पड़ता है, वह सब मैंने पहिले देखा है और वही सब आपसे कहा है। जो जो मैंने आपसे कहा,

---

उत्पन्न हो जाती हैं, इत्यादि। आजकलकी प्रेत बुलानेकी नवीन विद्याके द्वारा पीठ स्थापन करके जो प्रेतोंका आवाहन किया जाता है, उसमें पीठको यदि पुण्यात्मा मनुष्य छुए, तो प्रेतगण आनन्द और शान्ति अनुभव करते हैं। उसी नियमके अनुसार यदि पुण्यात्मा पुरुष नरकमें पहुंचे तो नरकवासी जीवोंकी यन्त्रणाएं कम हो जाती हैं और उनको सुख और शान्ति मिलने लगती है, इसमें संदेह नहीं। पुराण शास्त्रोंमें जो प्रेतलोक, स्वर्गलोक और नरकलोकका वर्णन आया है, वह सब समाधि भाषा है और कर्म-विपाकका जो वर्णन है, वह भी समाधि भाषा है। इस कारण उन वर्णनोंमें कुछ सन्देहका अवसर नहीं है॥ ७५-८१॥

टीकाः—भयदायक नरकका वर्णन सुनकर जिज्ञासुओंको अनेक प्रकारकी शंकाएं हो सकती हैं। यथा—प्रेत लोक और नरक लोकका सम्बन्ध क्या है। नरकमें कौए, सिंह, व्याघ्र आदि जो पशु-पक्षियोंका वर्णन है, वे नरकमें कहांसे आ जाते हैं? नरकके रक्षक देवताओंका नरकसे कैसा सम्बन्ध है? दैवीजगत्का अस्तित्व वस्तुतः है या नहीं? इनका अनुमान अथवा अनुभव कैसे सम्भव है? ये लोक कहां है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान अवश्य होना उचित है। कर्म विपाकके पूर्वकथित वर्णन में यह सिद्ध हुआ है कि, विशेष विशेष पापसे नरक होता है, विशेष विशेष पापसे मनुष्य विकलाङ्ग होता है और विशेष विशेष पापसे पशुपक्षी आदि योनियोंको दण्ड स्वरूप प्राप्त करता है। अतः विशेष विशेष पापसे जब मनुष्य उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनियोंमें गिराया जा सकता है, तो यह भी सम्भव है कि, वे योनियाँ मृत्युलोककी, नरकलोककी और स्वर्गलोककी भी हो सकती है। पाप वैचित्र्यसे यह तीन प्रकारका भोग वैचित्र्य उनमें भी होता है। इसी तरह पापके भोग वैचित्र्यके अनुसार जीव प्रेत लोकमें पहुंच सकता है और नाना प्रकारके नरक लोकमें भी पहुंच सकता है। प्रेत लोकका भोग उतना तीव्र नहीं है, जितना नरक लोकका है। प्रेत लोकमें जो मनुष्य जाता है, उसका स्वरूप पूर्व जैसा ही होता है और वह पहिचानमें भी आता है। क्योंकि इस मृत्युलोकके गुरुतर आकर्षणसे ही प्रेततत्वकी प्राप्ति होती है और यहांके संस्कारके अनुसार ही उसका दुःख भोग वहां बना रहता है। इस कारण उसका दुःख अधिक वैचित्र्य पूर्ण नहीं होता और परिमित होता है। परन्तु नाना प्रकारके नरकोंका दुःख अति भयप्रद, अति वैचित्र्यपूर्ण और अति कठोर होता है; जिसका आभास ऊपर आया है। नरककी रक्षक जो देव योनियां होती हैं, वे नाना प्रकारके यमदूत होते हैं। जैसे मनुष्य लोकमें कारागारके रक्षक सिपाही बाहरसे लाये जाते हैं और कुछ रक्षक कारागार वासियोंसे बनाये जाते हैं, वैसे ही नरकके रक्षक देवता उसी श्रेणीके होते हैं कि, जिनका प्रारब्ध नरकके दर्शनके अनुकूल रहता हो। दैवी जगत्के अस्तित्वका विचार करना कुछ गुरुतर विषय है इसमें सन्देह नहीं और दैवी जगत् अवश्य है इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐसे गुरुतर विषयोंका विचार करनेसे पहिले प्रमाण और अनुभव दोनोंका स्वरूप समझने योग्य है। आप्त प्रमाणसे प्रत्यक्ष प्रमाणकी योग्यता अधिक है और प्रत्यक्ष प्रमाणसे अनुमान प्रमाणकी उपयोगिता अधिक है। ये तीनों बुद्धितत्त्वके विषय हैं। इससे ऊपर अनुभव है। जो अनुभव भावतत्वका विषय है। प्रमाणके मूलभूत बुद्धितत्त्वसे भावतत्त्व सूक्ष्म है, यह मानना ही पड़ेगा। क्योंकि अन्तःकरणका बुद्धितत्त्व क्रियाविशेषसे सम्बन्ध रखता है और भाव अन्तःकरणके अवस्था विशेषसे

वह मैंने पहिले अनुभव किया है और वह सत्य है। हे महाभाग! और मैं आपको क्या सुनाऊँ ॥ ७५--८१ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणका पितापुत्र संवादात्मक पञ्चदश अध्याय समाप्त हुआ।

सम्बन्ध रखता है। यही कारण है कि, मनुष्य बुद्धि द्वारा नाना प्रकारके कार्य कर सकता है, परन्तु भावके अनुसार ही उसका भोग वैचित्र्य होता है। आप्त प्रमाणके द्वारा दैवी जगत् सिद्ध ही है। क्योंकि सनातनधर्मके वेदसे लेकर सभी शास्त्र उसका प्रमाण देते हैं। यहां तक कि, पृथ्वीके सब अवैदिक धर्म-मार्ग भी अपने अपने शास्त्रोंसे प्रमाण देते हैं। वर्तमान समयमें सभ्य जगत्की पदार्थ विद्या जब प्रेत-लोककी सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बता रही है, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, दैवी जगत् प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी सिद्ध होता है। अनुमानसे सिद्ध करनेके लिये जन्मान्तरवाद, संस्कारवाद और कर्मवाद इन तीनोंके परिशीलन द्वारा और कर्ममीमांसा और दैवीमीमांसा आदि शास्त्रोंके परिशीलन द्वारा अवश्य ही दैवी जगत्का अस्तित्व अनुमान सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं। दूसरी ओर दैवीजगत्का अनुभव यथा-सम्भव करनेके लिये इस समयमें उपलब्ध तडिद्विज्ञानके कुछ उदाहरण सम्मुख रखने योग्य हैं। एक तारकी सहायतासे अलक्षित तडिद्गति एक स्थानसे कोसों तक जाकर ज्योति, नाना शब्द, नाना क्रियाएं और एक स्थानका रूप दूसरे स्थानमें प्रकट कर देती है। बिना तार आदिके अवलम्बनसे भी केवल एक दूर देशके प्रेरकयन्त्र और दूसरे दूर देशके ग्राहकयन्त्रकी केवल सहायतासे और केवल सर्वव्यापक आकाशके अवलम्बनसे एक स्थानका शब्द दूसरे स्थानमें और एक स्थानका रूप बहुदूरके दूसरे स्थानमें प्रकट हो जाता है, ऐसा पदार्थविद्याकी सहायतासे प्रतिदिन देखनेमें आता है। ऐसी दशामें मानना ही पड़ेगा कि जिस आकाशको हम शून्य समझते हैं, वह शून्य नहीं है, नाना प्रकारकी इन्द्रियातीत सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्तियों, पदार्थों और अवस्थाओंसे पूर्ण है। जैसे ये सब पदार्थ आकाशमें हमारे चारों ओर रहने पर भी हम उनका अनुभव नहीं करते, वैसा दैवी लोकोंका सम्बन्ध साधारणतः हम अनुभव नहीं कर सकते। इस विषयको और दार्शनिक युक्तिसे भी समझाया जा सकता है। हमारा शरीर और हमारी बहिरिन्द्रियां पृथ्वीतत्त्व प्रधान हैं, जो पृथ्वीतत्त्व—शरीर—मृत्युके अनन्तर यहीं पड़ा रहता है। और स्वर्गलोक, देव-लोक, प्रेतलोक या नरकलोक अन्य तत्त्व प्रधान हैं। इस कारण हम पार्थिव इन्द्रियों द्वारा उन लोकों या उन लोकोंके निवासी जीवोंको प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। दैवी लोकोंका स्थान निर्णय करनेके विषयमें योग-युक्त अन्तःकरणके महापुरुषोंका अनुभव यह है कि, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डभाण्डोदरी ब्रह्मशक्ति महामायाकी लीला मन, वाणी और बुद्धिसे अगोचर होनेपर भी उसके सृष्टिक्रमका अनुमान किया जा सकता है। प्रत्येक ब्रह्माण्डका अनुमान प्रत्येक सूर्यलोकके द्वारा हो सकता है। जितने सूर्य हैं उन अलग अलग सूर्यगोलकोंकी आकर्षण विकर्षण शक्तिका जो आवर्त है, वही ब्रह्माण्ड शब्दवाच्य है। जैसे एक पिण्डकी धारक नाना अस्थियां होती हैं उसी प्रकार एक ब्रह्माण्ड का धारक नाना जीववासोपयोगी पृथ्वी आदि गोलक समझा जाता है। स्थूल मृत्युलोकके साथ ही ओत-प्रोत रूपसे प्रेतलोक अवस्थित है। क्योंकि उसका मृत्युलोकसे साक्षात् सम्बन्ध है। भूः भुवः स्वः अर्थात् नरक और पितृलोक, भुवर्लोक और इन्द्रपुरी युक्त स्वर्लोक यथाक्रम मृत्युलोककी एक ओर और सप्तपातालरूपी असुरलोक यथाक्रम दूसरी ओर अवस्थित हैं। शेष चारों ऊर्ध्वलोक उत्तरोत्तर उन्नत होते हुए सूर्यलोकके निकटव्यापी हैं। उनमेंसे अन्तिम दोनों ऊर्ध्वलोक उपा-सनाके और ज्ञानके अति उत्तम दिव्यलोक माने गये हैं। सूर्यलोक इनकी अन्तिम सीमा है। सविकल्प समाधिके अन्तर्गत जो विचार समाधि है, उसीके द्वारा ये सब दैवी विषय अनुभवगम्य हैं।

षोडश अध्याय ।

पिताने कहा,—वत्स ! घटीयन्त्रके समान व्यवस्थित अत्यन्त हेय इस संसारका अव्यय स्वरूप तुमने मुझसे कहा है। मुझे भी ज्ञान हो गया है कि, यह ऐसा ही है। जब संसारकी यह अवस्था है, तब तुम ही बताओ कि, मेरा क्या कर्तव्य है? पुत्र बोला,—हे तात ! यदि निःशङ्क चित्तसे मेरी बातपर विश्वास करें, तो मैं यही कहूंगा कि, अब आप गृहस्थाश्रमका त्यागकर वानप्रस्थाश्रमको ग्रहण करें। यथाविधि वानप्रस्थाश्रमका अनुष्ठान करते हुए अग्निहोत्रादि त्यागकर, आत्माको आत्मामें रखकर, निर्द्वन्द्व और निष्परिग्रह होकर, अँतरे दिन भोजनके द्वारा आत्माको वशीभूत कर और आलस्यको छोड़कर आप संन्यासी हो जाइये। उस (चतुर्थ) आश्रममें जब योगपरायण और बाहिरी संसर्गसे रहित होंगे, तब आप मुक्तिके कारण स्वरूप, उपमाविहीन, वचनातीत, निःसङ्ग और दुःखसंयोगोंके औषधितुल्य उस योगको प्राप्त करेंगे, जिस योगके संयोगसे फिर आपका पञ्चमहाभूतोंसे संयोग नहीं होगा ॥ १—६ ॥ पिताने कहा,—वत्स ! अब मुक्तिके कारण स्वरूप उस योगका विषय वर्णन करो, जिसका अवलम्बन करनेसे भौतिक पदार्थोंसे मिलकर और पुनः जन्म ग्रहण कर मुझे इस प्रकारका दुःख प्राप्त न हो। आत्मा यद्यपि निर्लिप्त है, परन्तु मेरा आत्मा संसार बन्धनोंमें अत्यन्त आसक्त है। उस योगको जान लेनेपर आत्मा इन बन्धनोंमें लिप्त न होगा। अतः उस योगको कहो। वत्स ! मेरा देह और मन संसाररूपी आदित्यके प्रखर तापकी पीड़ासे तप रहा है। तुम ब्रह्मज्ञानमय सुशीतल जल मिश्रित वचनोंसे उसे सींचो। अविद्यारूपी काला सांप मुझे डस गया है। मैं उसके विषकी पीड़ासे अत्यन्त पीड़ित होकर मृतप्राय हो गया हूं। तुम अपने वचनामृतका पान कराकर मुझे जिला लो। मैं पुत्र, पत्नी, गृह, वित्त और ममतारूपी बेड़ियोंसे अत्यन्त आबद्ध हो रहा हूं, तुम अभिलषित सद्भाव और विज्ञानके रहस्यको कहकर मुझे मुक्त करो ॥ ७—११ ॥ पुत्रने कहा,—हे तात ! पूर्वकालमें अलर्कके अच्छी तरहसे पूछने पर परम बुद्धिमान् दत्तात्रेयने उससे विस्तारपूर्वक जो योग कहा था, वही मैं कहता हूं, सुनिये। पिता बोले,—वत्स ! दत्तात्रेय किसके पुत्र थे? उन्होंने किस प्रकारका योग कहा था और जिसे योग कहा, वह अलर्क कौन था? पुत्रने कहा,—प्रतिष्ठान नगरमें कुशिक वंशमें उत्पन्न एक ब्राह्मण रहता था। वह पूर्वजन्मकृत पापोंके कारण कोढ़ी हो गया था। पतिके कोढ़ी होने पर भी उसकी स्त्री उसके पैरोंमें तेल मलती, शरीर दबाती, स्नान-भोजन थूक मूत्र विष्ठा, रक्त आदि धोती, ऐकान्तिक उपचार और मिष्ट सम्भाषण करती हुई उसे

देवताकी तरह पूजती थीं ॥ १२—१६ ॥ यद्यपि वह साध्वी अत्यन्त विनीत भावसे उसकी आराधनामें लगी रहती थी, तथापि वह निष्ठुर अत्यन्त कोपी होनेके कारण सदा ही उसे झिड़की सुनाया करता था। फिर भी वह नम्र पत्नी उस बीभत्स ब्राह्मणको आराध्य-देवकी तरह सर्वश्रेष्ठ समझती थी। ब्राह्मणको चलने-फिरनेकी शक्ति नहीं थी। एक दिन पतिने उसे आज्ञा दी कि, मैंने जिस वेश्याको देखा है, वह राजपथके बगलके घरमें रहती है। उसी वेश्याके घर मुझे ले चल। हे धर्मज्ञे ! वह मेरे हृदयमें बस गयी है। अतः मैं उसके पास जाना चाहता हूं। मैंने उस सुन्दरीको प्रातःकाल देखा था, इस समय रात हो गयी है, परन्तु जबसे उसे देखा, तबसे उसकी मूर्ति हृदयसे नहीं हटती। यदि वह पीन-श्रोणि-पयोधरा, तन्वङ्गी, सर्वाङ्गसुन्दरी बाला मुझे आलिङ्गन नहीं देगी, तो देखना मेरे प्राण पखेरू उड़ जायंगे। प्रथम तो कामदेव मनुष्यके प्रतिकूल है (अर्थात् मनुष्यको सताया करता है), दूसरे उसे अनेक लोग रिझाया करते हैं और मुझमें हिलने-डोलनेकी शक्ति नहीं है, इससे मैं बड़े संकटमें पड़ा हूं ॥ १७—२३ ॥ कामातुर पतिका यह वचन श्रवण कर सत्कुलमें उत्पन्न हुई महाभागा वह पतिव्रता पत्नी कमर कसकर और बहुत-सा धन साथमें लेकर पतिको कन्धेपर उठाकर धीरे-धीरे चलने लगी। रातका समय था। आकाश मेघाच्छन्न था। ऐसे समयमें स्वामीका प्रिय करनेवाली वह द्विजांगना बिजलीकी चमकसे सूझनेवाले राजमार्गसे चली। वहां चोर न होनेपर भी चोरके सन्देहसे माण्डव्य मुनि सूलीपर चढ़े हुए बड़ी यन्त्रणाएं भोग रहे थे। अंधियारेमें पत्नीके कन्धेपर चढ़े हुए कौशिकने पैर हिलाया, वह कहीं माण्डव्यके शरीरसे छू गया। इससे मुनि बड़े क्रुद्ध होकर बोले,—जिसने पैरसे हिलाकर मुझे अधिक पीड़ा दी है, वह पापी नराधम सूर्योदय होते ही असह्य यन्त्रणाओंको बेबस होकर सहन करता हुआ प्राणत्याग करेगा। सूर्य-दर्शन होते ही वह अवश्य मर जायगा। तब वह पतिव्रता मुनिवरका भयानक शाप सुनकर अत्यन्त व्यथित चित्तसे बोली,—यदि यही है, तो अब सूर्योदय ही नहीं होगा ॥ २४—३१ ॥ अनन्तर उस पतिपरायणा ब्राह्मणपत्नीके वचनानुसार सूर्योदय न होनेसे निरन्तर रात ही बनी रही। बहुत दिनों तक रात बनी रहनेसे देवता बड़े भयभीत हुए। वे सोचने लगे कि, जब स्वाध्याय, वषट्कार, स्वधा और स्वाहाकार लुप्त हो जायगा, तब इस समस्त जगत्की रक्षा कैसे हो सकेगी ? दिन रातकी व्यवस्था हुए बिना मास और ऋतुका विभाग हो नहीं सकता। मास और ऋतुका विभाग न होनेसे उत्तरायण और दक्षिणा-यनका बोध नहीं होगा। अयनज्ञान न होनेसे संवत्सर कैसे निश्चित किया जायगा ? और संवत्सर ज्ञान न होनेसे अन्यान्यकालका ज्ञान किस प्रकार होगा ? ॥ ३२—३५ ॥ पतिव्रताके वचनानुसार अब सूर्योदय ही नहीं हो रहा है। सूर्योदय न होनेसे स्नान

दानादि सब काम रुक गये हैं। अग्निचयन अर्थात् होम बन्द हैं और सब यज्ञोंका भी अभाव देख पड़ता है। होमके विना हमारी तृप्ति नहीं होती। मृत्युलोकके मनुष्य यथोचित होम भाग देकर हमें तृप्त करते हैं। हम भी शस्य (धान्य) आदिकी सिद्धिके लिये वर्षाके द्वारा उनपर अनुग्रह करते हैं। ओषधियोंके उत्पन्न होनेपर मर्त्यगण उनके द्वारा हमारे उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं। हम भी यज्ञादि द्वारा पूजित होकर उनके सब अभिलषित पदार्थोंको जुटा देते हैं। हम अधोदिशामें वृष्टिके द्वारा पानी बरसाते हैं और मर्त्यगण ऊर्ध्वदिशामें घृतधारा बरसाते हैं। जो दुरात्मा हमारे उद्देश्यसे नित्य नैमित्तिक क्रियाओं द्वारा कुछ भी अर्पण नहीं करते और लोलुप होकर सब यज्ञ भाग स्वयं खा जाते हैं, हम उन अपकारी पापात्माओंके विनाशके निमित्त जल, अग्नि, सूर्य, वायु और पृथ्वीको दूषित कर देते हैं ॥ ३६-४२ ॥ जब वे हमारे दूषित किये हुए जल आदिका उपभोग करते हैं, तो उन दुष्कर्मियोंके विनाश सूचक अनेक उपसर्ग (महामारी आदि रोग) फैल जाते हैं। जो मनुष्य हमें तृप्त कर शेष भागका स्वयं उपभोग करते हैं, उन महात्माओंको हम समस्त पुण्यमय स्थान प्रदान करते हैं। परन्तु इस समय उनका कुछ भी उपाय नहीं रहा है। अब ध्वंसको प्राप्त होनेवाली सृष्टिकी रक्षा कैसे हो और फिर कैसे दिवसका उदय हो ? इस प्रकार देवता आपसमें परामर्श करने लगे। यज्ञ विनाशकी आशंका करनेवाले समवेत देवताओंकी ये बातें सुनकर देवश्रेष्ठ प्रजापति बोले,—हे अमरगण ! तेजके द्वारा तेज और तपके द्वारा तपका विनाश होता है। अतः हमारा बचन सुनिये। देखो, पातिव्रत्य की महिमासे दिवाकरका उदय नहीं हो रहा है। सूर्योदयके अभावसे आपलोगोंकी और मर्त्य मनुष्योंकी बड़ी हानि हो रही है। अतः यदि आपलोग सूर्योदयकी अपेक्षा करते हैं, तो एक मात्र पतिव्रता तपस्विनी अत्रि मुनिकी पत्नी अनुसूयाको प्रसन्न करो ॥४३-४६॥ पुत्र बोला,—फिर देवताओंसे प्रसन्न की जानेपर अत्रिपत्नी अनुसूयाने कहा,—आपकी क्या अभिलाषा है, वह कहिये। देवताओंने प्रार्थना की,—पहिलेकी तरह दिवस हुआ करे। अनुसूया बोली—पतिव्रताकी महिमा कभी हीन नहीं हो सकती। अतः हे देवो ! मैं उस साध्वीको सम्मानित कर दिनोदय कराऊँगी और जिससे पुनः दिन रातकी परम्परा आरम्भ हो और उस साध्वीके पतिकी भी मृत्यु न हो, ऐसा प्रयत्न करूंगी। पुत्रने कहा,—मङ्गलमयी अनुसूया देवगणसे इस प्रकार कहकर उस सतीके घर गयी और उसका तथा उसके पतिकी कुशल पूछकर धर्म विषयक इस प्रकार प्रश्न करने लगी कि, हे कल्याणि ! तुम पतिका मुख देखकर आह्लादित तो होती हो ? सब देवताओंकी अपेक्षा स्वामीको ही तो श्रेष्ठ समझती हो ? मैंने केवल पति सेवाके द्वाराही महाफल प्राप्त किया है और उसीसे समस्त अभिलषित विषयोंकी सिद्धिमें उपस्थित होनेवाले विघ्न दूर हुए हैं। हे साध्वि ! पुरुषोंको

निरन्तर पांच प्रकारके ऋणको चुकाना चाहिये। अपने वर्णधर्मानुसार धन सञ्चय कर विधिपूर्वक उपर्युक्त पात्रोंमें वितरण करना चाहिये। सर्वदा, सत्य, सरलता, तप, दान और दया परायण होकर तथा प्रतिदिन श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक द्वेष विवर्जित होकर समस्त शास्त्रोक्त क्रियाओंका यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ५०—५८ ॥ हे पतिव्रते! पुरुष इस प्रकार अत्यन्त क्लेशसे स्वजातिविहित लोकोंको प्राप्तकर क्रमशः प्राजापत्यादि लोकोंमें गमन करनेमें समर्थ होते हैं। किन्तु स्त्रियां एकमात्र पतिसेवाके द्वारा पुरुषोंके दुःखसे उपार्जित इन सब पुण्योंका आधा भाग पा जाती हैं। स्त्रियोंके लिये पृथक् यज्ञ, श्राद्ध अथवा उपवासका विधान नहीं है। वे केवल पति शुश्रूषाके द्वारा अभिलषित लोकोंमें गमन करनेमें समर्थ होती हैं। अतः हे साध्वि! हे महाभागे! तुम स्वामिसेवामें सदा यत्नवती होना, क्योंकि पति ही स्त्रियोंकी परम गति है। देखो, पुरुष देवता, पितृगण और अतिथियोंकी सत् क्रियानुसार जो पूजा आदि करते हैं, अनन्यमनस्का स्त्रियां केवल पतिशुश्रूषा द्वारा उसका आधा अंश पा जाती हैं ॥ ५६-६३ ॥ पुत्रने कहा, अत्रिपत्नी अनुसूयाके ये वचन सुनकर द्विजपत्नीने उसकी बड़े आदरसे पूजा की और उससे कहा—हे स्वभाव शुभ-दायिनी! आज मैं धन्य और अनुगृहीत हुई। देवताओंने आज मुझपर कृपा की है, जिससे आपने आकर पुनः मेरी पतिके प्रति श्रद्धा बढ़ा दी है। मैं जानती हूं कि, स्त्रियों के लिये पतिसे बढ़कर कोई गति नहीं है। पतिके प्रसन्न रहनेसे ही स्त्रियोंका इहलोक और परलोकमें उपकार होता है। हे यशस्विनि! पतिके प्रसादसे ही स्त्रियां इहलोक और परलोकमें सुख भोग करती हैं। पति ही स्त्रियोंके लिये एकमात्र देवता है। हे महाभागे! हे शुभे! जब कि, आपने मेरे घर पधारनेके कष्ट उठाये हैं, तब हे माननीये! मुझे और मेरे स्वामीके लिये आपकी क्या आज्ञा है, वह कहिये ॥ ६४—६८ ॥ अनुसूया बोली, हे साध्वि! तुम्हारे वचनानुसार दिन रातका भेद लुप्त हो जानेसे सत् क्रियाएँ विनष्ट हो रही हैं। इस कारण सब देवता अत्यन्त दुःखित होकर देवराज इन्द्रसहित मेरे पास आये और प्रार्थना करने लगे कि, दिन रातकी अखण्ड व्यवस्था फिर प्रारम्भ हो। इसी कार्यके लिये मैं तुम्हारे पास आयी हूँ। हे तपस्विनि! दिनके उदय न होनेसे सब यागकर्मोंका अभाव हो गया है और यज्ञोंके अभावसे देवताओंका पुष्टिसाधन नहीं हो रहा। दिवसका ध्वंस होनेसे सब कर्मोंका उच्छेद हो गया है। सब कर्मोंका उच्छेद होनेसे अनावृष्टि होगी और अनावृष्टिसे समस्त जगत्का ध्वंस हो जायगा। इस आपत्तिसे जगत्की रक्षा करनेकी यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो हे साध्वि! सब लोगोंपर तुम प्रसन्न हो और पहिलेकी तरह पुनः सूर्योदय हुआ करे ॥ ६६—७२ ॥ ब्राह्मणीने कहा,—हे महाभागे! माण्डव्य मुनिने अत्यन्त क्रुद्ध होकर मेरे पतिको शाप दिया है कि, सूर्योदय होते ही उनकी मृत्यु हो जायगी।

अनुसूयाने कहा,—हे भद्रे ! यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो मैं तुम्हारे पतिको पुनः जिला दूंगी और उनका शरीर पुनः पहिलेकी तरह नया (रोग रहित) हो जायगा। हे वर-वर्णिनि ! पतिव्रता स्त्रियोंकी महिमा सब प्रकारसे आराधनीय है; अतः मैं तुम्हारा अभिनन्दन करती हूँ ॥ ७४-७६ ॥ पुत्र बोला,—ब्राह्मणीने 'तथास्तु' कहा और तपस्विनी अनुसूयाने हाथमें जल लेकर सूर्यदेवका आह्वान किया। उस समय दस रातदिन, रातके ही रूपमें बीत चुके थे। अस्तु, अनन्तर ज्योंही प्रफुल्ल-कमलकी तरह अरुण वर्ण उरुमण्डल भगवान् विवस्वान् (सूर्यदेव) उदयाचल पर आरूढ़ हुए, त्योंही उस ब्राह्मणके प्राण पखेरू उड़ गये। उसके पृथ्वीपर गिरते गिरते ब्राह्मण पत्नीने उसे उसी क्षण हाथोंसे थाम लिया। अनुसूयाने कहा,—हे भद्रे ! तुम विषण्ण न होना, मैंने केवल पतिसेवाके द्वारा जो तपोबल प्राप्त किया है, वह शीघ्र ही तुम्हारे दृष्टिगोचर होगा। रूप, शील, बुद्धि, वचन और मधुरता आदि गुणोंके द्वारा यदि किसी पुरुषको मैंने कभी पतिके रूपमें नहीं जाना है, तो उस सत्यके बलसे यह ब्राह्मण व्याधि-रहित और युवा होकर जी उठे और अपनी पत्नी सहित (आनन्दमें रहकर) सौ वर्षों तक जीवित रहे। मैंने यदि किसी देवताको भी स्वामीके रूपमें नहीं माना है, तो उस सत्यके द्वारा यह ब्राह्मण नीरोग होकर पुनः जी जाय और काया वाणी तथा मनसे यदि पतिदेवकी आराधनामें सचेष्ट रही होऊं, तो यह द्विजवर पुनर्जीवन लाभ करे ॥ ७७-८४ ॥ पुत्रने कहा,—अनन्तर वह ब्राह्मण व्याधि रहित और युवा होकर अजर अमरकी तरह अपनी देह-प्रभासे घरको समुज्ज्वल करता हुआ जी उठा और देवगण पुष्पवृष्टि करते हुए मङ्गल वाद्योंकी ध्वनि करने लगे। फिर देवतागण अत्यन्त आह्लादित होकर अनुसूयासे कहने लगे,—हे कल्याणि ! देवताओंका तुमने बड़ा भारी कार्य किया है। अतः जो इच्छा हो; वर मांगो। हे तपस्विनि ! सब देवता तुम्हें वर देनेके लिये उद्यत हैं ॥ ८५-८७ ॥ अनुसूयाने कहा,—हे पितामह प्रभृति देवगण ! आप यदि मुझपर प्रसन्न होकर मुझे वर प्रदान करना चाहते हैं और यदि मुझे वर देने योग्य समझते हैं, तो मुझे यही वर दीजिये कि, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर मेरी सन्तान रूपसे जन्म ग्रहण करें और स्वामी सहित मैं क्लेश निवृत्तिके लिये योग

टीका—इस अध्यायका विषय साधारणतः गाथारूपमें और परकीय भाषाके आवरणमें होनेपर भी इस अध्यायका वर्णन परकीय भाषामय नहीं है। इसका पूर्वार्ध समाधि भाषासे पूर्ण है। आश्रमधर्मके उत्तरोत्तर अधिकारका वर्णन, योगका अन्तिम लक्ष्य, धर्मका वैज्ञानिक स्वरूप, धर्मरूपी यज्ञके साथ दैवी जगत्की श्रृंखलाकी रक्षाका सम्बन्ध इत्यादिके जो वर्णन हैं, वह समाधि भाषा है। दूसरी ओर सतीत्व महिमा, सतीत्व व्रत द्वारा तपोधर्मकी परकाष्ठाकी प्राप्ति सतीत्व-धर्मका गूढ़ सिद्धान्त, दैवी जगत्पर सतीत्व धर्मका गुरुतर प्रभाव, दैवी जगत्में सतीत्व-धर्मका आदर, तपोधर्मका सृष्टि-सामञ्जस्य-रक्षा आदिमें प्रभाव, सती

प्राप्ति करूं। अनन्तर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरने 'तथास्तु' कह कर और उस तपस्विनीका उचित सम्मान कर (अपने अपने लोकोंमें) गमन किया ॥ ८८-९० ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणके पितापुत्र संवादात्मक-अनुसूया वरप्राप्ति नामक षोड़श अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तदश अध्याय।

—:०✻०:—

पुत्रने कहा,—अनन्तर बहुत समय बीतने पर ब्रह्माके द्वितीय पुत्र भगवान् अत्रिने, जिसके सब अङ्ग सुडौल थे और जिसका सुन्दर रूप चित्तको भुला लेता था, उस निष्कलङ्क और ऋतुस्नाता अपनी पत्नी अनुसूयाको देखा, तो उसपर वे मोहित हो गये और उन्होंने उससे मन ही मन सम्भोग किया। इससे उनका जो तेज स्खलित हुआ, उसको लेकर वेगवान् पवन ऊँचे आकाश मार्गसे बहने लगा। उस ब्रह्मस्वरूप, शुक्लकान्ति-युक्त तेजका जो रजोगुण-विशिष्ट अंश था, उसने चन्द्ररूपसे दिशाओंका आश्रय किया। समस्त प्राणियोंका आधार स्वरूप वही सोम प्रजापति अत्रिका प्रथम मानस पुत्र है। महात्मा विष्णुने प्रसन्न होकर उस तेजके अपने सत्वगुणावलम्बी अंशसे ब्राह्मण दत्तात्रेयके रूपमें जन्मग्रहण किया। विष्णुने ही दत्तात्रेयके नामसे प्रसिद्ध होकर अनुसूयाका स्तन पान किया था। साक्षात् विष्णु ही अत्रिके द्वितीय पुत्र थे और क्रुद्ध होनेके कारण एक सप्ताहमें ही माताके उदरसे बाहर निकल आये थे। इनके क्रुद्ध होनेका कारण यह था कि, उन्मार्गगामी हैहयाधिपतिने उद्धत भावसे अत्रिका निरादर किया था। जिसे देखकर ये क्रोधवश हो गये और उसे दग्ध करनेका इन्होंने निश्चय कर लिया, दूसरा क्रोधका कारण उनके गर्भवासका महाक्लेश और दुःख था, उस तेजके तमोगुण युक्त रुद्रांशसे दुर्वासाकी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके अंशोंसे अनुसूयाको तीन पुत्र उत्पन्न हुए। देवताओंके वरदानसे ब्रह्माने चन्द्रके रूपमें, विष्णुने दत्तात्रेयके रूपमें और शङ्करने दुर्वासाके रूपमें जन्मग्रहण किया ॥ १—११ ॥ वही प्रजापति-सोम प्रजापति-अपने शीतल किरणों द्वारा लता, औषधि और मनुष्योंको प्रसन्न करता हुआ सदा स्वर्गमें विराज-

---

धर्ममें त्रिलोक-पवित्रकारी निःस्वार्थभावकी रक्षा, सतीधर्ममें पतिके प्रति एक तत्वकी अधिकारमय अनन्यताका स्वरूप, सतीकी ऐसी उन्नत अवस्था होनेपर भी उसमें मातृभावकी सम्भावना इत्यादि धर्मसिद्धान्तोंको लौकिक भाषा द्वारा, वर्णन किया गया है। अतः इस वर्णनकी अलौकिकता पर किसीको विचलित नहीं होना चाहिये ॥ ८८-९० ॥

मान है । विष्णुके अंशसे उत्पन्न दत्तात्रेय दुष्ट दैत्योंके विनाश और शिष्ट सज्जनों पर अनुग्रह करते हुए प्रजापालनमें तत्पर हुए और भगवान् अज दुर्वासा रुद्र सम्बन्धीय शरीर धारण कर नेत्र, मन और वचनके द्वारा उद्धत होकर अपमान करनेवालोंको जलाने लगे । इस प्रकार भगवान् प्रजापति (ब्रह्मा) अत्रिके वंशमें जन्मग्रहण कर चन्द्रत्वको प्राप्त हुए, विष्णु भगवान् दत्तात्रेयके रूपमें योगावलम्बन करते हुए अनेक विषयोंका भोग करने लगे और भगवान् शिव दुर्वासा होकर माता पिताको छोड़ उन्मत्त नामक उत्तम व्रतको अवलम्बन करते हुए पृथ्वीमें विचरने लगे ॥ ११—१६ ॥ दत्तात्रेय परम योगी होनेसे मुनिकुमार सदा उन्हें घेरे रहते थे । उनसे पिण्ड छुड़ानेके लिये बहुत दिनों तक वे एक बड़े सरोवरमें डूबे रहे । वे सरोवरमें डूबे रहे सही, परन्तु उनके प्रिय दर्शन और महात्मा होनेके कारण मुनिकुमारोंने उनका पीछा नहीं छोड़ा । सभी मुनिकुमार सरोवरके तीर पर डटे रहने लगे । इस तरह देवताओंके सौ वर्ष बीत जानेपर भी जब मुनिकुमार उनके प्रेमके कारण सरोवरसे नहीं हटे, तब एक दिन दत्तात्रेय एक कल्याणी सुन्दरीको, जिसने दिव्य वस्त्र धारण किये थे, और जिसके नितम्ब पुष्ट और सुडौल थे, साथ लेकर सरोवरसे बाहर निकले । उन्होंने सोचा कि, मेरे साथ स्त्री है, यह देखकर मुनिकुमार मेरा साथ छोड़ देंगे और मैं भी निःसङ्ग तथा ध्यान-परायण होकर एकाकी रहूंगा । परन्तु फिर भी जब मुनिकुमारोंने उनका पीछा नहीं छोड़ा, तब उन्होंने यह सोचकर उस स्त्रीके साथ मद्यपान करना आरम्भ किया कि, जब ये देखेंगे कि, मैं स्त्रीको साथ लिये रहता हूं, मद्यपान करता हूँ, गाता बजाता और रमणी सम्भोग करता हूँ, तब मुझे इन संसर्गोंसे दूषित समझ कर मेरा परित्याग कर देंगे । परन्तु इतने पर भी उन मद्यपानसे वीभत्स हुए मुनिवरको महात्मा जानकर मुनिकुमारोंने नहीं छोड़ा । हे पिताजी ! वे योगीश्वर दत्तात्रेय वारुणी पान करते हुए भी चाण्डालके घरके वायुके समान दूषित नहीं हुए । अस्तु, योग-

---

टीका—भगवान् दत्तात्रेय त्रिमूर्तिके अवतार कहाते हैं। जैसे मनुष्यपिण्डमें नाना देवताओंके अवतार और ऋषियोंके अवतार आविर्भूत होते हैं, जैसे श्रीभगवान्के अवतार मनुष्य पिण्डमें उत्पन्न होते हैं, जैसे राम, बुद्ध आदि । और जैसे देवपिण्डमें उत्पन्न होते हैं, जैसे वाराह, नृसिंहादि । ये सब अवतार कलाभेदसे दशकलाके, द्वादश कलाके, चतुर्दश कलाके और पूर्ण षोडशकलाके कहाते हैं, जैसे कि, षोडश कलाके अवतार कृष्णको. "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" कहा गया है, वैसे ही भगवान् दत्तात्रेय त्रिमूर्तिके अवतार हैं । अर्थात् इनमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनोंकी कलाएँ विद्यमान हैं, ऐसा पुराणान्तरमें वर्णन है । परन्तु उनका लीलाविग्रह भोग और योग उभय प्रधान होनेसे उनमें विष्णुअंशकी प्रधानता मानी गयी है । इस कारण यहां भगवान् विष्णुका ही सम्बन्ध बताया गया है । उनका विग्रह देवपिण्डसे सम्बन्ध रखता है । वे अब भी विद्यमान् हैं और रुद्रावतार भगवान् हनुमानकी तरह भक्तोंको अब भी दर्शन दिया करते हैं । उपर्युक्त वर्णनमें केवल दत्तात्रेयकी उत्पत्तिका जो वर्णन है वह परकीय भाषा है, परन्तु दैवी सृष्टिका जो वर्णन है, वह

वेत्ता योगीश्वर (दत्तात्रेय) पत्नी सहित मदिरा पान करते हुए तप करने लगे, जिनका ध्यान निरन्तर मुमुक्षु योगिगण किया करते हैं ॥ १७—२५ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणका पितापुत्र-संवादात्मक दत्तात्रेयोत्पत्ति नामक सप्तदश अध्याय समाप्त हुआ।

अष्टादश अध्याय।

—:०*०:—

किसी समय कृतवीर्य नामक एक राजा हुआ। उसके स्वर्गवास हो जानेपर उसके पुत्र अर्जुनको मन्त्रियों, पुरोहितों और नागरिकोंने उसे राज्याभिषेकके लिये बुलाया। अर्जुनके इस प्रकार निमन्त्रित होकर आनेपर अर्जुनने कहा कि, हे मन्त्रिगण! मैं राज्य नहीं करूँगा। क्योंकि राज्यका परिणाम नरक भोग है। जिसके लिये राजा कर ग्रहण करता है, वह कार्य सम्पादन करना बड़ा ही कठिन है। वैश्यगण व्यापारकी वस्तुका बारहवां भाग राजाका देकर और रक्षकोंके द्वारा चोरोंके भयसे रक्षित होकर एक स्थानसे दूसरे स्थानमें आते जाते हैं। ग्वाला घी, मट्ठा आदिका और खेतिहर अन्नका छठां भाग राजाको देते हैं। यदि वे राजाको यह छठां भाग देकर और भी अधिक भाग दें तथा व्यापारीभी व्यापारकी समस्त वस्तुओंके निश्चित भागसे अधिक दें और राजा ग्रहण करे, तो वह राजा चौरधर्मी हो जाता है और उसके इष्ट और पूर्त दोनों कर्म विफल हो जाते हैं। (कूप, बावली, तालाब, देवस्थान, अन्न-सत्र आदि बनानेको पूर्त कर्म और अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदाध्ययन, अतिथि सत्कार, वैश्वदेव आदि कर्म इष्ट कहाते हैं) और भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि, किसी राजाके आश्रयमें रहने वाली प्रजा राजाको कर-दान करके भी यदि किसी अन्यके द्वारा रक्षित हो, तो छठाभाग कर के रूपमें लेने वाला वह राजा अवश्यही नरकको जाता है। पूर्वाचार्योंने प्रजाकी रक्षाके लिये यह (षष्ठांश ग्रहण) राजाका वेतन निश्चित किया है। यदि वह कर लेकर चोरोंसे प्रजाकी रक्षा न करे, तो वह चोरी कहावेगी और वह राजा चोरीके पापका भागी होगा। अतः यदि तपस्याकर इच्छानुसार योगित्व प्राप्त कर सकूं और पृथ्वी पालनमें सामर्थ्ययुक्त

समाधिगम्यभावसे सम्बन्धयुक्त लौकिक भाषा है। और भगवान् त्रिमूर्तिका तेज किस प्रकारसे समय समय पर अन्य पिण्डोंमें आविर्भूत होता है, उसीका रहस्य इस लौकिक भाषामें वर्णित है। जैसे भगवान् कृष्णकी लीलामें योग और भोगका अलौकिकत्व है, वैसा दत्तात्रेयके अवतारमें भी एकाधारमें योग और भोगका अलौकिकत्व है इस अध्यायका वर्णन दैवी सृष्टिका है, वैजी सृष्टिका नहीं है ॥ १—२५ ॥

एकमात्र महीपति हो सकूं तथा पृथ्वीमें मैंही अकेला शस्त्रधारी मान्य और ऋद्धिमान् हो सकूं, तो मैं राज्य करनेको प्रस्तुत हूँ; नहीं तो वृथा मैं अपनेको पाप भागी बनाना नहीं चाहता ॥ १—९ ॥ पुत्रने कहा,—इसका यह निश्चय जानकर मन्त्रियोंमें बैठे हुए महान् बुद्धिमान् वयोवृद्ध, मुनिवर गर्ग बोले,—हे राजपुत्र ! यदि आप उत्तम रीतिसे राज्यशासन करनेके लिये ऐसा करना चाहते हैं, तो जो मैं कहता हूं, वह सुनो और उसके अनुसार आचरण करो। हे राजतनय ! जो त्रिभुवनकी रक्षा करते हैं, जो परम योगी, महाभाग और सर्वत्र समदर्शी हैं, जो जगत्की रक्षा करनेके लिये विष्णुके अंशसे जन्म ग्रहण कर भूतलमें अवतीर्ण हुए हैं और जिनकी आराधना करनेसे सहस्र नयन इन्द्रने दैत्य गणका नाश कर दुष्ट दैत्यों द्वारा अपहृत अपने पदको प्राप्त किया था, आप उन्हीं सह्य पर्वतकी गुहामें बसे हुए महाभाग दत्तात्रेयकी आराधना करो ॥ १०-१४ ॥ अर्जुनने कहा,—देवताओंने प्रतापी दत्तात्रेयकी किस प्रकार

टीका—संसार भरमें जितने प्रकारकी राज-शासन-प्रणालियां है, उनके अनुसार वेद और शास्त्रोक्त आर्य-जातिकी जो प्राचीन राज्यशासन प्रणाली है, वह सबसे श्रेष्ठ और अग्रगण्य है। चिन्ताशील, दार्शनिक बुद्धिसम्पन्न; धर्मात्मा राजाके उपयुक्त वचनोंसे ही इसका प्रमाण मिलता है। जैसे आकर्षण और विकर्षण शक्तिके समन्वयसे सूर्य और ग्रह-उपग्रहोंसे समन्वित ब्रह्माण्डकी स्थिति बनी रहती है और ये आपसमें टकराकर नष्ट नहीं होते, वैसेही प्रजाशक्ति और राजशक्तिके समन्वयसे ही यथार्थ रूपसे सर्वाङ्ग-सुन्दर राजशासन स्थापित होता है। उच्छृंखल प्रजातन्त्र तो मनुष्य-जातिको कालान्तरमें असभ्य और वर्बर बना देता है और स्वेच्छाचारी राजतन्त्र पापका घर बनकर राजा और प्रजा दोनोंका पतनकर देता है। दोनों ओरकी निरङ्कुशताको रोकनेके लिये वर्तमान सभ्यजगत्में नाना प्रकारकी राजशासन प्रणालियां बनायी गयी हैं। प्रजाके बहुमतसे दो राज-सभाओंका स्थापन करना; उन दोनोंके सहयोगसे निरङ्कशताको बचाना, प्रजाके इच्छानुसार राजाको नियम-बद्ध करना अथवा थोड़े समयके लिये एक सभापति रूपसे राजाका चुनाव कर लेना इत्यादि रूपसे कई प्रकारकी राज-शासन-प्रणालियाँ सभ्य जगत्में राजशक्ति और प्रजाशक्ति दोनोंकी सामञ्जस्य रक्षाके लिये प्रचलितकी गयी हैं। उनमें सामयिक सफलता होनेपरभी नियमित परि-वर्तन, नियमित अशान्ति, धर्म और अध्यात्म-लक्ष्यका अभाव आदि अनेक दोष चिन्ता-शीलगण सदा अनुभव करते हैं। और इन सब राजशासन प्रणालियोंका शुभ परिणाम कदापि चिरस्थायी नहीं हो सकता। वैदिक प्राचीन आर्यशास्त्रोक्त राज-शासन-प्रणालीमें प्रजाके बहुमतसे कानूनका बनाना नियम विरुद्ध था। क्योंकि प्रजा कितनी ही शिक्षित हो, सब विषयी प्रजाकी बुद्धि समान नहीं होती। परन्तु प्राचीन प्रणालीमें कानून बनानेका भार न सार्वजनिक प्रजापर था, न राजा पर था। अतः उसमें दोनोंके पक्षपातकी सम्भावना नहीं थी। तपः स्वाध्याय निरत; विषय वासना रहित, विद्वान्, योगयुक्त अन्तः-करण, निःस्वार्थ व्रतको धारण करने वाले ऋषिगण उस समय कानून प्रकाशित करते थे। अतः उन कानूनोंमें इहलोक और परलोक सम्बन्धी पूर्ण दूरदर्शिता रहती थी और उनको काममें लानेवाले राजा कैसे विषय-राग-रहित धर्मभीरु, कर्तव्यनिष्ठ, प्रजावत्सल और योग-युक्त होते थे, उसका आदर्श ऊपरके वर्णनमें परकीय भाषामें किया गया है ॥ १—९ ॥

आराधना की थी और इन्द्रने दैत्योंसे छिने हुए अपने पदको किस प्रकार प्राप्त किया था? गर्ग बोले,—किसी समय देवों और असुरोंमें भयङ्कर युद्ध हुआ था, तब जम्भ नामक दैत्य सब असुरोंका अधिनायक और शचीपति इन्द्र देवताओंके अधिनायक थे। दोनोंमें देवताओंके एक वर्ष तक युद्ध चलता रहा। अन्तमें देवता पराजित हुए और असुरोंकी जीत हुई। विप्रचित्ति प्रभृति दैत्योंसे हार कर देवतागण इधर उधर भागने लगे। शत्रुओंपर विजय न पानेसे वे निरुत्साह होकर बृहस्पतिके पास गये और बालखिल्य ऋषियोंके साथ दैत्य सैन्य वधके लिये मन्त्रणा करने लगे। बृहस्पतिने कहा,—हे देवगण! आप लोग भक्ति पूर्वक तपोधन, महात्मा, विकृताचारी, अत्रितनय दत्तात्रेयको सन्तुष्ट करनेकी चेष्टा करें। वे वर देनेवाले हैं। उनको प्रसन्न करनेसे दैत्योंका विनाश जिससे हो, ऐसा वर वे आपको प्रदान करेंगे। उस वरसे हे देवगण! आप सब दैत्यों और दानवोंका वध कर सकेंगे ॥ १५-२१ ॥ गर्गने कहा कि, बृहस्पतिके इस प्रकार परामर्श देनेपर देवतागण दत्तात्रेयके आश्रममें गये। वहां जाकर उन्होंने क्या देखा कि, वे महात्मा लक्ष्मीके साथ मद्यपान कर रहे हैं और उनके आगे गन्धर्वगण गा रहे हैं। देवता उनके निकट जाकर प्रणाम पूर्वक साध्यसाधन (जिससे साध्य सिद्ध हो जाय) करने लगे। नाना प्रकारसे वे उनकी स्तुति करते और उनके लिये भक्ष्य, भोज्य, माल्य आदि जुटा देते थे। उनके बैठनेपर आप बैठते और उनके गमन करनेपर आप भी गमन करते थे। इस प्रकार देवताओंने मुनिके आसनसे नीचे बैठकर उनकी आराधना की। इसी तरह बहुत काल बीतने पर दत्तात्रेयने शरणागत देवताओंसे पूछा कि, तुम लोग मेरे पास किस लिये आये हो? तुम्हारी क्या प्रार्थना है, जो तुम मेरी ऐसी सेवा कर रहे हो? देवोंने कहा,—हे मुनि शार्दूल! जम्भ प्रमुख दानवोंने हमपर आक्रमण कर भूर्भुवादि तीनों लोकोंपर अधिकार कर लिया है और हमारा सब यज्ञभाग वे ही अपहरण कर लेते हैं। हे निष्पाप! आप उनके विनाशके लिये कोई उपाय सोचकर हमारी रक्षा कीजिये। हमारी यही अभिलाषा है कि, आपके प्रसादसे हम फिर स्वर्गको प्राप्त कर लें। दत्तात्रेयने कहा,—मैं तो मद्यपानासक्त अजितेन्द्रिय और निरन्तर अपवित्र रहता हूँ। हे देवगण! मुझसे तुमने किस प्रकार शत्रुओंके पराभवकी आशा कर ली? देवोंने कहा,—हे जगन्नाथ! आपने विद्या प्रक्षालित पवित्र अन्तःकरणमें ज्ञानरूपी ज्योति जगा ली है। अतः आप निष्पाप हैं और किसी विषयमें लिप्त नहीं हैं। दत्तात्रेयने कहा,—हे सुरगण! वास्तवमें मुझमें विद्या

टीका—जैसे ऋषि, देवता, पितृ, किन्नर, गन्धर्व आदि देवताओंके अनेक भेद हैं, उसी प्रकार दैत्य, दानव, राक्षसादि असुरोंके अनेक भेद हैं। राजसिक और तामसिक भेदसे असुरोंकी यह श्रेणिकी कल्पना की गई है ॥ १५-२१ ॥

होनेसे ही मैं समदर्शी हूं; परन्तु इस स्त्रीके संसर्गसे अशुचि हो रहा हूं। स्त्रीसे निरन्तर सेवित होकर उसका सम्भोग करनेसे मैं अत्यन्त दोषका आकर बन गया हूं। दत्तात्रेयके ये वचन सुनकर देवोंने कहा,—हे द्विज श्रेष्ठ! जिस प्रकार सूर्यकी किरणें ब्राह्मण अथवा चाण्डालके संसर्गसे पवित्र अथवा अपवित्र नहीं होतीं, उसी प्रकार यह अनघा जगन्माता आपके संसर्गसे दूषित नहीं हो सकती ॥ २२-२३ ॥ गर्गने कहा,—देवोंके इस प्रकार कहने पर दत्तात्रेय सब देवताओंसे कुछ हंसकर बोले,—त्रिदशगण! यदि तुम्हारा यही मत है, तो हे सुरसत्तम! तुम समस्त असुरोंको युद्धके लिये ललकार कर यहां मेरी दृष्टिके सामने ले आओ, इसमें विलम्ब न करो। क्योंकि मेरे दृष्टिपातरूपी अग्निसे उनका बल और तेज क्षीण हो जागया और फिर वे सभी मेरे दर्शनसे बिना विलम्ब नष्ट हो जायंगे ॥ ३३-३५ ॥ गर्ग बोले,—उनका वह वाक्य सुनकर देवोंने तुरन्त ही असुरोंको युद्धके लिये ललकारा। महाबली असुरगणने भी देवों द्वारा युद्धके लिये ललकारे जानेपर बड़े क्रोधसे देवोंपर आक्रमण कर दिया। तब दानवों द्वारा सब देवता पीटे जानेके कारण वे भयभीत होकर शरण पानेकी इच्छासे दत्तात्रेयके आश्रममें भाग आये। असुरगण भी उनके विनाशके विचारसे उस आश्रममें आये और उन्होंने महात्मा दत्तात्रेयका दर्शन किया। साथ ही उनके वामभागमें बैठी हुई, अशेष जगत्का इष्टसाधनकरनेवाली, कल्याणकारिणी, चन्द्रमुखी उनकी पत्नी लक्ष्मीका भी अवलोकन किया। तब उस नीलोत्पल नयना, पीन श्रोणिपयोधरा, मधुर भाषिणी, और योषिताओंके सब गुणोंसे युक्त ललनाको सामने देखकर असुरोंका जी ललचा गया। वे उद्धत कामपीड़ासे आतुर होकर मनही मन धैर्य धारण करनेमें असमर्थ हुए और देवताओंका पीछा छोड़कर उस कामिनीका हरण करनेके लिये आतुर हो गये। उस पापके संसर्गसे मुग्ध और हतवीर्य होकर वे कहने लगे कि, यह स्त्री रत्नही त्रैलोक्यका सार है। हम यदि इस ललनारत्नको पासकें, तभी कृतकार्य होंगे, हमारा चित्त यही कहता है कि, तभी हम कृतकृत्य होंगे। अतः हे असुरों! चलो हम सब इस कामिनीको पालकीमें चढ़ाकर अपने यहां ले चलें, यह निश्चय करलो ॥ ३६—४४ ॥ गर्गने कहा,—तदनन्तर प्रेमपगे दैत्यगणने परस्पर इस प्रकार मन्त्रणा करते हुए कन्दर्प बाणसे पीड़ित होकर साध्वी दत्तात्रेय पत्नीको उठाकर पालकीमें बैठा लिया और दैत्य तथा दानवोंने मिलकर उस पालकीको सिरपर उठा लिया तथा वे स्वस्थानकी ओर चल पड़े। तत्पश्चात् मुनिवर दत्तात्रेय किञ्चित् हंसकर देवताओंसे बोले,–हे देवगण! तुम्हारा भाग्य अब फिर गया है। देखो, यह लक्ष्मी दानवोंके

टीका—यह पहिले कहा गया है कि, भगवान् दत्तात्रेयकी उत्पत्ति दैवी सृष्टिका विषय है और उनकी लीला समाधि भाषाका विषय है। इस समय उनकी पूर्ण सत्त्वमयी शक्तिके सम्मुख आते ही रजस

सात स्थानोंको अतिक्रमणकर अब उनके सिरपर चढ़ गयी हैं। अतः वे इनका परित्याग कर किसी अन्यके पास चली जायंगी ॥ ४५—४७ ॥ देवताओंने जिज्ञासा की,–हे जगन्नाथ! लक्ष्मीके किस किस स्थानपर अवस्थान करनेसे पुरुषको क्या क्या अच्छा फलप्रदान करती हैं और क्या क्या बिगाड़ती हैं? दत्तात्रेयने कहा,–लक्ष्मीका पुरुषके पदमें अवस्थान होनेसे वे उसे गृहप्रदान करती हैं, उरूमें अवस्थान करनेसे अच्छे वस्त्र और अनेक प्रकारका धन देती हैं, गुप्त स्थानमें अवस्थान करनेसे कलत्र लाभ होता है, गोदमें आनेसे पुत्रलाभ होता है, हृदयमें विराजनेसे पुरुषका मनोरथ पूर्ण होता है, कण्ठमें विराजी हुई लक्ष्मी श्रेष्ठ होती है और ऐसे लक्ष्मीवानोंको, जिनके कण्ठमें लक्ष्मी विराजी हो, कण्ठभूषण देती है तथा प्रवासी प्रियतम बन्धुओं और पत्नीसे भेंट कराती है। सागर तनया (लक्ष्मी) यदि मुखमें आ बैठें, तो सुन्दर वाक्य, लावण्य, अवितथ आज्ञा और कवित्वका लाभ होता है। और मस्तक पर आरोहण करनेसे उसे त्याग कर दूसरे निकट चली जाती हैं। इस समय ये दानवोंके मस्तकोंपर आरूढ़ हुई। अब ये इन्हें त्याग देंगी। ये दैत्य परदारा हरणके कारण हतपुण्य और हतवीर्य हुए हैं और मेरे दृष्टिपातसे निस्तेज हो गये हैं। अतः तुम लोग अस्त्रशस्त्र ग्रहण कर निर्भय होकर इनका वध करो ॥ ४८–५४ ॥ तदनन्तर देवोंने तीक्ष्ण अस्त्रोंसे समस्त असुरोंका वध कर डाला। हे राजनन्दन! मस्तकपर लक्ष्मीको उठा लेनेसे दैत्यगण किस प्रकार मार डाले गये, यह आपने श्रवण किया। इसके पश्चात् लक्ष्मी देवी उछल कर मुनिवर दत्तात्रेयके पास लौट आयीं और दैत्योंका नाश हो जानेसे सब देवता आह्लादित होकर उनकी स्तुति करने लगे। फिर देवोंने मनीषी दत्तात्रेयको प्रणाम कर पहिलेकी तरह निश्चिन्त होकर स्वर्गमें गमन किया। अतः हे राजेन्द्र! यदि आप मनोभिलषित अतुल ऐश्वर्य पानेकी इच्छा करते हैं, तो शीघ्र ही उन मुनिवर दत्तात्रेयकी आराधना करो ॥ ५५–५८ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणका गर्ग वाक्य नामक अष्टादश अध्याय समाप्त हुआ।

और तमोयुक्त असुरगण हतबुद्धि हो गये और फिर परस्त्रीहरणके पापसे उनका तपःक्षीण होकर वे हतवीर्य हो गये, जिसे देख भगवान् मुस्कराये ॥ ४५—४७ ॥

टीका—ब्रह्मशक्ति महामाया 'अहं ममेतिवत्' ब्रह्मसे अभिन्न रहनेपर भी जैसे महामायाके विद्या और अविद्या रूपसे दो अधिकार वर्णित हो चुके हैं, वैसे ही सर्वशक्तिमयी महामायाके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत शक्ति भेदसे महासरस्वती, महाकाली और महालक्ष्मी रूपी तीन स्वतन्त्र स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णित हैं। पुनः सृष्टि स्थितिलय क्रियाके विचारसे ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री इस प्रकार तीन प्रकारकी शक्तियोंकी लीलाएं शास्त्रोंमें पायी जाती हैं। पुनः इन तीनोंमेंसे प्रत्येककी तीन तीन वैभवमयी मूर्तियोंका वर्णन वेद और शास्त्रोंमें पाया जाता है। इस अध्यायमें वर्णित लक्ष्मी देवी भी वैष्णवीशक्तिके उन तीनों भेदोंसे एक भेद है। वे अध्यात्मरूपसे स्थितिकर्ता भगवान् विष्णुकी अर्धाङ्गिनी हैं। अधिदैव रूपसे अवतारोंकी संगिनी हैं और अधिभूत रूपसे भाग्यशाली पुरुषोंके कर्म विपाकके अनुसार फल प्रदायिनी होती हैं ॥ ५५–५८ ॥

एकोनविंश अध्याय ।

पुत्रने कहा,—नरपति कार्त्तवीर्य गर्गऋषिका यह बचन सुनकर दत्तात्रय मुनिके आश्रममें गये और भक्तिभावसे उन्होंने उनकी पूजाकी । वे दत्तात्रेयके पैर दवाते, मद्य आदि ला देते, माल्य चन्दन, गन्ध, जल, फल आदि जुटा देते, भोजन करादेते और उच्छिष्ट उठा देते थे। इस प्रकारकी सेवासे दत्तात्रेय प्रसन्न हुए और उन्होंने राजाको वेही मद्यपान और वगलमें वैठी रमणीके उपभोग आदिकी बातें सुनायीं, जो पहिले देवताओंको सुनायी थीं। फिर बोले,—हे राजन्! मैं ऐसेही अनेक निन्दनीय कार्यों में निरन्तर निमग्न रहता हूं। अतः मेरे जैसे परोपकारमें असमर्थ व्यक्तिको अनुरोध करनेसे क्या होना है? जो व्यक्ति समर्थ हो, उसकी आराधना करना उचित है ॥ १--५ ॥ जड़ (ब्राह्मण पुत्र) वोला,—मुनिकी ये बातें सुनकर कार्त्तवीर्यने गर्गमुनिके वाक्योंका स्मरण कर दत्तात्रेयको प्रणाम किया और कहा,—हे देव ! इस प्रकार मुझे मोहमें क्यों डालते हैं ? आप अपनी मायाके साथ सम्मिलित होते हैं, इस कारण आप पाप रहित हैं; और ये देवी समस्त संसारकी अरणि स्वरूप हैं; अर्थात् यज्ञकी अग्नि उत्पन्न करनेकी लकड़ीसे जिस प्रकार वह उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इनसे चराचर विश्व उत्पन्न हुआ है; अतः ये भी पाप रहित हैं। राजाके इस प्रकार कहने पर मुनिवर अत्यन्त प्रसन्न होकर जिन्होंने महीतलको वश किया था, उन महाभाग कार्त्तवीर्यार्जुनसे बोले,—हे पार्थिव ! वर माँगो। तुमने जिस गुह्य विषयको कहा, उससे मुझे अत्यन्त सन्तोष हुआ है ॥ ६-९ ॥ हे राजन् ! जो मद्य मांस रूप उपहार और घृतयुक्त मिष्टान्न देकर, ब्राह्मणोंकी पूजा करते हुए गीत गाकर और वीणा, बाँसुरी, शङ्ख प्रभृति मनोरम वाद्य बजाकर गन्धमाल्यादि द्वारा लक्ष्मी सहित मेरी पूजा करते हैं, उनको मैं पुत्र और धनादि प्रदान कर परम सन्तुष्ट करता हूँ तथा अपमान तथा अपघात आदि सब विघ्नोंका विनाश करता हूँ। हे राजन्! मेरे गुह्य नामके कीर्तन करनेसे मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं। अतः जो शुभ वर पानेकी तुम्हारी इच्छा हो, वह मांगो ॥ १०-१३ ॥ कार्त्तवीर्यने कहा,-देव ! जो आप मुझ पर प्रसन्न हुए हैं, तो मुझे ऐसी ऋद्धि प्रदान करें, जिससे मैं अनायास प्रजापालन कर सकूँ और कभी पापभागी न होऊँ। मैं चाहता हूँ कि, कोई कहीं गया हो, उसे मैं जान जाऊँ; रणमें मेरे सामने कोई प्रतिद्वन्द्वी खड़ा न रह सके; मेरे सहस्रबाहु हों, पर उनका मुझे भार प्रतीत न हो; जल, स्थल, आकाश, पर्वत, पाताल आदि सभी स्थानोंमें मैं बेरोक टोक गमन कर सकूं और किसी श्रेष्ठ मनुष्यके हाथों मेरी मृत्यु हो। हे देव ! जिससे मैं कुमार्गमें प्रवृत्त लोगोंको सन्मार्गमें ले जाऊँ, मुझे प्रशंसनीय अतिथि मिलते रहें और मैं अक्षय्य दान

करता रहूं; राज्यमें कोई मेरा नाम ले, ता नष्ट द्रव्य मिल जाया करे और आपके चरणकमलों-में मेरी निरन्तर अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे ॥ १४-१८ ॥ दत्तात्रेयने कहा,—हे राजन्! तुमने जो जो कहा है, मेरे प्रसादसे वह सब तुम्हें प्राप्त होगा और तुम चक्रवर्ती राजा होगे। जड़ने कहा,—अनन्तर कार्त्तवीर्यार्जुनने मुनिवर दत्तात्रेयको प्रणाम किया और समन्त प्रजाको बुलाकर भलीभाँति अपना राज्याभिषेक करा लेना स्वीकार किया। राज्याभिषेकोत्सवमें समस्त गन्धर्व, अप्सरागण, वशिष्ठादि ऋषिगण, सुमेरु आदि पर्वत समूह, गङ्गा आदि नदियाँ, जल संवृत सातों समुद्र, प्लक्ष आदि सब वृक्ष, इन्द्रादि समस्त देव, वासुकि आदि सब नाग, गरुड़ादि पक्षिवृन्द और पुरवासी तथा नगरनिवासी सभी साज-बाज और दल-बल सहित प्रसन्न होकर दत्तात्रेयके प्रसादसे उपस्थित हुए और ब्रह्मादि देवता शान्ति मन्त्र पाठ करने लगे ॥ २०-२४ ॥ फिर अधर्म नाश और धर्म संस्थापनाके निमित्त समुद्र, नदी और ऋषियों सहित दत्तात्रेयरूपी नारायणके द्वारा वे अभिषिक्त हुए। मुनिवर दत्तात्रेयके प्रसादसे अतुल ऐश्वर्य पाकर और महान् बलवान होकर हैहय राज्यपद पर अधिरूढ़ होनेपर उन्होंने घोषणा की कि,—आजसे मेरे अतिरिक्त जो अस्त्र ग्रहण करेगा, वह परहिंसारत और चोर समझा जाकर मेरे हाथों मारा जायगा ॥२५-२८॥ राजाकी यह आज्ञा घोषित होनेपर उनके राज्यमें उनके अतिरिक्त कोई महापराक्रमशाली आयुधधारी मनुष्य विद्यमान न रहा। उस समय वे ही अकेले ग्रामपालक, पशुपालक, क्षेत्र रक्षक, ब्राह्मण रक्षक, तपस्विरक्षक और धन रक्षक थे। वे ही परवीरनाशक राजा अकेले चोरों, सांपों, अग्नि, लुटेरों और शस्त्रादि, भयरूपी समुद्र तथा अन्यान्य आपदाओंके संकटमें पड़े हुए मानवोंके रक्षा कर्ता थे। एकमात्र उनका नाम उच्चारण करनेसे ही मानवगण समस्त आपत्तियोंसे उद्धार पा जाते थे ॥ २९-३१ ॥ वे राजा जब राज्यशासन करने लगे, तब राज्यमें किसीका धन चुराया या खोया नहीं जाता था। उन्होंने नाना यज्ञकर दक्षिणाके विनिमयमें अनेक वर प्राप्त किये। उन्होंने उग्र तपस्याकी और अनेक संग्राम किये, उनका वह अत्यन्त ऐश्वर्य और सम्मान देखकर बृहस्पतिके मुखसे निकल पड़ा कि, अन्य कोई राजा, यज्ञ तपस्या, दान, संग्राम चेष्टा अथवा किसी विषयमें कार्त्तवीर्य की बराबरी नहीं कर सकता। वे राजा जिसदिन दत्तात्रेय मुनिसे अतुल ऐश्वर्य प्राप्त किये थे, उसी दिन उन्होंने दत्तात्रेय याग किया था और प्रजागणने भी भूपालकी परम ऋद्धिमत्ता

टीका:—सनातनधर्मके अनुसार राजाका शरीर राज्याभिषेक यज्ञ द्वारा देवताओंके पीठमें परिणत किया जाता है। उस समय विशेष विशेष देवताओंका आवाहन किया जाता है और वृक्षादि के पल्लव तथा समुद्रादिके जल आदिकी सहायतासे उनकी अधिदैव देवताओंका आहवान किया जाता है। राज्याभिषेक पद्धतिसे यह रहस्य प्रकट हो सकेगा ॥ २५-२८ ॥

देखकर भक्तिभावसे उस यज्ञमें योगदान किया था। यही उन चराचर गुरु, अन्तहीन, महात्मा, धीमान दत्तात्रेयरूपी विष्णुका माहात्म्य है। शार्ङ्गधन्वा, शङ्ख चक्र गदा धारी, अप्रमेय अनन्तदेवकी उत्पत्तिकी कथा नाना प्रकारसे नाना पुराणोंमें कही गयी है। जो व्यक्ति नारायणके परमरूपकी चिन्ता करता है, वह सुखी होकर तुरन्त ही संसारके बन्धनोंसे छूट जाता है। जो (भगवान्) सदा कहा करते हैं कि, वैष्णवगणकी भक्तिसे मैं सुलभ हूं; फिर ज्ञात नहीं होता कि, साधारण जन उनका आश्रय क्यों नहीं ग्रहण करते। अधर्मके विनाश और धर्माचारोंके प्रवर्तनके लिये वे ही अनादिनिधन देव (जगतकी) स्थिति और रक्षा करते हैं। अब मैं पितृभक्त, राजर्षि, महात्मा अलर्कका जन्म कैसे हुआ और मुनिवर दत्तात्रेयने उसे योग विद्याकैसे सिखायी, यह विषय कथन करता हूं, आप सुनिये ॥ ३२-४२ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणका दत्तात्रेय प्रकरण नामक एकोनविंश अध्याय समाप्त हुआ।

बीसवाँ अध्याय।

जड़ने कहा,—प्राचीन कालमें शत्रुजित नामक एक राजा हुआ। वह बड़ा ही पराक्रमी था। उसके यज्ञमें सोमरस पान करके इन्द्रदेव बहुत प्रसन्न हुए थे। उस राजाके एक पुत्र था। वह भी उसीके समान शत्रुओंका नाश करनेवाला और महाबलशाली था। वह बुद्धिमें वृहस्पति, पराक्रममें इन्द्र और रूप लावण्यमें अश्विनीकुमारोंके समान था। राजपुत्रके साथ जो अन्य राजकुमार सदा रहते थे, वे भी वयस्, बुद्धि, बल, विक्रम और उद्योगमें उसके अनुरूप ही थे। कभी वे सब शास्त्रोक्त विषयोंकी विवेक पूर्ण विवेचना करते और कभी काव्यचर्चा, गीत श्रवण, तथा नाटकादिमें मन लगाते थे। राजपुत्र कभी पाँसा खेलते, कभी शास्त्रालाप करते, कभी अस्त्र विद्याका आनन्द लेते, कभी विनयमें रत रहते, कभी, योग्य व्यक्तिके साथ मल्लयुद्ध करते और कभी हाथी, घोड़े, रथ आदि विद्याओंका

टीकाः—जिस प्रकार मृत्युलोकमें भगवान् कृष्णचन्द्रका पूर्णावतार माना जाता है, उस प्रकार देवलोकमें भगवान् दत्तात्रेयका पूर्णावतार समझने योग्य है। प्रवृत्ति और निवृत्तिके ऐश्वर्योंका एकाधारमें समावेश जहाँ हो, कर्मयोग और ज्ञान योगका एकाधारमें जहाँ समावेश हो, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्तिका एकाधारमें जहाँ समावेश हो और अध्यात्म सिद्धि अर्थात् ज्ञान सम्बन्धी सिद्धि, अधिदैव सिद्धि अर्थात् दैवी क्रिया निष्पन्न करनेकी सिद्धि (अष्टसिद्धि आदि) और अधिभूत सिद्धि अर्थात् लौकिक ऐश्वर्य समूह (बल आदि) इनका जिस अवतारमें एकाधारमें पूर्णता हो, वह पूर्णावतार कहाता है। यह पूर्णता जैसी भगवान् श्रीकृष्णमें पायी जाती है, वैसी भगवान दत्तात्रेयमें भी पायी जाती है। भेद इतना ही है कि, भगवान श्रीकृष्णका मानव विग्रह था और भगवान् दत्तात्रेयका देव विग्रह है ॥ ३२-४२ ॥

अभ्यास करते हुए अन्य राजपुत्रोंके साथ दिन रात खेला करते थे। उनको इस प्रकार निरन्तर खेलते हुए देखकर अनेक समानवयस्क ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके बालक प्रसन्नतासे उनके साथ खेलनेके लिये आ जुटते थे। कुछ काल यों ही व्यतीत होनेपर एकबार नागराज अश्वतरके दो पुत्र नागलोकसे महीतलमें उपस्थित हुए। दोनों तरुण और मनोहर थे। दोनों ब्राह्मणका रूप धारण किये थे। वे उस राजकुमार और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बालकों के साथ नानाविधि मनोरञ्जन करते हुए इतने हिलमिल गये कि, वहीं रहने लगे। सब राजकुमार, ब्राह्मणकुमार, वैश्यकुमार और दोनों नागकुमार एक साथ नहाते धोते, वस्त्र पहिनते, चन्दन लगाते और यथा भाग भोजन करते थे॥ १-११॥ इस प्रकार राजपुत्रके प्रेमसे आह्लादयुक्त होकर वे नागकुमार प्रतिदिनही उसके यहां आने जाने लगे। राजपुत्रभी उनके साथ नानाप्रकारसे आमोद-प्रमोद और हँसी दिल्लगी करता हुआ बहुत सुख पाने लगा। अधिक क्या, उनके बिना राजपुत्र भोजन, स्नान, मधुपान क्रीडा, या अपनी गुणवृद्धिके लिये शस्त्रास्त्र भी नहीं ग्रहण करता था। नागपुत्र भी उस राजपुत्रके विरहमें दीर्घनिःश्वास करते हुए किसी प्रकार पातालमें रात बिताते और दिन उगतेही उसके पास आजाते थे। इसी भांति कुछ काल बीतने पर नागराज अश्वतरने एक दिन अपने दोनों पुत्रोंसे पूछा,—हे प्रियदर्शन पुत्रो! तुम मर्त्यलोक पर इतने क्यों रीझ गये हो? बहुत दिनोंसे दिनमें मैं तुम्हें पातालमें नहीं देखता, रातमें देखता हूं, इसका कारण क्या है॥ १२-१७॥ जड़ने कहा,—नागराजके दोनों महाभाग पुत्रोंसे जब स्वयं पिताने ही इस प्रकारकी जिज्ञासा की, तब उन्होंने प्रणामपूर्वक हाथ जोड़कर निवेदन किया कि, हे तात! मृत्युलोकमें शत्रुजित् नामक राजाका एक पुत्र है, जिसका नाम ऋतुध्वज है। वह रूपवान्, सरलचित्त, शूर, मानी, मधुरभाषी, बिना पूछे उत्तर न देनेवाला, विद्वान्, मिलनसार और गुणोंका आकर स्वरूप है। वह माननीयोंका मान करता है वक्ता, स्वयं बुद्धिमान्, लज्जावान् और विनयसे विभूषित है। उसके आदरातिथ्य और प्रेम व्यवहारसे हमारा मन अत्यन्त आकृष्ट हो जानेसे वैसा प्रेम हम नागलोक हो या भूलोक, अन्य किसी स्थानमें नहीं पाते। पिताजी! उससे बिछुड़ जानेपर हमें पातालकी शीतल रात भी परितप्त करती है और उससे मिलनेपर रविकी किरणोंसे प्रखर दिन भी आह्लादजनक प्रतीत होता है॥ १८-२२॥ पिताने कहा,—वत्स! वह पुण्यशील पुत्र धन्य है, जिसकी तुम जैसे गुणवान् पुरुष उसके परोक्षमें प्रशंसा करते हो। अनेक विद्वान् बुरे स्वभावके होते हैं और अनेक मूर्ख सुशील होते हैं। परन्तु मैं समझता हूं कि शास्त्रज्ञ और सुशील वह राजपुत्र धन्यसे भी धन्य है। जिसकी मित्रताके गुण मित्र द्वारा वर्णित होते हैं और शत्रु भी जिसके पराक्रमका वर्णन करते हैं, अनेक सन्तान होते हुए भी पिता उसी

पुत्रके कारण पुत्रवान् कहा जा सकता है। जो हो, वत्स! उस उपकारी मित्रके चित्त सन्तोषके निमित्त तुम्हारे द्वारा उसका कोई अभिवांछित सिद्ध हुआ है? देखो, जिसके पाससे याचक कभी विमुख होकर नहीं लौटते और मित्र भी कभी विफलमनोरथ नहीं होते, वह व्यक्ति ही धन्य है, उसीका जीवन यथार्थ जीवन है और उसीका जन्म शुभ जन्म है ॥ २३-२७ ॥ अतः अपने यहाँ सुवर्ण, रत्न, वाहन, आसन आदि जो कुछ हैं, उसमेंसे जो चाहो, उस मित्रका प्रेम सम्पादन करनेमें निःसंकोच भावसे उसे प्रदान कर सकते हो। हे वत्स! जो व्यक्ति उपकारी मित्रके प्रति प्रीतिरूपी उपकार नहीं करता और जीवन धारण करता है, उसके जीवनको धिःकार है और जो मेघके समान पुरुष मित्रोंपर उपकार और शत्रुओंपर अपकाररूपी जलकी वर्षा करते हैं, देवतागण सदा ही उनकी उन्नति हो, ऐसी इच्छा करते हैं। दोनों पुत्रोंने कहा,—हे पिताजी! जिससे याचकगण समस्त अभिलषित पदार्थों द्वारा निरन्तर तृप्त होते हैं, उस कृतकृत्य राजपुत्रका उपकार करनेको किसी-में शक्ति नहीं है। उसके पास जो सब रत्न, वाहन, आसन, यान, भूषण और वस्त्र हैं, हमारे पातालमें कहांसे आवें? उसके पास जो विज्ञान है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। हे तात! वह प्राज्ञ पुरुषोंके सन्देहोंको दूर करनेमें अत्यन्त श्रेष्ठ है। उसका एक कार्य अवश्य है; किन्तु हम समझते हैं कि, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरके अतिरिक्त वह और किसीसे पूरा हो नहीं सकता ॥२८-३४॥ पिताने कहा,—वत्स! बुद्धिमानोंके लिये संसारमें असाध्य कुछ भी नहीं है। फिर भी उसका साध्य अथवा असाध्य कैसा ही क्यों न हो, जो उत्तम कार्य है, उसको मैं सुनना चाहता हूं। जो मनुष्य दृढ़तर उद्योगी हैं, उनके लिये देवत्व, इन्द्रत्व अथवा उससे भी श्रेष्ठ पद पाना कोई कठिन नहीं है, जो मन, इन्द्रिय और आत्माको संयतकर किसी काममें दृढ़तासे लग जाते हैं, स्वर्ग, मर्त्य और पातालमें उनके लिये कोई बात अज्ञात, अप्राप्य अथवा अगम्य नहीं रह जाती। देखो छोटीसी चिऊँटी अत्यन्त उद्योगी होनेसे चलते चलते सहस्रों कोसकी यात्रा कर लेती है; परन्तु पक्षिराज गरुड़ निरुद्योगी होनेपर एक पैर भी आगे बढ़नेमें असमर्थ रहता है। निरुद्योगी मनुष्यके लिये गम्य अथवा अगम्य कुछ भी नहीं है। देखो, उत्तानपाद राजाके पुत्र ध्रुवने पृथ्वीपर रहते हुए दूसरोंके लिये दुर्लभ जो स्थान प्राप्त किया है, वह ध्रुवलोक कहां और पृथ्वी कहां? अतः हे पुत्रो! उस साधु महाभाग राजपुत्रका जिससे काम बने और तुम भी मित्र ऋणसे उऋण हो जाओ, वह कहो ॥ ३५-४० ॥ पुत्रोंने कहा,—पिताजी! उस उत्तम चरित्रवान् महात्मा राजकुमारकी कौमारावस्थामें जो एक घटना हुई थी, वह हमको उसने आद्योपान्त सुनायी थी। उसने कहा था,—किसी समय गालव नामक एक बुद्धिमान् द्विज श्रेष्ठ एक सुंदर घोड़ा लेकर शत्रुजित् राजाके निकट आकर कहने लगे कि,—महाराज! कोई पापी दैत्या-

धम मेरे आश्रममें आकर सब कुछ ध्वंस कर डालता है। वह अहर्निश सिंह, हाथी तथा अन्यान्य छोटे शरीर वाले वनचर जन्तुओंका रूप धारण कर ऐसा विघ्न करता है कि, मेरे समाधि ध्यान युक्त अथवा मौनव्रत धारण किये हुए रहनेपर मेरा चित्त विचलित हो जाता है। महाराज ! आप उसे क्रोधाग्निसे दग्ध करनेमें समर्थ हैं। मैं इस विषयमें असमर्थ हूं। मानलिया जाय कि, मैं यह काम कर भी सकूँ, तौ भी ऐसा अवैध कार्य करके चिरकालसे दुःखोपार्जित तपस्याका अपव्यय करना मैं नहीं चाहता। जो हो, राजन् ! एक दिन मैं उस (दैत्य) से अत्यन्त क्लेश पानेके कारण उदास होकर दीर्घ निःश्वास परित्याग कर रहा था कि, उसी क्षण आकाशसे यह घोड़ा टपक पड़ा। साथ ही आकाशवाणी हुई, सो मैं कहता हूं, हे नरनाथ ! आप सुनिये। दैव वाणी हुई कि,—हे द्विज श्रेष्ठ ! तुम्हें यह जो घोड़ा मिला है, यह सूर्यकी तरह अश्रान्त भावसे सारे भूमण्डलमें घूम सकता है। पाताल, आकाश, जल अथवा पर्वत कहीं उसकी गति कुण्ठित नहीं होगी। यह समस्त दिशाओंमें भ्रमण करनेमें समर्थ होगा। यह अश्व अविश्रान्त रूपसे समस्त भूमंडलमें गमन करनेमें समर्थ होनेके कारण 'कु-वलय' के नामसे प्रसिद्ध होगा। हे द्विज श्रेष्ठ ! शत्रुजित् नामक राजाका पुत्र ऋतुध्वज इस अश्वरत्न पर आरोहण कर जो पापी दानवाधम रातदिन तुम्हें क्लेश दिया करता है, उसे मार डालेगा और इस अश्वके द्वारा ख्यातिलाभ करेगा।" राजन् ! इसी हेतुसे मैं इसे लेकर आपके पास उपस्थित हुआ हूं। आप मेरी तपस्याके पुण्यके भागी हों और उस तपोविघ्नकारी दैत्यका विनाश करें। हे भूपाल ! मैं जो यह अश्वरत्न लाया हूं, उसे ग्रहण कर अपने पुत्रको ऐसी आज्ञा करिये, जिससे धर्मका लोप न हो ॥ ४१-५५ ॥ अनन्तर धर्मात्मा शत्रुजित् ब्राह्मणका वह वाक्य श्रवण कर बड़े ही विस्मित हुए। उन्होंने मङ्गलाचारादि सम्मानपूर्वक अपने पुत्र ऋतुध्वजको उस घोड़ेपर चढ़ाकर मुनिवर गालवके साथ विदा किया। मुनिने भी ऋतुध्वजको साथ लेकर अपने आश्रमकी ओर प्रस्थान किया ॥ ५६-५७ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणका कुवलय प्राप्ति नामक
बीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

इक्कीसवाँ अध्याय ।

—०:#:०—

पिताने कहा,—मुनिवर गालवके साथ जाकर उस राजपुत्रने क्या किया, वह कहो। वत्स! तुम्हारी यह कथा बड़ी विचित्र है। दोनों पुत्र बोले:—राजपुत्र ऋतुध्वजने गालव मुनिके मनोहर आश्रममें रहकर ब्रह्मवादियोंके समस्त विघ्नोंका नाश कर दिया। वीर कुवलयाश्व गालव मुनिके आश्रममें वास कर रहा है, यह मद और गर्वसे उन्मत्त दैत्याधमको विदित नहीं था। इसीसे वह सूअरका रूप धारण कर सन्ध्योपासनामें निमग्न गालवको सतानेके लिये उनके आश्रममें आया, शूकर मूर्ति धारण कर उसने ज्योंही दुष्टता करना आरम्भ किया, त्योंही मुनि शिष्य गण तार स्वरसे चीत्कार करने लगे। वह सुनते ही राजपुत्रने धनुष धारण कर अश्वपर शीघ्र आरोहण किया और वराहको लक्ष्यकर उस पर धावा बोल दिया। मनोहर चित्रकारी जिस पर की गयी थी, उस धनुषको उसने ताना और अर्धचन्द्राकार बाणसे शूकरको आहत कर दिया। वह दैत्य उसके बाणसे आहत होकर अपने प्राण बचानेके लिये पर्वतों और वृक्षोंसे व्याप्त महारण्यमें घूमने लगा। पिताकी आज्ञासे (ब्राह्मण रक्षामें) नियुक्त हुए राजपुत्रके संकेतसे मनके समान वेगवाला वह अश्व भी अत्यन्त वेग से उस दैत्यके पीछे दौड़ा। तब वह वेगवान दानव बड़े वेगसे सहस्रयोजन भागकर पृथ्वीके गर्भमें बने हुए एक गढ़ेमें कूद पड़ा-॥१-६॥ उसके पीछे वह अश्वारोही राजपुत्र भी उस अन्धकाराच्छन्न बड़े गढ़ेमें कूदा। परन्तु फिर वह सूअर राजपुत्रको कहीं दिखाई नहीं दिया। जब राजपुत्र प्रकाशमय पातालमें पहुंचा, तो वहां भी उसे वह दैत्य देख नहीं पड़ा। पातालमें पहुंचने पर राजपुत्रको वहां सैकड़ों सोने के महलोंसे भरी और सुन्दर प्राकार (चारदीवारी) से घिरी अमरावतीके समान एक नगरी दिखाई दी। उस नगरीमें प्रवेश करनेपर वहां एक भी मनुष्य नहीं देख पड़ा। अनन्तर इधर उधर घूमते हुए शीघ्रतासे जाती हुई एक रमणीको उसने देखा। राजपुत्रने उस कृशाङ्गीसे जिज्ञासा की,-तुम किसकी ओरसे भेजी जाकर किसके पास जा रही हो? उसके इस प्रकार पूछनेपर उस भामिनीने कोई उत्तर नहीं दिया। वह शीघ्र गतिसे एक अटारी पर चढ़ गयी। राजपुत्रने अश्वको वहीं एक स्थानमें बांध दिया और आश्चर्ययुक्त होकर निःशङ्क भावसे उस कामिनीका अनुसरण किया ॥१०-१५॥ महलके ऊपर चढ़कर राजपुत्रने देखा कि, सोनेके पलङ्गपर सकामा रतिके समान एक युवती बैठी हुई है। उसका मुख मेघ रहित चन्द्रमाके समान था, नितम्ब और स्तन पुष्ट थे, रूप मनको हर ले रहा था, ओठ बिम्बाफलके समान थे, शरीर न अति स्थूल न अति दुर्बल ही था, नील कमलके

समान आंखें थीं, अङ्ग अङ्गमें यौवन भरा था, नख कुछ उन्नत और आरक्तवर्ण थे, देह अति कोमल था, हथेली और पैरोंके तलवे लाल थे, हाथीकी सूँडकी तरह ऊरुयुगल सुडौल थे, दन्तपंक्ति सुन्दर थीं और केश काले महीन और लम्बे थे । राजपुत्रने अनङ्गलताकी तरह उस सर्वाङ्गसुन्दरी कामिनीको पातालकी देवता ही समझा। उस कल्याणी रमणीने भी नीले और घुंघराले बालोंसे सुशोभित पीनवक्ष, पीनस्कन्ध और पीनबाहु राजकुमारको अवलोकन कर जाना कि, ये ही रतिपति कामदेव हैं। फिर उस कृशाङ्गी महाभागाको बड़ा चित्त-क्षोभ हुआ और वह सहसा उठ खड़ी हुई । ज्यों ही उसने आंख उठाई, त्यों ही वह लज्जा-विस्मय और दीनताके वशीभूत होगयी और सोचने लगी कि यह कौन है; देवता है, यक्ष है, गन्धर्व है, नाग हैं या विद्याधर है अथवा कोई पुण्यवान मनुष्य इस स्थानमें आया है। इस प्रकार वह मदिरेक्षणा पातालमें नाना प्रकारकी कल्पना करती हुई लम्बी उसासें भरने लगी और पलङ्ग पर बैठकर सहसा मूर्छित हो गयी। राजपुत्र भी उस समय काम बाणके आघातसे व्यथित हृदय होकर कोई भयकी बात नहीं, है डरोमत, यह कहते हुए उसे ढाढस बँधाने लगा और जो रमणी उसे पहिले देख पड़ी थी, वह ललना अत्यन्त व्याकुल होकर ताड़के पंखेसे उसे हवा करने लगी ॥ १६-२५ ॥ अनन्तर राजपुत्र बहुत आश्वासन देकर उसे जब सुधमें लाया, तब उससे उसकी मूर्छाका कारण पूछने लगा। किन्तु उस लज्जावती कामिनीने उससे कुछ न कहकर अपनी सखीसे सब निवेदन किया। उस भामिनी (सखी) ने भी उसके उपदेशानुसार राजपुत्रके देखनेसे ही उसे क्यों मूर्छा आगयी, इसका कारण और उस रमणीका समस्त वृत्तान्त विस्तृत रूपसे राजपुत्रको कह सुनाया। सखीने कहा,—हे प्रभो ! स्वर्गमें विश्वावसु नामक जो गन्धर्वराज हैं, यह सुभ्रू (सुन्दर भौंहोंवाली) उन्हींकी कन्या है और इसका नाम मदालसा है। एक दिन यह अपने उद्यानमें खेल रही थी कि, अवसर देखकर वज्रकेतु नामक पातालवासी दानवका पुत्र, जो पातालकेतुके नामसे विख्यात है और जो बड़ा ही उग्रमूर्त्ति और शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ है, वह दुरात्मा अपनी तमोमयी मायाको फैलाकर इस असहाय बालाको उठा लाया। उस समय मैं वहाँ नहीं थी ॥ २६-३० ॥ आगामी त्रयोदशीको वह असुर इसके साथ विवाह करेगा। परन्तु शूद्र जिस प्रकार वेदोंकी श्रुतिका अधिकारी नहीं होता, उसी प्रकार वह असुर भी इस सुन्दरीके योग्य पात्र नहीं है। जो हो, कलकी बात है कि, जब यह आत्महत्या करने पर तुल गयी, तब सुरभिने कहा कि, बेटी ! यह दानव तुम्हें प्राप्त नहीं करेगा। यह जब मृत्युलोकमें जायगा, तो जो व्यक्ति इसे बाणसे आहत करेगा, वही व्यक्ति शीघ्र ही तुम्हारा पति होगा। मैं इसकी सखी हूं और मेरा नाम कुण्डला है। मैं विन्ध्यवानकी मनस्विनी

कन्या और वीर पुष्कर मालीकी पत्नी हूं। मेरे पति देव शुम्भके हाथों मारे गये, तबसे मैं अपना परलोक बनानेका निश्चय कर दिव्य गतिसे (आकाश मार्गसे) नाना तीर्थोंमें भ्रमण करती रहती हूं। दुष्टात्मा पाताल केतुने आज वराहका रूप धारण किया था। मुनिगणको रक्षा करनेके निमित्त किसीने आज उसे बाणसे विद्ध किया है। यह बात सच्ची है या नहीं, इसका पता लगानेके लिये मैं त्वरासे गयी थी, तो देखा कि, सचमुच किसीने उसे बाणसे आहत किया है। अब यह जो मूर्छित होगयी, इसका कारण सुनिये। हे मानद! इसने जबसे आपको देखा, तभीसे यह आप पर अत्यन्त रीझ गयी है। क्योंकि आप देखनेमें देवपुत्रके सदृश हैं और मधुर भाषण आदि अनेक गुणोंसे युक्त हैं। परन्तु जिस व्यक्तिने उस दैत्यको विद्ध किया है, उसके सिवा अन्य किसीकी यह अर्धाङ्गिनी हो नहीं सकती। इसीसे इसको अत्यन्त मोह प्राप्त हुआ और इसे मूर्छा आगयी। क्यों न मूर्छा आवे? (इच्छित वर न मिलनेसे) इसे आजीवन दुःख भोगना होगा। देखिये, इसका मन आप पर अनुरक्त है, किन्तु दूसरा ही कोई इसका पति होगा। क्योंकि सुरभिका वचन मिथ्या हो नहीं सकता। अतः अब इसे सारा जीवन दुखमें ही बिताना पड़ेगा ॥३१–४१॥ प्रभो! मैं दुखिया इसके प्रेमके कारण इसके पास आयी हूं। क्योंकि सखीके देह और अपने देहमें कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् दोनोंके सुख दुःख समान हैं। यह शोभना यदि अपने चित्तके अनुसार वीर पतिको पा जायगी, तो मैं भी निश्चिन्त होकर तपश्चरण कर सकूंगी। अस्तु, हे महाभाग! आप कौन हैं और यहां किस हेतुसे आपका आगमन हुआ है? क्या आप देवता हैं, दैत्य हैं, गन्धर्व हैं, पन्नग हैं या उरग हैं। क्योंकि यहां मनुष्य आ नहीं सकता और मनुष्यका देह भी आप जैसा नहीं होता। अतः मैंने जिस प्रकार सब सत्य बातें कहीं, उसी प्रकार आपभी अपना सब यथार्थ वृत्तान्त कहिये। कुवलयाश्व, (ऋतुध्वज) ने कहा हे धर्मज्ञे! तुमने जो यह पूछा कि, आप कौन हैं और यहां आप किस लिये आये हैं, तो हे निर्मल चित्तशीले! मैं आरम्भसे अपना सब वृत्तान्त कहता हूँ, तुम श्रवण करो। मैं राजा शत्रुजितका पुत्र हूं। हे शुभे! मैं पिताकी आज्ञासे मुनिगणकी रक्षाके निमित्त गालवमुनिके आश्रममें आया था। वहां धर्मचारी मुनियोंकी रक्षा कर रहा था कि इतनेमें कोई सूअरका रूप धरकर मुनियोंको (तपस्यामें) विघ्न करनेके लिये आ पहुंचा ॥४२–४८॥ मैंने जब उसे अर्धचन्द्राकार बाणसे विद्ध किया, तो वह बड़े वेगसे भागा, मैंने भी घोड़ेपर चढ़कर उसका पीछा किया। अनन्तर वह एक गढ़ेमें कूदा, तो मैं भी घोड़े सहित उस गढ़ेमें कूद पड़ा फिर घोड़े पर चढ़ा हुवा मैं अकेला इधर उधर घूमता हुआ प्रकाशमें आया, तो तुम मुझे देख पड़ीं। तुमसे पूछने पर भी जब तुमने मुझे कोई उत्तर नहीं दिया, तब तुम्हारे पीछे पीछे मैं भी इस महलमें चला आया। यह सब मैंने अपना वृत्तान्त सत्य कहा है।

हे शुचिस्मिते ! देवता, दानव, पन्नग, गन्धर्व अथवा किन्नर इनमेंसे मैं कोई नहीं हूं, मैं मनुष्य हूं। हे कुण्डले ! समस्त देवता आदि मेरे पूज्य हैं। मेरे मनुष्य होनेमें तुम किसी प्रकारका सन्देह न करो ॥ ४६-५३ ॥ नागपुत्रोंने कहा,—राजकुमारका वृत्तान्त सुनकर वह भामिनी कन्या (मदालसा) अत्यन्त आल्हादित होकर लज्जाके कारण जड़के समान हो, सखीका सुन्दर वदनमण्डल निहारने लगी और कुछ बोल नहीं सकी। तब सखी कुण्डला भी अत्यन्त प्रसन्न चित्तसे मदालसासे कहने लगी कि,—हे सुरभिवचनानुगे ! इन्होंने सब यथार्थ ही कहा है। फिर राजपुत्रसे बोली,—हे वीर ! आपने जो जो कहा, वह सब सत्य और असन्दिग्ध है। ऐसा न होता, तो आपको देखते ही इसका हृदय आपमें इस प्रकार स्थिर कैसे होता? देखिये, उज्ज्वल कान्ति चन्द्रमामें, प्रभा रविमें, ऐश्वर्य धन्य पुरुषमें, धृति वीरमें और शान्ति उत्तम पुरुषमें ही रममाण होती है। अतः अपने उस दानवाधमको विद्ध किया है, इसमें सन्देह नहीं है। गोमाता सुरभि कभी झूठ कह नहीं सकती। आपसे सम्बन्ध प्राप्त कर मेरी यह सखी धन्य और सौभाग्यवती हुई है। अतः हे वीर ! अब यथाविधि जो कर्त्तव्य है, उसका आप अनुष्ठान कीजिये ॥ ५४—५६ ॥ नागकुमार बोले,—पिताजी ! राजपुत्रने कहा,—मैं पराधीन हूं। पिताकी आज्ञाके विना इस बालासे मैं कैसे विवाह कर सकूँगा? कुण्डलाने कहा,—आप ऐसा न कहें। यह देवकन्या है, इसके साथ आप विवाह कीजिये। राजपुत्रने कुण्डलाकी बात मान ली। जब विवाहकी बात पक्की हो गई, तब कन्या मदालसाने अपने कुलगुरु तुम्बरुको स्मरण किया। स्मरण करते ही मन्त्रवेत्ता तुम्बरु उसी समय समिधा और कुश हाथमें लेकर वहां उपस्थित हो गये। उन्होंने मदालसाके प्रेम और कुण्डला के गौरवका विचार कर मदालसाको मङ्गल वस्त्राभूषण पहिनाकर और वैवाहिक होमकर सब विधि सम्पन्न किया और इस प्रकार मदालसा और ऋतुध्वजको वैवाहिक सूत्रमें बांध दिया। फिर जहांसे वे आये थे, वहीं अपने आश्रममें तपस्याके निमित्त चले गये ॥६०—६४॥ फिर सखी कुण्डलाने मदालसासे कहा हे वरानने ! तुम रूपवती हो। तुम्हारा इन (राजपुत्र के साथ मिलन हुआ देख मैं कृतार्थ हुई। अब मैं तीर्थोंमें जाकर वहांके जलसे अपना पाप धोऊंगी और विशुद्ध हृदयसे अतुल तपस्या करूंगी; जिससे मेरी फिर यह अवस्था न हो, अर्थात् जन्मान्तरमें मैं विधवा न होऊं। जब वह जानेको उद्यत हुई, तब सखी (मदालसा) के स्नेहके कारण उसका कण्ठ भर आया। रुक रुक कर बोलने लगी। मदालसाके आश्रयसे रहनेके कारण वह विनीत हुई और राजपुत्रसे बोली, हे अपरिमित बुद्धिमान् ! प्राज्ञ पुरुष भी आप जैसे व्यक्तिको उपदेश देनेमें समर्थ नहीं हो सकते। मैं स्त्री हूं, मेरी तो बात ही क्या है ? इसीसे मैं आपको उपदेश नहीं देती। किन्तु इस सखीके स्नेहमें मेरा मन अत्यन्त

आकृष्ट हुआ है और आपके द्वारा मैं आश्वसित (विश्रम्भित) हुई हूं। इस कारण हे अरि-सूदन ! आपको कुछ स्मरण करा देती हूँ कि, पतिके द्वारा पत्नीका सर्वदा रक्षण और पालन होना चाहिये। पत्नी भर्तृसहायिनी (पतिको सहायता देनेवाली) होनेसे धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी भलीभांति सिद्धिकी कारण होती है। भार्या और भर्ता दोनों जब परस्परके वशवर्ती होते हैं, तभी धर्म, अर्थ, और काम तीनोंकी सङ्गति होती है, धर्मादि त्रिवर्ग भार्यासे ही प्राप्त होनेके कारण जिस प्रकार पुरुष भार्याके विना धर्म, अर्थ और कामको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते, इसी प्रकार स्त्रियां भी पतिके विना धर्मादि साधनमें सक्षम नहीं हो सकतीं। क्योंकि धर्म, अर्थ, और काम दाम्पत्यको ही भलीभांति आश्रय करके रहा करते हैं। हे राजनन्दन ! भार्या न हो, तो अकेला पुरुष देवता, पितृ, सेवक और अतिथिका पूजा-रूपी धर्माचरण करनेमें समर्थ नहीं होता। पुरुष अनायास प्राप्त अर्थको अपने घर ले भी आवे, तो पत्नीके न रहने पर अथवा दुष्टा भार्या होनेपर वह सब नष्ट हो जाता है। भार्याके न रहनेसे कामकी चरितार्थता नहीं होती, यह तो प्रत्यक्ष ही जाना जा सकता है। अधिक क्या कहूं ? स्त्री और पुरुष दोनों यदि समान धर्मका अवलम्बन करें, तभी वे त्रयीधर्मका लाभ करनेमें समर्थ होते हैं। पुरुषको यदि साध्वी पत्नीकी प्राप्ति हो तो उससे पुत्रोत्पादन करने पर पितृगणको, अन्नादि साधन द्वारा अतिथियोंको और पूजादि द्वारा देवताओंको सन्तुष्ट किया जा सकता है। स्वामीके विना स्त्रियोंके धर्म, अर्थ, और कामका भी अच्छी तरह विस्तार नहीं हो सकता। क्योंकि यह त्रिवर्ग दाम्पत्यभाव पर ही समाश्रित है। जो हो, आप दोनोंके निकट मेरा यही निवेदन है कि, इस समय मुझे अनुमति दें, तो मैं अपने इच्छित स्थानमें चली जाऊं। मैं आशीर्वाद देती हूँ कि, आप दोनों परस्पर मिलकर धन, पुत्र, सुख और दीर्घायु प्राप्तकर फूलें और फलें ॥ ६५-७८ ॥ नागराजके पुत्रोंने कहा,—कुण्डलाने इस प्रकार उपदेश देकर और अपनी सखीको आलिङ्गन तथा राजपुत्रको नमस्कार कर अपने इच्छित स्थानमें गमन किया। तब शत्रुजित् राजाके पुत्र ऋतुध्वजने मदालसाको अपने साथ उस (कुवलय) अश्वपर चढ़ाकर ज्योंही पातालसे निकलकर जाना चाहा, त्योंही दानवोंको इसका पता लग गया। "पातालकेतु जो कन्यारत्न स्वर्गसे लाया था, वह हरी जा रही है, हरी जा रही है" ऐसा कहकर सब दैत्य चिल्लाने लगे। अनन्तर पातालकेतु सहित दानव सैन्यपरिघ, खड्ग, गदा, शूल बाण आदि आयुध लेकर "ठहर ठहर" कहता हुआ राजपुत्रपर शर, शूल आदि अस्त्रोंकी वर्षा करने लगा। उस समय अतिबलशाली शत्रुजितके पुत्रने हंसते हंसते लीलामात्रसे अपने बाणोंके द्वारा दानवोंके सब अस्त्र छिन्नविच्छिन्न कर दिये। तब ऋतुध्वजके बाणोंके द्वारा दानवोंके खड्ग, शक्ति, ऋष्टि, बाण आदि टूक टूक होकर इतने गिरे कि, उनसे क्षणमात्रमें पाताल पटगया।

फिर राजपुत्रने 'त्वाष्ट्र' नामक अस्त्र ग्रहण कर दानवोंपर फेका। उस भयङ्कर अस्त्रसे आगकी लपटें निकल रही थीं। उस अस्त्रमें पातालकेतु सहित सब दानवोंकी हड्डियां चूर-चूर होगयीं। यही नहीं, कपिल मुनिके तपस्तेजसे सगर पुत्र जिस प्रकार भस्म हो गये थे, उसी प्रकार क्षणमात्रमें उन दानवोंकी वे टूटी-फूटी हड्डियां भस्म हो गयीं ॥ ८०—८८ ॥ इस प्रकार असुर कुलका नाशकर वह राजपुत्र (ऋतुध्वज) उस स्त्रीरत्न (मदालसा) को साथ लेकर घोड़ेपर सवार हो, अपने पिताकी राजधानीमें आ पहुँचा और उसने पिताको प्रणामकर पाताल गमन, कुण्डलासे भेंट, मदालसाप्राप्ति, दानवोंके साथ युद्ध, अस्त्रद्वारा उनका संहार, पुनः लौटआने आदिका सब वृत्तान्त कह सुनाया। इस प्रकार उस सुन्दर चरित्रवाले पुत्रका चरित्र श्रवणकर उसके पिता परम प्रसन्न हुए। उन्होंने पुत्रको छातीसे लगा लिया और कहा, हे पुत्र! जिसके द्वारा धर्मशील मुनिगण भयसे रक्षित हुए, उस महात्मा सत्पात्र [पुत्र] के द्वारा मैं भी तरगया। हे वत्स! मेरे पूर्व पुरुषोंद्वारा जिसकी प्रसिद्धि हुई और मैंने जिसका विस्तार किया, हे वीर! तुम्हारी पराक्रमशीलतासे वह यश बहुतही बढ़गया है ॥ ८९—९४ ॥ देखो, पिताके द्वारा जो यश, बल अथवा धन उपार्जित हुआ हो, उसे जो नष्ट नहीं होने देता और सुरक्षित रखता है, वह पुरुष 'मध्यम' कहाता है। औरजो व्यक्ति पितासे भी बढ़करवीर्यशाली होकर अपनी शक्तिके द्वारा यश, बल और धनको बढ़ाता है, प्राज्ञ पुरुष उसका 'उत्तम' कहकर गौरव करते हैं। तथा जो व्यक्ति पिताके द्वारा उपार्जित यश, बल और धनको नष्ट कर देता है, वह पण्डितों के द्वारा 'अधम' कहकर वर्णित होता है। अस्तु, वत्स! मैं पहिले केवल ब्राह्मणोंकी ही रक्षा कर सका था, किन्तु तुमने ब्राह्मणोंकी रक्षाके साथ ही साथ पाताल गमन और असुर विनाश भी किया है। अन्ततः मुझसे अधिक कार्य करनेके कारण तुम्हारी गणना 'उत्तम' पुरुषोंमें की जा सकती है। हे बालक! तुम धन्य हो और मुझसे भी अधिक ऐसे गुणशाली तुम जैसे पुत्रको प्राप्त कर पुण्यवानोंमें मैं प्रशंसाके पात्र समझा गया हूं। हे वत्स! जो व्यक्ति पुत्र द्वारा और प्रज्ञा, दान, अथवा पराक्रमके द्वारा विशेषताको प्राप्त नहीं करता, मेरी समझमें वह व्यक्ति पुण्यका आनन्द नहीं पा सकता ॥ ९५—१०० ॥ जो मनुष्य पिताके द्वारा लोगोंमें प्रसिद्ध होता है, उसके जन्मको धिक्कार है। किन्तु जिस पुरुषकी पुत्रके द्वारा ख्याति होती है, उस सुपुत्रको जन्म देनेवाले पिताका जन्म सार्थक है। जो अपने नामसे विख्यात होता है, वह धन्य पुरुष उत्तम है। जो पिता-पितामहके नामसे प्रसिद्ध होता है, वह मध्यम है। और जो पुरुष मातृपक्षसे प्रसिद्धि पाता है, वह अधम है। हे वत्स! तुम्हारा धन, बल और सुख दिन दूना रात चौगुना बढ़े और इस गन्धर्वतनयाका तुमसे कभी विच्छेद न हो। पिताके इस प्रकार कहने

और आलिङ्गन करनेके उपरान्त राजपुत्र नयी पत्नी मदालसाके साथ अपने आवासमें विदा हुआ । फिर उस पत्नी मदालसाके साथ मिलकर वह पिताके घर तथा अन्यान्य उद्यान, वन और पार्वत्य प्रदेशोंमें क्रीड़ा करने लगा । शुभमयी, कृश कटिवाली मदालसा

टीकाः—ऋतुध्वज और मदालसाका सम्वाद नाना पुराणोंमें नाना प्रकारसे पाया जाता है और इस सम्वादमें विचित्रता भी अनेक प्रकारकी है । इस कारण पाठकोंके शंका समाधानके लिये, विचारकी आवश्यकता है । जिससे इस पवित्र गाथाके समझनेमें सुभीता हो और शंकाओंका अवसर न रहे । यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि, वेद और पुराणशास्त्रमें समाधि भाषा, लौकिकी भाषा और परकीय-भाषा तीनोंके प्रयोग अलग अलग आते हैं और उनके लक्षण अलग अलग हैं । परन्तु किसी किसी विशेष लक्षणयुक्त गाथाओंमें इन तीनों भाषाओंका सम्मिलित प्रयोग पाया जाता है । उदाहरण रूपसे कहा जाता है कि, श्राद्धमें पिण्डभक्षण और तत्पश्चात् फलसे मदालसाकी पुनरुत्पत्ति जैसे विषय लौकिक भाषाके हैं । धर्म-शास्त्रीय उपदेश और अध्यात्म शास्त्रीय-उपदेशसमूह समाधि भाषाके विषय हैं और यह परकीय-भाषामयी गाथा नाना कल्पोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण विभिन्न पुराणोंमें इसका रूपान्तर पाया जाता है । हम यह पहिले ही लिख चुके हैं कि, पुराणोंमें जहां नाम और रूपका सम्बन्ध है, उस विषयका वहां त्रिभावात्मक विज्ञान होना अवश्यसम्भावी है और हम यह भी दिग्दर्शन करा चुके हैं कि, समष्टि सृष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले जीवन चरित्रका आविर्भाव विभिन्न कल्पोंमें हुआ करता है और तत्तत्कल्पोंके देश, काल, पात्रानुसार उन गाथाओंमें भेद प्रतीति होना भी सम्भव है । जैसे कि, शुकदेवका जो चरित्र विष्णुभागवतमें है और जो चरित्र देवीभागवतमें है, उसके देखनेसे इस बातकी सत्यता जानी जायगी । शुकदेवका आविर्भाव सृष्टिके क्रमके नियमानुसार एक ही होनेपर भी विभिन्न कल्पोंके देश, काल और पात्रोंके अनुसार चरित्रभेदका वर्णन स्वाभाविक है । यह चरित्र भी उसी प्रकार विभिन्न कल्पोंमें आविर्भूत होनेवाला है और नाना कल्पोंके देश काल पात्र और शक्तिके अनुसार इन चरित्रोंमें भेद प्रतीति भी होगी । इस अलौकिक चरित्रमें और बहुत सी विचित्र घटनाओंका उल्लेख है । यथा,—गन्धर्वलोक, पाताललोक और मृत्युलोकका पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा देखा जाता है, जैसा इस समय देख नहीं पड़ता । अश्व आदिमें ऐसी शक्तिका होना, जैसा इस समय देखनेमें नहीं आता । देवपिण्ड और मानवपिण्डके जीवोंमें परस्परमें विवाह होना और उससे मानवी सृष्टिका उत्पन्न होना, जो इस समय देखनेमें नहीं आता । पाताललोक असुरलोक होनेपर भी उसमें परोपकारी दैवी सम्पत्तिशाली जीवोंकी उत्पत्ति होना और आसुरी प्रजामें अथवा दैवी प्रजामें भी मनुष्यके सदृश तपस्याकी प्रवृत्ति होना, इत्यादि । इन सब वर्णनोंके पाठ करनेसे साधारण पाठकोंके हृदयोंमें पुराणकी असङ्गतता प्रतीत होती है । परन्तु उसका कारण असङ्गतता नहीं, आध्यात्मिक ज्ञानका अभाव ही है । लौकिक इतिहासके पाठ करनेसे जाना जा सकता है कि, दो चार हजार वर्षोंके अन्दर ही जीवसृष्टि, मनुष्य सृष्टि और आधिभौतिक सृष्टिमें कितने बड़े बड़े अन्तर दिखायी पड़ते हैं । सात सूंड़का हाथी अथवा तीन सूंड़का हाथी जो वर्त्तमान हाथीसे कई गुना बड़ा था; अथवा ऐसे ऐसे पक्षी जो शेरको उठा ले जा सकते थे, इत्यादि जीव पहिले थे, परन्तु अब उनका पता तक नहीं है और अभी उनके कंकाल भी मिलते हैं । इसी प्रकार भारतवर्षमें मिट्टीकी तरह सुवर्णको खोदकर निकालकर ढेर लगाया जाता था । इसका प्रमाण ग्रीस देशके इतिहासमें पाया जाता है । भारतवर्षकी भूमिकी वह शक्ति अब नष्ट हो गयी है । मनुष्योंके कंकाल अब भी इतने बड़े मिलते हैं, जैसे कि, सत्ययुगके मनुष्योंका वर्णन पाया जाता है । थोड़े ही दिनोंमें सृष्टिका जब यह परिवर्त्तन देखनेमें आता है, तो कल्पान्तरमें

भी प्रतिदिन प्रातःकाल सास-ससुरकी चरण वन्दना करतीं और पतिके साथ रममाण होने लगी ॥ १०१—१०६ ॥

इस प्रकार मार्कण्डेय महापुराणके कुवलयाश्वीय-प्रकरणान्तर्गत मदालसा परिणयन नामक इक्कीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

अलौकिक परिवर्त्तन और अलौकिक भेद प्रतीतिका होना सम्भव ही है । मनुष्यके ४३२०००० वर्षोंकी सत्य, द्वापरादि युगोंकी एक चौकड़ी होती है । इस प्रकारके ७१ महायुग अर्थात् चौकड़ी बीत जानेपर एक मन्वतर कहाता है । अर्थात् उस समय काल प्रमापक देवता मनु बदल जाते हैं और इस प्रकारके १४ मन्वन्तरोंका एक कल्प होता है । ऐसे प्रत्येक कल्पमें नवीन सृष्टिमें अनेक अलौकिक विचित्रता होगी, इसमें सन्देह नहीं है । अतः किसी किसी कल्प विशेषमें सृष्टिकी शक्ति और उसमें उत्पन्न जीवोंकी शक्ति अलौकिक अथवा नूतन भावोंको धारण किया करती है । सुतरां किसी किसी कल्पमें पाताललोक, स्वर्ग-लोक और मृत्युलोकका पारस्परिक सम्बन्ध हो सकता है. इसमें सन्देह करनेकी कोई बात नहीं है । अब भी इसी युगमें कहीं कहीं प्रमाण मिलता है कि, प्रेत योनि और मनुष्ययोनिका सम्बन्ध होता है । इतना अवश्य है कि, इस प्रकारकी मैथुनी क्रियासे सृष्टि नहीं होती । देवयोनि अथवा असुरयोनियोंमें दैवी सिद्धियोंका अवसर रहनेसे उनके द्वारा सृष्टि भी हो जाना वर्त्तमान उदाहरणानुसार असम्भव नहीं है और पाण्डवादिकी उत्पत्ति इसी दैवी शक्तिका फल है, ऐसा सुगमतासे मान सकते हैं । कल्पान्तरकी इसी दैवी शक्तिके आविर्भावके अनुसार हस्ती, अश्व, गोआदि पशुओंमें अलौकिक दैवी शक्तिका विकास होना असम्भव नहीं है । नागलोक आदि पाताललोकके अन्तर्गत हैं और गन्धर्वलोक आदि सप्तस्वर्गमेंसे भुवर्लोकके अन्तर्गत है । यद्यपि सप्तपातालमें असुरोंका और सप्तस्वर्गमें देवताओंका निवास है, परन्तु देवलोक और असुरलोक दोनों ही दैवी सृष्टिके अन्तर्गत हैं और असुर भी एक प्रकारके देवता ही हैं । क्योंकि दोनोंका पिण्ड देवपिण्ड कहाता है । ऐसा होनेपर भी जैसी मनुष्य पिण्डमें दैवी, आसुरी और राक्षसी इस प्रकार त्रिविध सृष्टि देखनेमें आती है, जैसा कि, हम पहिले कह चुके हैं, वैसी ही असुरलोकमें और देवलोकमें भी यह त्रिविध सृष्टि पायी जाती है । भेद इतना ही है कि, असुरलोकोंमें आसुरी सृष्टिका आधिक्य होता है, देवलोकोंमें दैवी प्रकृतिके पिण्ड अधिक मिलते हैं और मृत्युलोकमें तीनों तरहके पिण्ड मिलनेपर भी विभिन्न कालके समष्टि कर्मोंके अनुसार किसी समय दैवी, किसी समय आसुरी और किसी समय राक्षसी प्रजाका आधिक्य दिखायी देता है । अतः असुरलोकमें दैवी सम्पत्तिके जीवोंका होना सम्भव ही है । तपोधर्म जीवमें अलौकिक शक्तिका संचार कराता है और तपोधर्मके द्वारा साधक असम्भव सम्भव कर सकता है । स्वर्ग, पाताल और मृत्युलोकमें जो अलौकिक शक्तियां अथवा ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं वे तपके द्वारा ही प्राप्त होते हैं, अतः देवताओं और असुरोंमें तपकी प्रवृत्ति होना अस्वाभाविक नहीं है और एकमात्र मृत्युलोक कर्मभूमि होनेके कारण असुरों और देवताओंको भी तपः सिद्धिके लिये मृत्युलोकका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है ।

बाईसवां अध्याय ।



नागराजतनयोंने कहा,—तदनन्तर कुछ काल बीतने पर राजा शत्रुजितने अपने पुत्र ऋतुध्वजको फिर आज्ञा दी कि, हे वत्स ! तुम ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये शीघ्र यात्रा करो और पृथ्वीमें पर्यटन करो। प्रतिदिन प्रातःकाल इस घोड़े पर चढ़कर देखा करो कि, श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको कहीं कोई कष्ट तो नहीं है। सैकड़ों पापी और दुराचारी दानव हैं, उनसे मुनिगणको किसी प्रकारकी बाधा न हो, ऐसा यत्न करो। पिताकी इस प्रकार आज्ञा पाकर राजपुत्र ऐसा ही करने लगा। वह प्रतिदिन प्रातःकाल ही पृथ्वी पर्यटन कर आता और लौट कर पिताके चरणोंकी बन्दना करता था। शेष समय उस क्षीण-कटि (मदालसा) के साथ मनोविनोद करते हुए बिताता था। इसी तरह प्रतिदिन विचरण करते हुए एक बार उसने पातालकेतु दानवका छोटा भाई तालकेतु जो यमुना तटपर आश्रम बनाकर निवास कर रहा था और जिस मायावी दानवने मुनिका रूप अवलम्बन किया था, उसको देखा। उसने राजपुत्रके साथ पूर्व शत्रुताका स्मरण कर उससे कहा,-हे राजपुत्र मैं जो कहता हूं, यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो वह करो। हे सत्यप्रतिज्ञ ! तुमने कभी किसीकी प्रार्थना को विफल नहीं किया है। हे राजपुत्र ! मैं यज्ञ करना चाहता हूँ और अपनी अभिलषित इष्टियां (यज्ञाङ्गभूत विशेष हवन) तथा अग्निचयन भी करूंगा। परन्तु मुझमें दक्षिणा देनेकी शक्ति नहीं है। अतः हे वीर ! सुवर्णदानके लिये तुम अपना आभूषण यह गलेका हार मुझे दे दो। मैं प्रजाकी श्रीवृद्धि करने वाले वैदिक वारुण मन्त्रसे जलोंके अधिपति वरुणदेवकी जलमें बैठकर प्रार्थना करने जाता हूं। जब तक मैं लौट न आऊं तब तक तुम मेरे आश्रमकी रक्षा करो ! मैं शीघ्र ही लौट आऊंगा। इस प्रकार कहनेवाले उस मुनिको प्रणामकर राजपुत्रने अपने गलेका हार उतार दिया और कहा, हे महाभाग, निःसङ्कोच भावसे आप जाइये। आप जबतक लौट न आवें, तबतक आपकी आज्ञाके अनुसार आपके आश्रमके निकट ही मैं रहूंगा। मेरे रहते आपके आश्रमको कोई हानि नहीं पहुंचा सकता। हे ब्रह्मन् ! आप निश्चिन्त होकर शान्ति पूर्वक जाइये और अपना इच्छित कार्य साधन कीजिये ॥१-१४॥

नागतनयोंने कहा,—राजपुत्रके इस प्रकार कहने पर उस कपट मुनि तालकेतुने जलमें गोता लगाया और राजपुत्र उसके मायारचित आश्रमकी रक्षा करने लगा। अनन्तर तालकेतु (राजपुत्रकी दृष्टिसे अपनेको बचाकर जलसे) निकला और राजा शत्रुजितके नगरमें जा पहुंचा। वहां जाकर मदालसा और अन्यान्य लोगोंके सामने वह कहने लगा कि, जो वीर कुवलयाश्व मेरे आश्रमके निकट तपस्वियोंकी रक्षा करता था, उसका किसी दुष्ट दानवसे बड़ा युद्ध

हुआ । उस युद्धमें उसने अनेक ब्रह्मद्वेष्टा असुरोंको मार गिराया । परन्तु उस पापी दानवने अपनी मायाका आश्रय कर उस राजपुत्रकी छातीमें ऐसा शूल मारा कि, जिससे उसका हृदय विदीर्ण हो गया और उसके प्राण पखेरू उड़ गये । प्राणोत्क्रमणके समय उसने यह गलेका हार मुझे दिया और शूद्र तापसियोंने वनमें उसका दाहसंस्कार कर दिया । उसका घोड़ा आंखोंसे आंसू बहाता और त्रस्त होकर आर्तभावसे हिनहिना रहा था । उसे वह दुरात्मा दानव पकड़ कर ले गया । मैं पापी, नृशंस यह सब देखता रहा । अब आप लोगोंको जो कुछ अकालिक विधि करना हो, वह करें और यह छातीको जुड़ानेवाला कण्ठभूषण ग्रहण करें । मैं तपस्वी हूँ, मुझे सुवर्णसे क्या काम है ? ॥ १५—२२ ॥ नागपुत्रोंने कहा,—इतना कहकर और कुवलयाश्वके गलेका हार वहां रखकर वह तालकेतु जहांसे आया था, वहां चला गया । उस समय वहां जो लोग उपस्थित थे, वे सब शोकसे पीड़ित हो, मूर्च्छित होकर गिर पड़े । अनन्तर जब लोगोंको कुछ चेत हुई, तो राजा, रानी और समस्त अन्तःपुरवासिनी स्त्रियां अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगीं । मदालसाने पतिके गलेका हार देखकर और उसके निधनकी वार्ता सुनकर अत्यन्त कातर हो, तुरन्त अपने प्रियतर प्राणोंका परित्याग कर दिया । फिर राजभवनमें जिस प्रकार क्रन्दन ध्वनि उठी, उसी प्रकार प्रजाओंके भी घर घर रोदनका महाशब्द होने लगा । राजा शत्रुजित्ने जब देखा कि, पुत्रवधू मदालसाने पतिवियोगके कारण प्राणोंका परित्याग कर दिया है, तब शान्तचित्त होकर पासके लोगोंसे समझाते हुए कहा,—आप लोग रोदन न करें । क्योंकि आपके, हमारे और सभी प्राणियोंके सम्बन्धोंकी अनित्यता जब हम देखते हैं, तब क्या पुत्र और क्या पुत्रवधू, किसीके लिये हमें शोक नहीं करना चाहिये । दोनों कृतकृत्य हो गये हैं; अतः उनके लिये शोक करना उचित नहीं है । मेरा पुत्र मेरी सुश्रूषा करनेवाला था और मेरी ही आज्ञासे ब्राह्मणोंकी रक्षामें तत्पर होकर जब उसने प्राणत्याग किया है, तब उसके लिये शोक करना बुद्धिमानोंका कर्तव्य नहीं है ॥ २३—३० ॥ जो देह अवश्य ही अस्थायी है, मेरे पुत्रने उस देहको ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हुए छोड़ा है, अतः वह शोक करने योग्य नहीं है, उसका देहत्याग उसके लिये अभ्युदयकारी ही हुआ है । इसी तरह सत्कुलमें उत्पन्न हुई इस ललनाने जब पतिका अनुसरण किया है, तब इसके लिये भी शोक करना वृथा है । क्योंकि स्वामीके अतिरिक्त स्त्रियोंके लिये अन्य कोई देवता नहीं है । पतिवियोग होनेपर भी यदि यह जीवित रहती, तो हमें तथा बान्धवों और अन्यान्य दयावान् व्यक्तियोंको दुःखका कारण होता । इसने जब पतिनिधनकी वार्ता सुनते ही उसी क्षण प्राणत्याग कर दिया है, तब पण्डितगणको इसके लिये शोक नहीं करना चाहिये । जो रमणी 'पतिका देहपात होनेके पश्चात् जीवन धारण

In this issue

हिन्दी

संस्कृत



Blessings and Good Wishes

The Hon'ble Minister Shree Mahesh Prasad Sinha, former President of the Governing Body of the college and one of the builders and a great friend of this institution,—writes :

"Dear Shri Prasad,

Thank you for your letter requesting me to send message for the special issue of 'Maitreyee' to be published from your college. I am very happy to find that the college has grown stronger gradually. My thoughts go back to the days when Dr. Ramashish Thakur and his friends made laudable efforts for the establishment of this institution. He had a desire to see it grown into a full-fledged institution which would serve the needs of the locality. I hope, this institution, by its service to the people under your leadership and with the co-operation of your colleagues, will rise further high and be of great service to the people.

Yours sincerely,
M. P. Sinha."

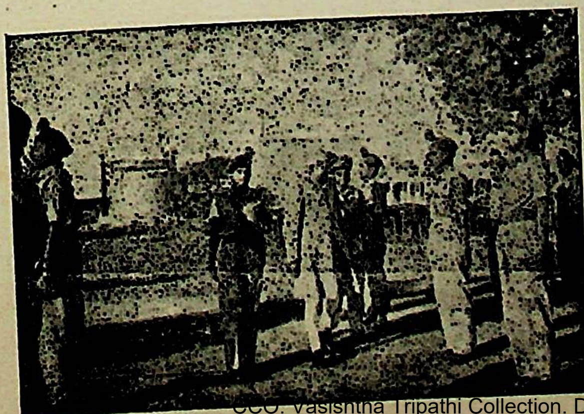
Col. Dr. P. L. Srivastava, M. A., D. Phil. (Oxon), F. N. I. Vice Chancellor, Bihar University, affectionately counsels the teachers and the students of this college, and blesses the publication :

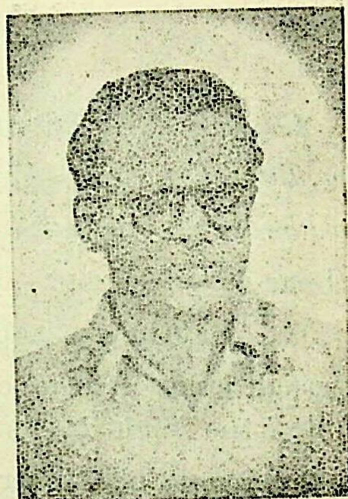
"Dear S

I am very happy to know that your college is bringing about a special issue of the college magazine. May I appeal to the teachers to follow the high ideals of their profession ? Their character, conduct, manners and behaviour are not only their concern but also of the nation. Students of the college can always be judged by the standard of learning and conduct set by their teachers. To students I would say that the future of the country depends upon the manner in which they train themselves for the task ahead. No nation can achieve anything unless it is disciplined and united. The future of the State lies in the hands of those young men and women, who would rise above narrow prejudices of caste, creed, and provincialism.

I wish the venture every success.

Yours faithfully,
P. L. Srivastava,
Vice Chancellor."





Sri Sachidanand Pd. I. A. S., former Vice President of the college Governing Body, whose keen interest and laudable efforts salvaged the institution at a most critical period of its history,—wishes :

"My dear Shambhuji,

I am very happy to learn that a special issue of the magazine 'Maitreyee' of the S. R. K. Goenke College is going to be brought out. Between August 1953 and June 1954 as the Sub-divisional Officer, Sitamarhi, I was intimately associated with the college. It was then totterig for lack of funds. The professors, and the students of the college, the elite and the leaders of the town and the sub-division, and the people in general, by their splendid and united efforts raised the necessary funds, not only to solve its immediate problems, but to get it affiliated for Degree classes, as a result of which the continuity and the future of the college was assured. I hope, whoever happen to be incharge of the management of the college will remember this trust and affection which came from the people for this institution, and set a noble and inspiring example, so that the affairs of the college are never marred by narrow considerations. Needless to say that the institution will always have my best wishes. Nothing will give me greater delight than to see this institution carve for itself a place of pride and affection in the heart of the people.

Yours sincerely,

S.Prasad."

Editorial Notes

The Name 'Maitreyee'

The first issue of the college magazine 'The maitreyee' saw the light of the day in 1958. Our college (S. R. K. G. College) was ushered into existence on the 28th July, 1949. Thus there was a gap of nine years between the inception of the college and the publication of this magazine. In our retrospect of these nine years we traced the growth of the institution from an intermediate college to the degree standard and recorded in some detail the laudable efforts of its founder, builders and pioneers contributing to its phenomenal progress. We also rendered a meet and glowing tribute to their glorious achievements and apportioned the appropriate measure of eulogy which was their due. In order to present a vivid and realistic picture, we must needs allude to some relevant passages from our editorial of the first issue. The review of the first nine years will naturally lead to a survey of the last seven, which witnessed various vicissitudes. But before we plunge into the long narrative, we deem it desirable to solve the mystery of the name 'Maitrayee,' to throw more light upon it and to show how eminently apposite the title is, and thus satisfy the curiosity of most of our friends and other readers. There can be no denying the fact that truth is stranger than fiction, and never was truth stranger than the strangest fiction than in the case of Maitreyee.

Maitreyee was the most learned and cultured lady of ancient Mithila or Videh, the land of the great philosopher-king, Janak. As her name suggests, she was the "lovely, loving and lovable" spouse of the illustrious sage Yagnyavalkya (याज्ञ वल्क्य) she scorned the primrose path of pelf and pleasure and forsook a life of ease and com-

fort and she gladly chose a life of renunciation and dedication to the lofty ideal of emancipation or salvation. Her criterian of value was immortality. She rejected wealth because it could never bring immortality to her. She belonged to the Vedic or post Vedic age which preceded the epic age of the Ramayana. Her story is related in the Brihadaranyaka Upanishad as also in the Chhandogya Upanishad (छान्दोग्य उपनिषद्). Sage Yagnyavalkya desired to enter Sanyas (सन्यास) after having spent the Vanaprastha stage with his two wives: (1) Gargi or Katyayani (कात्यायनी) and (2) Máitreyee. On the eve of his departure or exit from the Vanaprastha stage, he addressed his young wife Maitreyee and said "Lo, verily, Maitreyee, I wish to leave you and set out on my wanderings. I am anxious to make a inal settlement for you and Katyayani. Then spake Maitreyee, "If, sir, the whole earth filled with wealth were mine, shall I attain immortality?" When the sage replied "through wealth there is no hope of immortality," Maitreyee said, "what shall I do with that which does not make me immortal." Maitreyee was consumed by intense longing for immortality and her fervent yearning found vent in those classical and immortal lines beginning with असतो मा सदगमय etc. This sublime symphony has gone down the ages, reverberating through the corridors of centuries. In the words of John Keats, 'Heard melodies are sweet, but those unheard are sweeter, Maitreyee's message with its haunting rythm is like the music of the spheres which is that superb music made by the stars and the planets revolving in their orbits but incapable of being heard by ordinary mortals. Shakespeare puts it in the mouth of Lorenzo in Act V, Merchant of Venice :

But while this muddy vesture of decay
Doth grossly close it in, we cannot hear it.

In a famous passage of the Brihadaranyak Upanishad where the great sage and philosopher Yagnyavalkya expounds his philosophy to his wife Maitreyee, the process of the development of intuitive thought and spiritual vision into intellectual terms can be clearly seen. Philosophy consists not merely of ideas but more charac-

teristically, of relations of ideas, according to the remarkable statement of Immanuel Kant: "..The Upanishads spell out the brief letter of the Vedic hymns into vistas of philosophical thought, expanding the seed ideas into clear patterns of living, leading man from darkness to light, from unreality to reality and from death to immortality."

The wonderfully correct appraisal of true and eternal spiritual values made by Maitreyee bears eloquent testimony to her vast learning marking the culminating point of knowledge (Vedanta) and showing the dizzy height to which female education could attain in ancient time. Maitreyee is surely the miracle of noblest Aryan culture. She possessed the learning of Saraswati, though she was not a Goddess but the devoted consort of the great sage and philosopher Yagnyavalkya. All votaries of learning must worship at her 'sovran shrine', for she is to us what Minerva, the Roman Goddess of wisdom was to the Romans and the Muses, the nine sisters were to the Greeks. By evincing our keen interest in her life and philosophy and invoking her blessings on our college magaizne and linking her hallowed name to it, we have made a rediscovery of her undoubted and unquestioned greatness, the halo of her holy name will illuminate the path of wisdom and rectitude for us. The aura of her pure and bright life and philosophy should instil into our hearts the deep love for spiritual values which alone can lead to regeneration of mankind. Maitreyee has left behind no peer, but she has left a name which "posterity will not willingly let die."

'The Winter' and 'The Spring'

We must now turn to the main and recurrent theme of the magazine which is "the chief organ and mouth piece of a college, voicing its aspirations, ideals and traditions." Towards the close of a considerable review on the last occasion, we struck a jubilant note of hope and elation and exclaimed with the prophetic ardour of Shelley : "Oh wind ! If winter comes, can spring be far behind ?" The prophecy came true. The spring was not far behind; it did come, but its visit was fleeting and transcient. It was much shorter, yet more glorious and the winter which followed in its wake was much longer, more severe and

even more tragic than ever before. The tale of the seven years which intervened between the first issue and the current, is the tale of ups and downs of the college, its sunny spring and summer and its bleak and gloomy winter. Our imagination loves to look back upon, and to linger more, on the peak period of its progress and prosperity and delight, to dwell at length on those halcyon days when the members of the college staff regarded themselves members of a grand fraternity and a splendid joint family and they acted in concert and cooperation and lived in amity and harmony.

Our Late Principal

The moment we visualise this ideal, almost utopian, society, described above, the memory of the creative force, the prime mover and builder and maker of our college, flashes across our mind. It was our Principal B. M. Misra who played such a dominent role in shaping and moulding the destiny of this college to nobler ends and elevating it to the status of the primier institution of this part of the state. An able orator, he held his audience spell bound; a forceful writer, he won the hearts of his readers by cogent and convicing argument; an engaging talker, he captivated his listeners by his unique mode of presentation; an original thinker he sprang an agreeable surprise upon his admiring hearers by his novel and romantic theses. The hardest problem and the severest obstacle only tapped the richest resources of his brilliant comprehending mind and released the series of scintillating thoughts and piquant ideas which helped him in tactfully tackling the most baffling problems which ever cofronted him. We owed it entirely to his incentive, inspiration and guidance that the professors put forth vigorous concerted and concentrated efforts and stood like one man whenever occasion demanded it and contributed, each in his own way to the collection of the huge amount of security deposit for degree affiliation and to the general welfare of the collge. We disired to have affiliation of the collage to the B. Sc. & B. Com. (besides B. A.) classes, and our desires were fulfilled soon. Further we got affiliation in Honours classes in English, Potilical science, Economics, Mathematics, Hindi and Sanskrit. The num-

erical strength of the college students mounted to the formidable figure of 1100 or more and the department of English was manned by seven professors and the department of Hindi by six, and the other departments too swelled in number. Succeeding generations of students tried to emulate the high tradition of laurels won by our first graduates who scored not less than 76% and thus broke fresh grounds in the annals of university examination results. We have published elsewhere a chart containing the list of some of the laureates of the college viz, the examinees of this institution who toppd the list of successful students at the university examination in Arts, Science and Commerce. The list is only illustrative and not exhaustive.

Principal's Quarter

The construction of new buildings of novel and tasteful designs was a kind of abiding passion and strong hobby with our late Principal. He had a surprising flair for and almost uncanny skill in exploring fresh avenues for the uplift of the college. Among the buildings which were constructed during the period under review, the lordly mansion and the stately edifice built at an enormous cost, merits special mention. We mean the Principal's quarter which surpasses that of any other college,not only in point of design and style but also of equipment and accommodation. In the spacious grounds in front of the building which formed its big compound, there was a pleasant guarden where flowers of lovely hue and sweet perfume bloomed and blossomed and the fruit trees, the flower plants, and decorative crotons waved their green foliage in the gentle breezes which fanned them. This pretty lawn added to the grandeur of the mansion. It was the very summit of joy to loll on the verdant grass in the cool shade of trees and to dream dreams of a rosy future. Principal Misra took up his abode in this house in the third quarter of the year 1961. The next year in May, he celebrated with great pomp and eclat the sacred thread ceremony of his son and the marriage ceremony of his daughter. The place wore a gala appearance and resouded with gay hum of voices and the merry din of mirth. Everything went well for some time. Peace and prosperity reigned supreme.

Our Principal governed with tact and wisdom, and gave to the college a firm and stable administration. The professors—that bright band of selfless workers who had proved their worth in the supreme hour of crisis and the ardent architects of the future, like various musical instruments, contributed to the grand orchestra of college life and swelled the pitch and volume of the harmony to its full diapason. The Governing Body functioned freely and smoothly, and Sri Thakur Ramdeo Singh, the new Secretary entered upon his duty with sincere zeal and eager enthusiasm. He enjoyed the confidence and esteem of the members. Outwardly there was nothing wrong or amiss. The heart even yielded easily to the delusion that those bright days of "linked sweetness long drawn out" would not come to an end so soon. The Principal was at the height of his power and in the hey-day of happiness. The canker of carking care had surreptitiously crept into this ivory tower of art and culture and had begun to eat into the vitals of the bank of roses that blew in its sacred precincts. It sapped the energy of his not too strong a constitution, consumed his sensitive heart and corroded his delicate soul. Towards the end of 1962, he was afflicted with a fell desease and in the beginning of 1963 he was laid up with a wasting and obstinate malady which rendered him too weak and bed-ridden. We were then in blissful ignorance of the fact that that great Glutton Death smiled his grim smile and cast his sinister glance at his poor, pale, victim (Principal Misra). He was taken to Banaras and placed under the treatment of a most renowned physician. The news of his gradual recovery which we received from time to time lulled us into a false sense of security that God would spare him for many more years to come. But it was too fond and forlorn a hope to be fulfilled. One sad mornig in April, the heart rending tidings of his sudden death at Patna burst upon us like a bolt from the blue. It affected us deeply, stunned us powerfully and moved us to tears. It was the most terrible tragedy in the history of the college, and a most staggering blow to its fairest prospect. It was a most poignanty pathetic sight to see his children and other membres of his family leave the house and the place

where they had lived so happily for so many years. Cruel death laid his icy hands upon him and stilled the eloquent voice that had rung so resonantly in the halls of the collge. One can say boldy wthout any fear of contradiction that with all his faults, he lived the life of a dedicated spirit, with his thoughts centered on the uplift of the college and he died the death of a martyr to its cause.

Some of us believe that the dead do live after the death in the shape of spirits waiting for their reincarnation or rebirth and they sometimes visit the scenes which they loved in their earthly sojourn. Austin Dobson, a modern poet imagines such a visit and conveys to us the sense of writhing agony which the spirit, whom he calls love, feels when he visits his favourite dwelling and is overwhelmed with an over powering and appalling sense of gaping void and desolation caused by his death. This rondel, the fine poem with its exquisite rhythm and its caressing rhyme and its sweet refrain in the beginning, the middle and the close, depicts the profound pathos of the scene.

Love comes back to his
vacant dwelling,
The old, old love that we
knew of yore,
We see him stand by
the open door,
With his deep eyes sad and
his bosom swelling,
He makes as though, in
our arms repelling,
He fain would lie as
he lay before,
Love comes back to his
vacant dwelling,
The old, old love that we
knew of yore.
Ah! who shall help us
from over spelling,
That sweet forgotten,
forbridden lore,
E'en as we doubt, in our
hearts once more
With a rush of tears to our
eyelids welling,
Love comes back to his
vacant dwelling,
The old, old love that we
knew of yore.

In paying this tearful tribute to his memory we have only obeyed the logic of the heart. He is dead in the

physical sense, but he lives in his deeds and in his monuments. His name will go down in the history of the college as one of its greatest builders and pioneers.

An unwritten code of editorial etiquette enjoins upon us caution and reserve. The miserable state of affairs and the sad spectacle of chaos and disintegration, the unhappy sequel to the dark tragedy need not detain us here. After a spell of discord and disturbance the storm has blown over and the college life has returned to normalcy. A spirit of concord and harmony is now in the air. The very fact that we have risen from seven-year-slumber and shaken off our sloth and langour and have applied ourselves briskly to the publication of this magazine is a positive proof of the prevailing atmosphere of peace and tranquillity.

Our present Secretry and Principal

Our present secretary, Sri Hari Kishore Singh is a young man of briliant parts, imbued with a humanitarian ideal and possessed of missionary zeal. He carries the sober head of a shrewd statesman on his young shoulders. A seasoned pilot, he has braved the perils of a rough sea and has steered the ship of the college, clear of the shoals of adverse criticism and stout opposition and has brought it safely to the haven of repose and calmness. He has tided over the crisis and has solved most of the pressing problems of the institution. The colossal structure of the stupendous and imposing Science Block is a grand monument of his solid achievements. Last but not the least, our present Principal has uniformly displayed commendable tenacity of purpose in shouldering and discharging the onerous responsibilities of his office. He shares with the secretary the immense credit of having furnished strong and adequate stimulous for bringing out the magazine.

Teachers and Students

The moral of the students has remained invariably high despite the disturbed internal life of the college and this is evinced by the laurels won by them at the university examination. Some of the students who wore the laurel crowns in recent years are the following:

1. Sukomal Kant Das— D II Science First class first Hons. (Math.) 1964.
2. Md. Sajjad—D II Science (the only first divisioner in Bihar university in pass course) 1964.
3. Kaushlendra Kumar Singh— D II Com. Distinction in group C.
4. Harihar Pd.—D II Sc. Pass, First division, 1963.
5. Vimla Kumari—D II Arts - First class first Hons. (Sans.) 1963.
6. Awadhesh Kumar Sinha — D II Com. Distinction 1962.

During the period under review there are two teachers who achieved outstanding distinction. One is Prof. Madhusudan Mishra who was appointed a lecturer in Hindi at Frankfurt university, West Germany, and he joined his post in December 1964. The other is Prof. A.M. Das, a senior teacher of the department of English, who was elected a senator of Bihar University for a period of three years (1962–'65)

The reports of the different Societies printed in this magazine indicate that the extra curricular activities of the college during the period under review were sufficiently brisk and progressive.

Last year a team of enthusiastic and talented students under the leadership of Prof. S. Shankar Pd. and Prof. P. Pranjape made a trip to Dholi and participated in the competitions held for the third Inter University Youth Festival and our students gave a very nice performance in quite a number of items there. The one-act drama 'Chaar Namune' played by Baidyanath Pd., Bhola Prasad, Lalan Prasad Sahi, and Sachchida Nand Singh, was liked and appreciated most by all present there. Our students also staged a very successful Variety Entertainment show in the college in March last which included a drama, some comic scenes and music, and it was attended by a very large number of people, besides the college students.

Two of our stu ents, Ramsaran Agrawal and Ramchander Singh secured first and second positions respectively at the elocution competition held at Gopeshwar college Hathwa and this team won the trophy there. Ramsaran Agrawal also secured the second place in debate at the same competition. The other societies too, such as Prashad Parishad and the United Nations Student's

Association and others did very useful work during the session.

Blessings and Goodwishes

The current issue of the magazine is a prodigy of good fortune. It is a triumph of peace and the herald of a bright era of progress and prosperity. Its rare good fortune can be judged from a series of happy circumstances. It is the proud recipient of invaluable blessings and benediction of high personages like the Hon'ble Minister Sri Mahesh Prasad Sinha, the learned Vice Chanceller Col. P. L. Srivastava and Sri Sachchidanand Pd. I.A.S. The former was for many years the President of the G. B. and during his regime the college made giant strides, in many spheres commencing with the affiliation of the college to intermediate science. Our Vice Chanceller has the softest corner of his heart for this college and has been constantly evincing keen interest in the development of the college for the last four years or so. To Sri Sachidanand Pd., the then. S. D. O. of the place, belongs the great honour of having accomplished the Herculean task of netting a sizable sum of Rs. 67000/-at the eleventh hour, that is, a few days before the due date of depositing security money for affiliation of the college to degree standard—an honour which he shared with Dr. Ramashish Thakur and our late lamented Principal B. M. Mishra.

Dr. Ramashis Thakur

Some of the great pioneers and builders of the college have bestowed upon this favoured child of fortune their choicest blessings. Among the builders and pioneers of the institution Dr. Ramashish Thakur, occupies the foremost place. He is a magnanimous soul who consecrated the best years of his life to the cause of the college and paved and pioneered the path of its progress to a full fledged degree college. He proved a bulwark of strenghth to the college and stood by it in the darkest days of storms and stress, trials and tribulations. In the history of this institution, perhaps no name is greater than his—a name which will compel homage and which is synonimous with the growth and development of the college. The exceptionally fortunate circumstance and the most auspicious augry for the publica-

tion of this magazine is his complete recovery and total restoration to capital health. The college has been his cherished ideal which he has nurtured and naurished with his precious life-blood. The bright future of this institution, we hope, will be the greatest joy of his life. We have received an article from him which is being published in this magazine and it will indeed be a great token of his love and good-will towards the college.

Sri Savalia Bihari Lal Verma

The Maitreyee has evoked a warm response and has elicited quite rich crop of excellent articles which include that of Sri Savalia Bihari lal Verma Advocate, who succeeded Dr. Ramashish Thakur as Secretary and rendered yeoman's service to the college. The affectionate feeling that he bears in his heart for this college as for all concerned therewith, has all along proved a source of great inspiration to us in our development work and encouragement and solace in our hours of trial.

It will perhaps be no offence against good manner to say that our board of editors comprises a versatile personnel whose varied traits of taste, feeling and humour will cover the entire gamut of journalistic art and technique—a happy blending of the old and the new. It will be unfair on our part not to express our deep obligation to our managing editor Prof. Shambhu Shankar Pd. whose dynanic policy, polite yet firm, has given tempo and momentum to the work of publication and has accelerated the pace of our progress. Our heartiest thanks are also due to Prof. Satya narayan Pd. who, although not a member of the editorial board, volunteered himself to dô a lot of useful and valuable work in connection with this publication, including correction of articles of students.

In conclusion we owe a word of apology to our readers for having inflicted upon them the boredom of a long and rather tiring editorial.

—R. N. S.

IN MEMORIAM

Prof. V. B. Singh
Deptt. of English

He Lives Beyond Mortality

Suddenly he would enter the staff-room with, "Come on, let's have some chit-chat. Mind, only those of you who havedo n't classes to engage". Those who had, would curse missing him. In such moments of inspiration he would say things as useful as interesting. Purpose was always one with humour in him.

He would then sit and have a good look around and say, "Some of you, I find, are free····good."

"Yes sir," And a pause and then, "What a weather, sir." When he would interrupt. "Some tea perhaps ?" And all of us around him would laugh mildly for his quick grasp. Then tea.... and we with him. The sips of the tea and the clattering of cups would stop like an orchestral pause when he would open up his lips raising his head. We would see him now possessed by a strange dreaminess, so usual of him. He would say, "Gentlemen, the period of foundation is over, the phase of construction is on, then the time of cosolidation........well, you know, only then prosperity will follow us." Some of our older colleagues would nod to him in agreement, but we, the new-comers, wondered if all this meant something more than coherent expression of a learned man. But there was the past to tell us and there was our unsatisfied curiosity to make a rediscovery of it. This was his narration about the college emanating from the repertory of his personal experiences rather than idiosyncracy. The expression engulfed all the wounds that he sustained while fighting the battle for this institution like a brave general. He faced the odds and adversities without turning his back even for a solitary moment.

Do you ask me "who he was?" Well, certainly he was Mr. Mishra, B. M. Mishra, and then all of you seem to know him too well to want me to describe him. But then I have to, in spite of him and you all. Ah! the late Principal, late but never lost. He was the Colossus of this institution carrying the entire burden of its trials and tribulations, triumphs and failures, fortunes and misfortunes, the whole on his shoulders. He kept on his journey apace. He went on marching with steady strides. leaping from bound to bound whenever needed without fumbling or succumbing till he reached the safety-zone—till, of course, this college was established as one of the major insti tutions. But for him this college would have been, many say, a very very far-fetched possibility.

He came, he saw, and he conquered. This great man throughout his life maintained a bifurcated personality each aspect of which is a remarkable study in an organic character. As a fighter he had the essence in him of a brave soldier endowed with the finest qualities of leadership and discipline, sacrifice and devotedness, concentration and penetration. As a principal he had a rare power of and capacity for administration. He was at home with the unique tact of a successful and smooth administration–the adminstration which was essentially based upon liberal attitude and idealistic diplomacy. It was, in the last analysis, beneficial to all without any discrimination. This Titan was blessed with the rare qualities of nature. But the spirit of dedication in him transcends all. His life is an immortal saga of didication to the cause and purpose of this institution since its very inception—a great tale of a greatman who so used his limitations as yielded the vintage of fruits to the college and the college family of which he was the most illustrious and benevolent head. What a strange virtue! that he should be so thoroughly incapable of damaging or harming anyone, even his bitterest foe. Stranger still, that he should be found lauding feelingly the merits of those with whom he was otherwise ill at ease.

Should he make efforts to employ his talents to some better material lift, he was sure to go much higher

in life than where he closed. But his love for the college was too passionate for all this. He has brought it up with the life-blood of his spirit. As scholar he essentially was of the very select band. The teacher in him wielded strange effect of appeal and appreciation. He conjured up his vision in his subject and its deliverance like a finished artist with magic touches and never failed to hold his audience, his students, transported into a blissful state of infatuation. As an inventor he was critical. As a critic he was creative. The two in him were happily blended. As an orator, for oratory was his chief fad, he always thought aloud, and while hearing him, formally or informally, one would unavoidably be struck with his wonderful power of moulding material to his own use. His cunning contrivance and subtle artifice always worked together to produce ultimately an effect of ever lasting nature. He had a real, great power of assimilation and transformation both as writer and orator. He read a lot and of variety with Stevenson's "gift of reading" which was perhaps in his very blood. His imagination was esemplastic. He was one of the rarest stylists whom I have known so far. By far the greatest virtues to which he stuck obstinately but not impudently were 'originality' and 'novelty'. It is these that sum up his very approach to life. He loved these with Keat's passion for new words. He indulged in this as Byron in his romantic explorations. He was possessive in absoluteness as a scholar, a teacher, a speaker, and a writer. There was in him a constant intellectual unrest. He was never tired of learning and of making others learn.

The study of this great hero as a man is as complex as interesting. His appearance was highly baffling. He looked serious. He was essentially introvert with a dormant extrovert tendency. But beneath his dry appearance lay the real sap of life. Beneath his serious crust flowed a fountain of humour. Humour for him was the panacea of life otherwise not much worthy of its name. Life for him was a purposeful drama of fun with a spray of gloomy things. To enact it in its propriety, he believed, nothing could help one more than humour and wit. Humour was so

diffused in his blood, so mobile n his nerves, and so apulent with him that he was in complete cammand of the art of enjoying life as forcefully as of suffering it gracefully. His presence of mind was surprsingly sharp, his wit profusely crisp and his common sense strangely quick. His power of anticipation, of calculation, and of visualisation was perhaps next to none. He should have been a dictator but was saved at the same point from where man becomes either man or devil. He was a child of sentiments. A strong sentimentality governed and guided his pattern of behaviour. His conduct as a man was switched on or off by his heart rather than his brain. In the unguarded moments of his emotional swings he could easily be discovered.

He lived in a rarefied realm of human values from where man below does not look fallen to and sold for such meaner things that are the order of the day now. Basic goodness of man was his faith, its devaluation his obsession, and its contradiction his dilemma. Confronted with any challenge hurled against his faith he wa. tossed by turbulent tide of conflict within himself and would not rest till the restoration of it. His attitude towards life was marked by love and affection. Once I heard him say, "First endear and then scare". He knew life means love too well to be indifferent to it. Worldly prudence he liked, but to be above this, of course wisely, he loved. He was a staunch liberal, ever exalting in self-built status and self-laboured achievements tainted neither by foreign assistance nor even by family favours. "Self-respect" was his religion. He adhered to it with a clinching passion and benign rigidity. He remained undeterred and inexorable for any kind and amount of persuasion so far his priciples were concerned. He was large hearted for all practical purposes of life. His fits of temper were sooner resolved than retained. He would burst, grumble, and groan but at last, embrace. Above all, he was a visionary, who loved his own mental laboratory equipped with a colourful imagination and talented mind, quick to conceive and quicker to create for the translations of his dreams. He abhorred to stoop to the

region of prosaic human achievements. For this he was too poetic.

I found him more aften than not suffering for fellows. He treated life as a symbol of sufferage that purgates. He always lived and behaved with the image of perfection in his vision. He was imperfect no doubt, but enamoured of perfection both in his words and deeds, else he would not have known the value of concecration to the extent that he proved he knew. He loved men more but the college most. He has reduced his life to the dust of this institution in a way which is an all time model for all the succeeding generations. He has consumed the last flicker of his life, the last drop of his blood, and the last grain of his energy for and by and in this institution which now stands paupered by his premature and tragic death, premature for him who has thus engulfed in his life-time the very history of this college of which he was the most successful writer himself and tragic for us who have lost our greatest general and leader. But mortality has failed in him for h e is no more not as commonly no man will be any more. He is with us and will be hereafter all the more as greatest architect of the college and also as our greatest friend, philosopher, and guide. He has left behind him this institution besides other things for the world, which in itself is a monument of a befitting tribute to his cherished memory—this institution which has been, ever since his departure, echoing like Keat's Urn telling the world, the choir of his deeds and the hymn of his dreams. He so pervaded the atmosphere of this college that it will never be free of his presence that inspires and will inspire us "To strive, to seek, to find, and not to yield." He left us at the final phase of construction, nay simply hid himself to try us our capability which he so often tried then by his presence, but now is trying by his absence. Let us consolidate ourselves before taking up the gigantic task of consolidation. Now its use is doubly important. It will ensure prosperity for us. It will also ensure peace to the soul of our departed but undiminished Prinicipal who will guide us nevertheless but will enter our staffroom no more.

The Use Of Poetry in The Modern World

Prof. A. N. Thakur M. A.

(This Paper was read by Prof. Thakur, Dy Director, Text Book Bureau, Bihar, formerly Head of the Deptt. of English, L. S. College, Muzaffarpur, at an extra - ordinary meeting of the English Literary Association of this College.)

The subject has for me a personal urgency. During the last twenty years, I have come across, in course of my non-professional contacts, a large number of people who, immediately after we have been introduced to each other, have hurled at me the unvarying question: "Now, Professor, could you tell me what exactly is the use of poetry ?" And they have been quite right too. For they have found from personal experience that poetry does not matter to the modern world. It is not that they have become allergic to poetry. On the contrary they have grown immune to it. Those who pass through the portals of a university have necessarily to take their quota of bitter pills which we euphemistically call the poetry of a Milton, a Wordsworth or an Eliot, and this creates in them a distaste for poetry for the rest of their lives. (Incidentally, we teachers, are to blame for this. We try to hammer into the minds of our boys and girls that 'poetry is written not with ideas but with words', that 'poetry does not mean but is,' that poetry cannot be summarised or paraphrased, and just when these notions are settling into their minds, we try to bowl them out by asking them to bring out the leading ideas of the Immortality Ode or to summarise Ode to a Nightingale. No wonder the boys find poetry not thrilling but puzzling). When the layman turns his eyes from poetry to poets around him—the herds of poetasters crowding the restaurants and cinema halls, with their carefully careless, markedly uncouth appearance, their bohemian ways of life, unable to make poetry paying—he naturally wonders if poetry is of any use at

all in this materialistic world.

Of course, it is possible to silence some of these people by pointing out to to them the use, the very practical use, which poetry was put in the past in all cuntries of the world. It could, like magic, exercise control over the force of nature, it could charm away evils, it helped people beguile their time, gave them relief during arduous and monotonous work like reaping the corn or heaving heavy loads, and provided pleasure. (Most of you might have found labourers moving a heavy roller on the road, women reaping or thrashing the corn, singing in a chorus while at work, and wondered why they did so. They sing because it takes their mind off the work and gives them relief). These are very practical purposes for which poetry has been used in the past. The sophisticated people, hearing all this, may nod their heads in approval. But the common man cannot be so readily taken in. Believe me he is no fool, he is a very shrewd man, with a knack for putting the most uncomfortable, the most embarassing question. He is, therefore, likely to retort:" Granted that poetry was very useful in the past, I would like to know if it has any use today ? We do not believe in magic. As for charm, we reserve the word only for the smiles of cinema stars. In the mechanised countries of the west all the harvesting and thrashing are done with machines, heavy loads are lifted by cranes. Can poetry be of any help to them ? Poetry gives us headache, not pleasure. If we want pleasure we go to cinema houses or read a novel by Kushwaha Kant." Thus if the common man is to be silenced, he must be convinced that poetry is useful even in the context of this modern world. Let us then see what the modern world is like.

If ever there has been a 'warlike' tragical and various age, it is this twentieth century in which we live and breathe. We have already seen two global wars and are passing through a phase of uneasy interregnum, the cold war, preparing for a third which might well nigh spell the doom of humanity on earth. True, we have a number of achievements to our credit, but they are of doubtful value. we have conquered time and space, but we do not know what to do with the time saved i.e. our

leisure; as for launching space-ships and rockets and sending out men into space it is evident that we are going to infect even the planets with our unrest. We have slain all the old mythical monsters and dragons; but we are mortally afraid of the new dragons, the tiny bacilli and viruses, invisible though they be to the naked eye. We have conquered a numer of diseases hitherto considered incurable, but we can never see the end of hydra-headed disease; the moment we kill the old disease, a new one, more deadly, springs up in its place. We have made the people socially conscious, and thus incited them to inter-class war; we have made them politically conscious, which has resulted in political instability everywhere. We stand by the four freedoms–freedom of speech, freedom of religion, freedom from want, freedom from fear—valuable in themselves. But in effect freedom of fear means for us freedom to have no respect for established law; freedom from want is freedom to multiply wants; freedom of religion is in practice freedom from religion, and freedom of speech is freedom to utter nonsense—(Possibly, some of you might be inclined to think that the present speaker is exploiting the same freedom at the momont). Even the most bitter critic of the modern world, would however, concede that we have taken tremendous strides in science and technology, with the result that we have more amenities of life, more abundant means to live today than ever before in human history. But what really matters for a civilised human being is not the means to live, but the quality of living. And it is here that poets and poetry, as I shall presently prove, have a useful function to perform.

Now, to complete the outline of the modern world sketched already let us glance cursorily at the way we live and act and think in this democratic, secular, welfare state known as Bharat. Though most of us may not be aware of it we have surrendered our personal identity to some group or party, labelled with or without some 'ism'. We

want all our thinking to be done for us by a Rajaji or a Vinoba; a Nehru or a Lohia; we cannot think for ourselves. With increasing state control in all our affairs, we find that the area in which we can be just our own selves, in which we can feel or think or act in our own individual way, in which we can have our personal identity has become strictly circumscribed. For the rest we have no personal identity. But the poet–as distinguished from the poetaster–still retains his personal identity. His responses to experience are fresh and vital, and so his poetry can help us recover the freshness and vitality of our own response to experience. It can reawaken in us that sense of childlike wonder and mystery in the life around us, without which life is a dull and boring affair. Poetry penetrates the crust of familiarity lying over the things around us, and exposes to view the freshness and charm inherent in them. As a modern poet-critic Cecil Day Lewis has put it: "It tells us about the world through our feelings. It sharpens our senses, makes us more keenly and fully aware of life, exercises our imagination and stores up treasure in our memory".

There are two ways of describing the world–each valid in its own way—the scientific and the poetic. The scientist's method is to observe, to find out and state the facts; the poet's is a more difficult one. He gives you not the outside, but the inside of these facts—"the look, the smell, the taste, the very 'feel' of these facts". The scientific approach is quantitative, the approach of poetry is essentially qualitative. Moreover, the scientific method is analytic; the poetic method is synthetic. It is a truism to say that the poet sees more than the average man. He sees more not because his eyes are more trained and more sensitive—though there may be some truth in it—but because he is not prepared to leave out anything he sees. The average man always simplifies things, arranges them in neat categories, lest he should be confused. The poet takes them all in, simultaneously, and presents his experience in all its complexity, its richness, its fulness. As T. S. Eliot so admirably states it.

"When a poet's mind is perfectly equipped for its work, it is constantly amalgamating desparate experience; the ordinary man's experience is chaotic, irregular, fragmentary. The latter falls in love, or reads Spinoza, and these two experiences have nothing to do with each other, or with the noise of the typewriter or the smell of cooking; in the mind of the poet these experiences are always forming new wholes."

That is how poetry achieves a greater precision than science, paradoxical though it may sound to the ears of those who still consider poetry to be vague and woolly. Science achives its precision through the maximum of exclusion, poetry through maximum of inclusiveness. Won't you like to have actual experiences presented to you in all exactness? If you would, there is the use of poetry for you.

Poetry also purifies the language of the tribe. As the poet's tools, and even raw materials, are words, the poet is constantly playing with words forming them into new patterns, never allowing the language to get rusty, always polishing it so as to keep it razor-sharp. And never was this function of poetry more needed than in the present world. Our age which has been variously labelled as the Machine Age, the Atomic Age, the Sputnik Age, should properly be called the age of language. In saying this I am not referring primarily to the storm raging round the language problem in our own country, but to the numerous devices for preserving language for recording and multiplying human voice, in the modern world viz. the radio, the wireless, the gramophone, the microphone, the tape recorders and the like. All important decisions are taken in the world today, not in the form of a *farman* issued by a whimsical ruler from his pleasure-dome, but as a result of conference, committees, summit meeting. The decisions are arrived at through discussions in a language and are recorded in a language It is, therefore, language in a sense that rules the world. And yet curiously enough, there has been a tremendous loosening of language sense all the world over in recent years. (The

teachers of language subjects will bear out the truth of this statement. Our boys and girls have certainly no skill in picking up the English language out of a mistaken notion that weakness in English is a proof of patriotism, they seem to take a pride in their ignorance of the English language. One would have expected them to have attained a high proficiency in their mother-tongue. But ask any teacher of Hindi or Urdu or Bengali. Everyone will tell you the same thing. Our boys and girls seem to be fast losing all language sense.) This, as George Orwell pointed out in his essay "Politics and the English language", is fraught with grave dangers. As language, the instrument of thinking decays, the quality of thinking too suffers. That is why we find our politicians, thinkers, so hopelessly muddled in their thinking. It is up to poetry then to revitalise the language sense, and that is possible only if poetry again finds a wide public.

It is not merely in our thinking that we are confused, our feelings too are undisciplined, chaotic, turbulent. We are prone to mass hysteria, unable to control our feelings. Poetry which is an expression of feelings, and a means of controlling feelings, can teach us how to discipline our 'undisciplined squads of emotion', to canalise our turbulent feelings, and give our chaotic disturbances of the heart a coherence and pattern.

If these do not constitute an adequate utility of poetry in this utility-ridden world, if the hard-hearted sceptics still ask "what is the use of poetry" ?, I may be permitted to ask them in turn "what is the use of life ?" For you cannot answer the one any more satisfactorily than the other; cannot, for the simple reason that life and poetry are indissolubly linked up. And, therefore, as long as life exists, poetry will continue to exercise important functions, even though the functions may change from time to time. And poetry will, by addressing itself to the whole man, and not merely to the social man or the political man, bring about that integration of personality which we seem to have lost in this age. That is a glorious task for poetry, and, therefore, this Cindrella of Arts, has no reason to despair: her days of glory are not far-off.

The Miracle of Words

The sense-unit of sound man breathed in,
And shattered into letters,
And called the Word was Lord and Light,
Was voice of get-togethers.

The syntax of awe, fear and love,
The casement of sharp senses,
The bee-hive of culture and thought
The logic of all lenses.

Feel it and it creeps in your veins
Think it and it teases brains
Love it with a poet's elfin kiss
In a Plural synthesis.

Words have a glaze, a glare, a stare
Of a new-tamed rabbit's eyes
Liquid, curious, tender, serious
Urging creative sympathies.

Have beauty, of vipe cheeks of pears
That blush out soft suggestions,
Of poplars smooth poised o'er the graves,
Quiet cells of reverberations.

Switch corridors of experience
Comb dark froth of confusion,
They beat in cadenzas, crystal, crisp;
In image, colour, rhythm, sensation.

Lifting to new ecstasies, they
Set jazz of joy or sorrow-crests,
Shock and shudder, hit and hurt
Sing in, and out from, Keats or Yeats.

As in the dance the body is soul
And the dancer is the dance,
To me words are transluscent wholes
Where gleam ragged ends, dreams gain credence.

—**Prof. A. M. D s.**



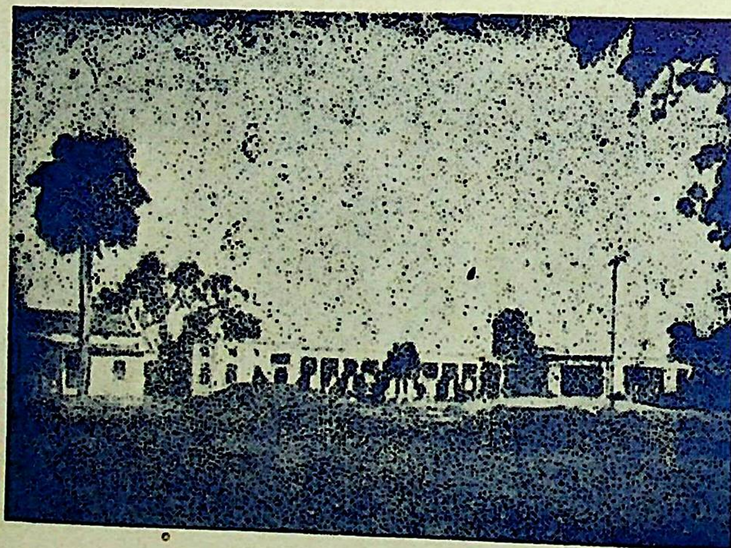
College Staff



1st Row:. (L. to R.) Prof. P. N. Singh. Prof. S. R. Sinha. Prof. S. K. Pd. Prof. A. Jha Prof. R. N. Singh. Pr. R. P. Agrawal. Prof R. K. Dwivedi. Prof. G. P. Sarkar Prof. S. Shanker. Prof. A. M. Das. Prof. Deoraj

2nd Row: Prof. M. M. P. Verma. Prof. Sreeman Singh. Prof. S. C. Jha. Prof. P. K. Sinha. Shri. N. P. Singh. Prof. L. Shastri. Prof. B. P. Singh. Prof. S. N. Thakur. Prof. B. P. Sinha. Prof. P. Pranjape. Prof. B. P. Srivastave. Prof. N. S. Garg. Prof. V. N. Dwivedi.

3rd Row: Prof. S. Mohan, Shri Nagenera Singh, Shyi A. K. Verma, Shri R. S. Pd. Shri S. N. Sharma. Shri. R. K. Singh. Shri S. Muradpuri. Prof. K. N. Thakur. Prof. S. N. Pd. *and* Prof. B. K Sinha.



College Building

Crisis of Values

Prof. Shambhu Shanker Prasad
(Head of the Deptt. of Philosophy)

In all history man was perhaps never so thoroughly confused, so deeply distressed and torn by internal conflicts as he is today. The warring forces of diverse nature—physical and non-physical, actual and potential, social and political—issuing from all directions have been creating such tremendous hue and raising strange dust of confusion, and all these have so perplexing and exasperating effect on the individual that it is almost impossible for him to maintain the poise required for a normal human being. With his faith absolutely lost in all authority—religious, political, social or any other, his vision hopelessly blurred, confidence in his own capacity badly shaken, the modern man standing amidst storms of confusion looks a most pitiable creature on this earth. The world appears to be a jungle of queer forces, life a worn out, purposeless existence, civilization a dead movie being run by the momentum of tradition, which may stop suddenly and unceremoneously any moment. At one time, man leans forward to welcome a news that science and technology have made tremendous progress, space and time have been conquered and so on and so forth—and the other moment he is, as it were, rudely jolted and informed that techniqes have been devised whereby the entire civilization can be reduced to ashes and finished to nothing in a fraction of a minute !

The different departments of human society are striking such discordent and loud noise that it seems one has only two alternatives before him—either join the mad music or stand still, gaping like a stupid creature with lips apart, eyes set, hands stretched, and

himself turned insensible to anything sensible.

Political Circus

The political world is, as it were, a circus show lacking any system and purpose where beasts, yes beasts—some ferocious, some timid and clawnish, some big, some small, some roaring, some shrieking, and all stupidly active, present a strange show. And the most dangerous situation is that the entire affair of the civilization—every aspect of human life—is placed in the hands of such creatures. They frame laws of conduct, they adjudge, they execute, they direct education, they control scientific research and philosophic thinking, they preach religion, they sit round tables to talk and decide about world peace and similar problems.

Social Distemper

The social order has given way to an unprecedented disorder. Man has been ceaselessly engaged in class struggles without clearly knowing to which class he really belongs, and which class consistently with his stand he should fight against, the result being that he seldom has the feeling of a victory and consequent satisfaction even where he is said to have won a point. The modern man although living among crowds of men and coworkers, feels unbearbly lonely and poor. He enrolls himself a member of hundreds of organizations of different natures and functions, and he even seems to be much busy about at least some of them, but he is not really attached to any one of them. Inwardly he feels as if he were very much distant from them. He is neither loyal nor really disloyal, he neither likes nor seriously dislikes, neither accepts nor in fact gives up—a hopeless situation indeed.

Religious void

Religion has practically lost any meaning to the modern man. It is regarded as a superfluous or rather injurious continuum of the past. At some quarters it is ridiculed and insulted and at some others, it is pursued as a profession for want of a more paying one. But then, is the modern man materalistic? They say so. Man is said to be materialistic in his aims, his habits, his ways of thinking and acting. But the truth is that he is not consistently materialistic either. He has strong doubts above the efficacy of

the material world to provide him with the real satisfaction and peace that he so badly needs. Man today knows too much of matter to be materialistic any more. But the problem is that he has not been able to discover an alternative value either. In the realm of religion he feels an oppressive void. He has no God but he is restless without a God. He has no religion but he is miserably poor without a religion. Life seems to be devoid of any purpose, any meaning, any consistent direction.

Diagnosis of the problem

How do we diagnose this all pervading ailment ? Why all these manifold distresses ? Why after all there should be so great a confusion and disorder ? Well, is it an Economic problem ? Evidently not. Economic security, soundness and solvency are miserably inadequate means to provide the modern man with the real health and peace, to fill the oppressive void and offer him the fulness of life. The so-called economic distress is largely a case of transference of crisis which really originates elsewhere. A man with no economic problem is not one without problem.

The same is true about politics. In a state with good administation and political stability, people in general may be expected to be happier. But approach the individual citizen there, talk to him and before you have gone much deeper into his affair, you find that he has a lot to complain against. He finds himself amid an unfriendly and unkind world. He has problems that the state, as it is, cannot solve. And so on.

Collapse of values

Well these problems and a great many of others are only manifestations of a profounder problem, and originate at a much deeper level. All these outward strife and disorder, loud and discordent noise only reflect the confusion of our own mind. There is a terrible war there— a thousand times fiercer than what actually takes place in the battle ground. And it is all a case of projection, externalisation of the inner trouble. What precisely has happened is that the time-honoured, long established values so far formimg the bed rock of our various kinds of standards, the principles regulating mutual relationships at

the different levels of human society, our sense of devotion, beliefs and faith, civilization and culture— have in fact collapsed. Social evolution has reached a stage where the old values no longer hold good. When we try to apply them, we seem to be indulging in mockery. There does not seem to be any sense in clinging to them and making a fuss about them.

New values

Fresh and new patterns of values have to evolve to suit the changed context. They have to grow in the soil of the new age. Only then they can grip the minds of the people today. The great seers of the day announce that the situation for such a development is ripe. The distress and anguish have become so deep and so universal, the anxiety for peace and and order so acute, the search for a master solution so wide-spread that the ground seems favourable. The fact of universal anxiety for peace however should not be doubted. The unfriendly attitude of some of the governments of the world today in this connection should not be taken to represent the feeling and desire of the mass of people of the respective governments. People all over the world—(barring of course cynics and delinquents)— civilized or uncivilized, advanced or backward, eastern or western, all have exactly the same feeling with regard to the desirability of peace and order, prosperity and health. Lawrence Rodriguex S. J. in his essay, Peace on Earth, says— "the hunger and thirst for peace.... is swelling from the recesses of men's hearts with such pitiable appeal as never known before. All the recent Popes of the Catholic Church have given vent to human cry of anguish and have worked unceasingly for the cause of peace".

As a matter of fact, the great confusion and the universal strife should not be taken to be isolated and accidental phenomena. They only prove the existence of an undercurrent of abiding moral order, a great spiritual system, and an implicit but profound faith of man in all that is good and right and beautiful, and precisely the ruthless violation and disregard of which has resulted in such wide-spread anxiety and

tremendous disturbance, dislocations and disquiet. It is most consistent to presume that the future must witness a much finer composition of mind, a more harmonious integration of character, and banishment of the present crude methods of riots and strifes. As Dr. Radhakrishnan says, "the next stage of evolution is not in man's physique but in his psyche, in his mind and spirit, in the emergence of a larger understanding and awareness, in the development of a new integration of charater adequate to the new age". We can well hope that the present acute distress and anguish disorder and conflict, collapse of values and standards, are but prelude to the birth of a new world— a new race, saner, greater, fuller, and richer. 'And we have to fight for the new order, first in our own souls, then in the world outside' and rediscover ourselves and the Society.



Rationalisation of Sugar Industry

Prof. S. R. Sinha, M. Com., M. A. (Econ.)
[Deptt. of Commerce.]

Rationalisation is a derivative of the German word 'Rationalisierung'. Walter Rothenau first employed this word, at the end of world war 1, implying a new industrial philosophy. Prof. Sargant Florence called it a movement to eliminate waste and inefficiency, scientifically and logically, by some sort of joint action between all the firms within one industry. But the premises of its meaning encompass any reform on rational and scientific basis in all its facets—men, material, machine, management and money—with a view to getting the optimum of output with the minimum of cost and effort. Any scheme of rationalisation is worked out on the principles of standardisation, simplification, specialisation, Scientific Management, mechanisation, combination and industrial research.

The need for rationalisation arises in industries which have vanquished economy. The Sugar Industry of India is at the cross-roads of a severe crisis and there is an urgency of introducing planned rationalisation in this industry. It is observed that there is a problem of abundance with a vengeance in this industry.

Importance of Sugar Industry

The importance of Sugar Industry can be judged from the fact that it is the second premier industry of India, being headed by the Cotton Mill Industry. The capital investment in the industry is to the tune of Rs. 65 crores approximately and it employs about 1.75 lakhs of skilled and unskilled workers. The aggregate acreage under cane cultivation had a figure of 49 lakh acres in 1961, which constituted 37% of the world's

total area under cane-cultivation. The annual prodution of sugarcane touched the target of 71 crore tons in the season 1960-61, from which an yield of about 30 lakh tons of sugar was obtained. There are about 175 mills working at present in the country, with the prospect of an addition of some more new factories to be set up in the 4th plan.

Background of Rationalisation

For a decade, when India switched on the programme of planned economy, there has been an unfavourable balance of trade. The imports have annually exceeded exports by Rs. 250-crores approximately. There has been a steepfall in our foreign exchange earnings. In the year 1939, our sterling balance was around Rs. 63 crores only, but it touched the record-figure of Rs. 1, 760 crores in 1945, when the 2nd World war ceased. With a continuous increase in imports, the Sterling Balance depleted fast to the rock-bottom figure of Rs. 124 crores in 1962. Such a sad plight is to be arrested. Exports have to be intensified so as to earn more and more of foreign exchange. Industries, showing potentials of enhanced export components, have to be rationalised and renovated on sound footing so as to face competition in foreign, markets. The sugar Industry of India, which has been exhibiting signs of exportable surplus of considerable magnitude for the last 10 to 12 years, needs rationalisation.

This industry suffers from serious drawbacks. The yield per acre is miserably poor. It is hardly 14½ tons per acre, as compared to 62 tons in Hawaii, 56 tons in Java, 41 tons in Peru, 30 tons in Egypt and 28 tons in Japan and Formosa. The percentage of sugar-recovery from cane is only 9.8 in India, whereas it is 10.4 in Hawaii, 11.5 in Java, 12.3 in Peru, 9.9 in Egypt 1[illegible].9 in Japan and Formosa. The yield of sugar per acre is only 1.4 tons in India, as against 6.4 tons in Hawaii and Java, 5 tons in Peru and 3.6 tons in Japan and Formosa. Again, the retail price of sugar in India is Rs. 1.06 paise per seer, whereas it is no more than 35 paise in Peru, 43 paise in Brazil, 46 paise in

Panamma, 54 paise in Cuba, 35 paise in Aden and 58 paise in Indonesia. The weakness of the Indian Sugar Industry lies in the high cost of production. Wages are lower in India but prices higher. India cannot compete in sale of sugar in world market on account of the high cost of production, which results from seasonal character of the industry, high prices of cane, heavy rents on land, high state taxation, great waste in refining, poor output and so on. In Java, the factories are near the plantations and they have developed the process of manufacturing sugar with no loss of sucrose. The sugar factories of India have no control over the sugarcane cultivation, which is in the hands of unskilled ryots, who carry on cultivation in remote areas, this resulting in high costs.

Major Problems

Firstly, the anxiety of the industry has been caused apparently by uncertain figures of sugar production. During 1960-61, indeed, there was peak-production of sugar when the figure was 30. 3 lakh tons. But in 1961-62 it was only 27.1 lakh tons. The succeeding season 1962-63 could yield only 21. 6 lakh tons followed by 25. 6 lakh tons of sugar production in 1963-64. Secondly, the industry appears eclipsed by a crisis. There is a rising demand for domestic consumption. The total domestic demand for sugar by the end of Third plan (1965-66) would soar up to 30 lakh tons, and by 1970-71 (end of Fourth plan) would reach 40 lakh tons. Hence the production target needs be fixed at 45 lakh tons by 1970-71. The cane output should also be fixed at 13.5 crore tons. Thirdly, cane prices are going higher day by day. Under the policy announced for the 1964-65 season, the basic minimum price of cane delivered at the gate of a factory is fixed at Rs.2/– per maund. In the case of sugar, the Govt. announced a new ex-factory price on 12th Nov. 1964, and the country was divided into six sugar zones. Accordingly the price of sugar per quintal ranged between Rs. 116 and Rs.129. 25 paise. Fourthly, the exportable surplus of the sugar industry is really a hard nut to crack. The exigency of disposing of this huge surplus, expeditious-

ly, is a problem exercising the mind of the industry. Because a release of this large stock in the free international market involves a loss of about Rs. 35 crores. Any sale to the free world market causes a loss of Rs. 300 to Rs. 360 per ton and to a preferential market (U. S. A.) a loss of Rs. 150 to Rs 190 a ton.

The way out

As such a multi-pronged programme of rationalisation needs being implemented, so as to be instrumental in competing for sale of sugar in the world greater by changing the technique of production. The quality of product can yet be improved considerably by greater refinement in milling results, boiling-house results, sucrose balance, extraction, stores-consumption and fuel consumption. Many of the units in the Sugar Industry in India can manufacture sugar as cheaply as in foreign countries, provided they get sugar cane of as high quality and at as low a price as in those countries. In areas which contribute the largest volume to the total production, the quality is poor, the duration of the season is short and the cost of cane is at a correspondingly high figure. Sugar cane accounts for 60 to 70% of the cost of sugar. Sugarcane can be cheaper with more and more of quality-product per acre.

The main reason for the continuing high cost of sugar production is, by and large, historical. Eversince the grant of protection to the industry in 1932, its agricultural side has received more weight than the manufacturing side. Cane-growers' interests have been of primary concern, and vital decisions concerning the manufacturing industry have been governed by factors affecting the interests of the cane-growers, which are political. In order to reduce the cost of sugar production, the cost of sugarcane will have to be regulated and the price of sugar will have to be reduced to ensure its availability even to the poor consumer, besides its use mainly by the rich and the middle-class people; because the nutritional requirements of sugar have been estimated by the experts at 23 lbs. as against 13.87 lbs. Again, recovery of sugar from cane will have to be increased from a

meagre average of 9. 85%. It costs on an average about Rs. 22/19 paise for a mill to produce one maund of sugar. Besides, modern machinery and better technique when employed, will go a long way to reduce the cost of production.

The utilisation of by-products and waste-products on more scientific lines will yield favourable results. The three main by-products—bagasse, press-mud and molasses—need be used rationally to minimise the strain on industry. Bagasse is widely employed in the manufacture of paper-pulp and card-board. The sugar-mills should not use it profusely as fuel, rather the bagasse needs be utilised in paper-mills to open new possibilities of paper exports to Burma, Ceylon, Malaya and East Africa, where there are at present only few paper-mills. At a time when the country has an acute shortage of motor-fuel, drink and chemical solvents, an adequate use of molasses would yield profitable results in the manufacture of aconitic acid, industrial and power alcohol, cattlefeed, manures, chemicals, and tobacco-curing etc. The authorities are toying with the idea of setting up a monopolistic and bureaucratic Sugar Marketing Corporation. What is lacking in the Sugar Economy is not a proper distribution mechanism but a vigorous rational production programme.

Lines of Reform

Agreed that Indian Central Sugarcane Committee in collaboration with the Sugar Syncicate, Indian Sugar Mills' Association and the Technological Institutes has made available a number of researches and experimental truths. Doubtless the appointment in July, 1964 of Dr. S. R. Sen of the Planning Commission as Chairman to go into the entire cost price structure of the sugar industry and distribution, is a major step of Mr. C. Subramaniam, Minister for Food and Agriculture. But there is an imperative need for setting up an Expert Committee to augment and implement the rationalisation scheme in all the mills and factories associated with the manufacture of sugar. The said committee should be constituted of the representatives of the Government, Mill-owners, Cane-growers and the

Labour. It should invite experts from very progressive sugar-producing countries to study and report on the problems of the industry. Besides, each Unit in sugar production should appoint a Special Sugarcane Officer to study the failings of the Factory, of course ungrudgingly; and also to find out avenues for introducing rationalisation-plan. The work of every Unit needs be co-ordinated by the Expert Committee at the centre, so as to smoothen the wheels of progress on rationlisation-scheme. Both voluntary and compulsory planned-effort, in this direction, would pull up the Sugar Industry from the deep mud-bog of crisis.

"That we are dependent upon the wider nature of which we are part has its good as well as evil side. Sometimes, to be sure, it dashes us to earth. Yet sometimes, too, it lets us climb the peaks from which we get an endless vista of endless possibilities."

Jerome Nathanson

Role of Micro- Elements in Plant Life

Prof. Deo Raj
[Head of the Deptt. of Chemistry]

Scientists in the field of Agriculture have been investigating the uses of various elements like zinc, manganese, boron, copper etc, in traces for the past half a century and have attributed the healthy development of plants and their deficiency symptoms to the distribution of these elements.

Nutrient solutions which were a medium in the water culture technique, dates back to 1860 as an experimental tool in the plant culture laboratories where Julius Sachs and W. Knop developed independently this water culture method. By the end of the nineteenth century, the plant ashes were analysed and it was found to contain phosphorus sulphur, potassium, calcium, magnesium and iron.

In the year 1897, Bertrand found that the oxidising enzyme laccase which brings about the setting of the latex of the lac tree to Chinese lacquer would only function in the presence of manganese and thus disputed the completeness of the list of essential elements. In 1905, he showed the necessity of manganese in oat plants. In 1914, M'aze reported that water culture of maize required apart from manganese, another element zinc. Shortly after, boron, silicon, aluminium and chlorine have been found as essential elements. In 1913, Sommer reported the necessity of copper in the growth of tomatoes and sunflower. In 1914, Steinberg found molybdenum and Gallium in the growt of duckweed.

It has been found that Micro-elements are present in traces in seeds and hence could not be discovered uptil now. Also the salt utilized for the culture solutions contained the micro-elements as impurities

which could not be detected until extra pure qualities of the salts were used. The vessel containing the cul ture solutions also contributed trace elements to the solution. On account of experimental difficulties the effects of these elements could not be isolated.

On account of the divergencies observed in the habital structure and mode of life of higher plants and fungus, it can be concluded that all the nutrients are not required for every plant. Interesting results have been obtained by Arnon in California. Asparagus and lettuce plants were grown in four different culture solutions designated A, B, C, and D and contained following elements :—

Solution A:—Nitrogen, sulphur, phosphorus, potassium, calcium, magnesium and iron.

Solution B :—Elements of A+boron, zinc, manganese, copper and chlorine.

Solution C :—Elements of B+molybdenum, titanium, vanadium chromium, tungston, cobalt and nickel.

Solution D :—Elements of C+aluminium, arsenic, cadmium strontium, mercury, lead, lithium, rubidium, bromine, fluorine, selerium, berylium and iodine.

It was observed that no extra yield resulted from the addition of the elements of solution D. Soon after, similar experiments were performed on oats by Twyman in 1943.

The problem of micro-nutrient has two aspects. The first concerns mainly plant physiology and the second which concerns the nutrient deficiency is pathological. It appears that certain well recognised plant diseases may be due to shortage of one or more of these trace elements.

The micro - elements have been classified on the basis of their effects on the plants; their supply of the building material of the cell wall and cell protoplasm; their influence on the osmotic pressure and acidity and alkalinity of the cell sap; their influence on the degree

of hydration of the protoplasm and permeability of the cell membrane; their toxic effect due to increase in concentration and their reaction as catalytic agents for certain physiological functions.

The trace elements are required in such small quantities that the catalytic action of these nutrients is suggestive. Miss Warington pointed out that the function of boron in broad bean was nutritive rather than catalytic. Boron deficiency was also found to be different from deficiencies of zinc, copper, manganese. Steinberg has suggested that trace elements probably play a specific part in the utilization of carbon dioxide.

So far the functions of micro-elements in general have been considered. Not much can be said regarding the specific function of copper, molybdenum and other less established elements, but interesting contributions have been made regarding the functions of zinc, boron and manganese.

Manganese is generally related to oxidation in the plant. It has also been suggested that protein and carbohydrate synthesis is also influenced by the essential mineral element. It also catalyses aerobic respiration.

Probably iron occurs in organic forms in plants mostly, though the inorganic form is also found in traces. It is one of the most immobile mineral element utilized by plants. The major function of iron is as a catalytic agent particularly for chlorophyll synthesis in green plrnts. It also acts as an oxygen carrier in oxidation-reduction process in cellular respiration.

Boron is wide spread in all plant tissues, but the greatest quantities are found in the leaves. It acts as an inorganic plant catalyst. Other effects attributed to the action of this element include an iufluence on the water relations of the protoplasm and the absorption of anions. It also takes an essential part in the carbohydrate and nitrogen metabolism.

Probably the chlorophyll formation is influenced by the presence of zinc. Apparently meristem activity is controlled by zinc, bec-

ause breakdown of this tissue occurs when zinc shortage developes.

It has been found that copper enters into the composition of the oxidising enzyme or enzymes known as catachol oxidase or polyphenol oxidase. The results of the other elements as nutrients are yet to be completely established.

It has already been told that many plant diseases are attributed to the micro nutrient deficiency. Among the well recognized diseases brought by the deficiency of manganese are grey speak of oats, pahala blight of sugar cane, speakled yellows of sugar beet, marsh spot of peas and frenching of tung trees etc.

Generally the symptoms of all these diseases are quite definite, but in each case, the first sign is the local disappearance of chhorophyll from small areas of the leaf. Although a soil may contain quite a high manganese content, plants growing in the soil can yet suffer from managanese deficiency, if it is not in available form for absorption by roots.

Zinc deficiency has been reported to be the cause of some of the disease in the fruit trees of America. The first sign of deficiency is an internal chlorosis, but in the trees it is followed by the characteristic symptoms of abnormal growth known as rosetting. The main zinc deficiency diseases are Pecan Rosette, trenching of citrus, brousing of tung trees and white bud of maize.

The first external symptoms of the boron deficiency is the death of the apical growing point of the main stem. This is followed by the growth of lateral buds into side shoots, the apices of which then die.

The two well known diseases of copper deficiency are an affection of fruit trees known as Exanthema, die back, or chlorosis and a disease of various herbaceous plants known as reclaimation disease.

Lately some work has been done by Arnon and Stout on the deficiency of molybdenum as the cause of certain plant diseases.

The realisation of the importance of trace elements in plants is actually very recent, for apart from a few pioneer observations, our present knowledge of the subject is the recent work done

during the past quarter of a century. Two lines of approach on the role of micro-elements have been developed. The first of these is that displayed in particular by the work of Keilin and Mann in which the compounds involving the trace elements in their molecules have actually been isolated and their chemical properties studied.

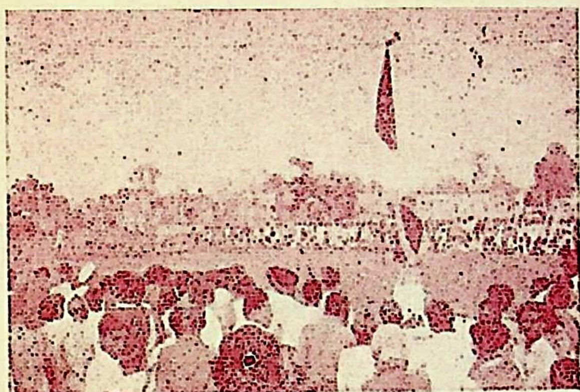
The second promising line of approach is the study of the physiological aspect of trace elements. The recent work of Shive and his associates along these lines has already produced very promising results with regard to the function of manganese and boron in plants. It would seem probable that a development of works along these lines will serve greatly to increase our understanding of the role of the micro-elements in plants.

From the above we see that "Micro-elements in plant life" is a subject of acute importance. Micro-elements can be compared to sauce in a diet which though not an essential ingredient yet can catalyse the reaction.

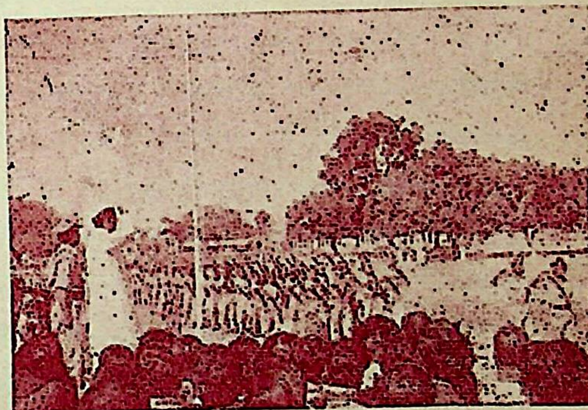
"Today Scientific inventions have brought the world into a close togetherness. Our knowledge, our habits of thought, our outlook on the universe, our most priceless possessions, come to us from all nations. Even if all these by themselves do not create unity, they create the conditions for it."

—Dr. Radhakrishnan.

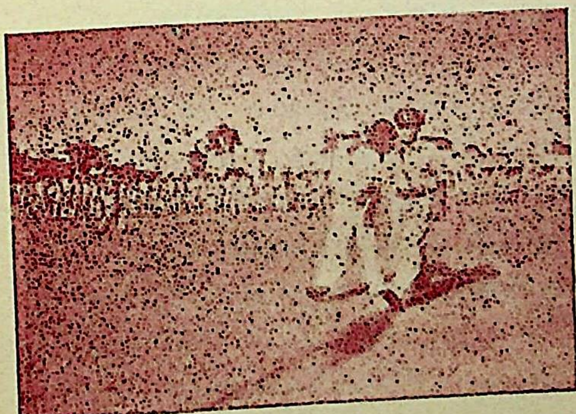




Late Principal B. M. Misra addressing on an N. C. C. Day



Sri. H. K. Singh Secretary of the college, taking salute of March-past on Republic Day



Principal R. P. Agrawal proceeding to saluting-base. With him is Lt. S. N. Pd.

Imagery in English Poetry

Prof. K. N. Thakur
Deptt. of English

Imagery is of the very essence of poetry. But before we discuss the place and importance of imagery in English poetry, it is in the interest of critical propriety to distinguish it from impression which is sometimes erroneously made synonymous with imagery. As a matter of fact, impressions occur in the presence of an object; images and ideas in its absence. Impressions are vivid; images are faint copies of original impressions. And poets are largely, if not solely, concerned with images, not with impressions. I think, Wordsworth had this view of imagery when he defined poetry as "emotions recollected in tranquillity".

By nothing can a poet be recognised more surely than by his imagery which is the clear manifestation of the elements of originality in him. The pictures, object, sounds, even the tastes, textures and smells which continually recur in a poet's work are one of the marks of his individuality. A poet is possessed of a sensitive and receptive sensibility which a man in the street does not possess and the moment he sees a thing or a phenomenon, a passionate longing is aroused in his breast which struggles to find utterance in glowing words which should convey something of its depth and beauty. A fitting expression of such moments of exaltation which is found in poetry, necessitates the employment of imagery that is functional. Richness and variety of it is a sign that a poet is more than usually sensitive to physical impressions. Perhaps the revival of interest in Keats' poetry is due to an abundance of vivid sensuous suggestion and a fine spray of images which are concrete. Shakespearean poetry contains

a plethora of such images. The scholarly treatises of Miss Caroline Spurgeon— "Leading Motives in the Imagery of Shakespeare" and "Shakespeare's Imagery and What it Tells us" —show that the images used by a poet or a playwright, particularly by Shakes peare, provide a clue to "the furniture of the poet's mind, the channels of his thought, the objects and incidents he observes, and remembers, and perhaps most significantly, those which he does not observe and remember." Each writer has a certain range of images characteristic of him.

It is important to note that the use of a single image in different ways produces a gulf of difference from the point of view of effectiveness and condensation. Shakespeare provides an example of this. He uses the image of the fruit both in Richard II, as well as in Macbeth. The difference between the quality of the two images sums up the difference between the early and the later poetry of Shakespeare. We find in Richard II, "The ripest fruit first falls and so doth he. His time is spent." In Macbeth he says, "Macbeth is ripe for shaking." We find that while in the later image, things are intimated, suggested and hinted at, they are plainly stated in the earlier one.

The characteristic way of using images demarcates the classical poetry from the Romantic poetry. The images used by the classical poets were direct whereas those used by the Romantics were symbolic aud suggestive. Classical poetry is, so to speak, "All there". It conveys nothing but what it says. Romantic poetry is a thing of half-lights aud half-spoken suggestions. The generalised imagery of much eighteenth century moral and descriptive poetry sometimes achieves an effect of diffuse platitudinousness, while the cataloguing of suggestive eccentricities indulged in by some nineteenth century poets can lead to the sort of thing predicted by Edward Lear:

"And they bought an owl,
and a useful cart,
And a pound of rice
and a cran berry tart,
And a hive of silvery
bees; ...."

Against this background, we can appreciate another kind of imagery—that which is precise in order to be symbolic. The haunting precision of the images in Yeats' "Byzantium" achieves a much richer poetic meaning than either the generalizations of Thomson or the carefully observed nature images of Tennyson. The power of the pregnant image, its resonances and overtones, can be easily seen by contrast with "flattened" and ineffective imagery. Perhaps they come most often into the "frigid" category of longinus; they lack vitality because they are both too "literary", too obvious, too single-moulded in their purpose.

In the last thirty years or so the nature, function and system of references of the poetic image have been handled by many eminent writers : in particular Miss Bodkin, Miss Spurgeon, Miss Tuve, Wilson Knight, C. Day Lewis, William Empson and others. They are apparently influenced by the writings of such psychologists as Freud, Jung and Jones. Mr. T. R. Henn has something very illuminating to say regarding the fusion of these images into the main fabric of a poem or play. He suggests three divisions of the image :

1. The Dominants : that is, one or more images that, by specific statement or inference, provide a framework or theme for the poem or the play.

2. 'Stream' images : that is, a sequence or cluster of images which work through repetition and thereby establish and reinforce their meaning in the body of the poem.

3. "Intermittent" images, establishing their validity through their context.

Now, any or all of these may be used to reflect, illuminate or extend the poet's purpose. When the dominant acquires or arrogates to itself multiple meanings, it may become a symbol. If it appears to be related to a recurrent human situation, it may be called archetypal. The 'intermittent' image has a function, of sudden illumination. The 'stream' images grow naturally out of the poetic associations. They are to some extent "selfbegetting" in Yeats' phrase.

It would, however, be ignoring the fact if we think that any and every

image is apt and effective. As a matter of fact, the use of a merely conventional image in speech often has an effect the opposite of what was intended. When any one says that some body was 'as white as a sheet', the staleness of the comparison does not attract our attention; in most cases it would be more effective to say "he was very pale." A stale and ready-made image is almost invariably evidence of an absence of original first hand experience in the user. In a good writer's hands, on the other hand, he image is at its fullest used to ntensify, to clarify, to enrich. A successful image holds within itself something which has associations with other parts of the work to which it belongs, so that its use enhances the complex fullness of the whole. A mature Shakespeare Play, for example, is rich in such imagery; in such a play the imagery are not isolated brilliant units, they have of course, their astonishing individual attarctiveness, but a complete reading will reveal that they are an inseparable part of the play's total expression. We do not, of course, expect all images to be rich and copiously suggestive. The main purpose of an image may be quite simple.

In contrast to the concise and suggestive image, there is a kind of loose and diffusive imagery. Wordsworth presents us with an example of this kind of imagery when he writes about a flower thus:

A nun demure of lowly port; or
sprightly maiden of love's court,
In thy simplicity the sport of all
temptations;
A queen in crown of rubies drest
.... and so on.

Now, images of this kind obscure the object which they should illuminate. Not one of them is sufficiently precise to be aptly descriptive or suggestive of the daisy only; all of them could be applied to certain other flowers. It is only the fancy that is at work,and in these fanciful similes the reality of the flower is wholly lost.

Images manufactured for the sole reason of striking forcibly abound in English poetry as in every other, but it should be noted that what matters most is an image's power to present vividly, suggestively, appositely and

an image fancifully manufactured never does so. Crashaw begins his poem "Saint Mary Magdalene, or the Weeper" like this;

"Hail, Sister Springs! Parents of silver-footed rills!
Ever bubbling things! Thawing crystals! Snowy hills!
Still spending, never spent! I mean
Thy fair eyes, Sweet Magdalene!"

Now whatever suggestions of everlasting purity and "spiritual refreshment" may be adduced from these images, they are unimpressive because they are so obviously worked and laboured. The springs and rills and hills assume an interest of their own quite separate from the eyes of Magdalene.

The imagery of some modern poetry is equally forced and laboured. Lines like the following are representative of one "school" of writers:

"... .... Unstable man,
Now bent under the load of his sky scraper grief,
Now spinning joys from the spare pylon's ribs."

Here we feel that 'Sky-scraper' intended to suggest greatness of amount, is altogether inapt when coupled with grief: for it is a strong thing, it rises tall, it is distinctly designed: it is nothing like grief.

Sometimes an image startles with its homeliness. Such an image comes more immediately home to us than one containing recondite matter. The commonplace content has of course to be imaginatively handled to be adequate to the writer's purpose. When Shelley wrote of Wordsworth,

"He had as much imagination
As a pint-pot.........................."

he used with terseness an image with commonplace content; but though the material of the image is well-known, the comparison itself is original and surprising. It is predominantly an emotive image; that is to say, we feel it as an expression of Shelley's inimical feelings towards Wordsworth. As an emotive image, it is good, serving Shelley's purpose in suggesting, not explicitly stating, his half harmonious antagonism.

The successful development of an image to a y considerable length is beyond the capacity of all but the best writer. It requires a sustained pressure of imaginative truth and of intellectual control. The effectual use of imagery through a prolonged passage may be illustrated in this extract from "The Waste Land,"

"Here is no water
but only rock
Rock and no water
and the sandy road
The road winding above
among the mountains
Which are mountains
of rock without water
If there were water we
should stop and drink',

and so on. What the passage demonstrates among other things is a superb use of a number of simple images, all closely related. Out of the simple material the poet creates his landscape which is the embodiment of the feeling of barrenness, longing, weariness. It brings close the identification of this physical setting with the spiritual condition of humanity. But it is the cumulative effect rather than the salience of individual elements that is so impressive. Similar associations can be found in several other images—Yeats' 'Decrepit age' and "dog's tail" for example, and that "mountain mouth" in the landscape of the Waste Land," that cannot spit ; the conjunction of such diverse things or ideas in one idea or perception is often the source of the surprising force of a good image.

Thus, we see that images play a part in raising, developing, sustaining and repeating emotion. In the words of Stephen Spender, "Imagery is the urgent means by which experience holds our attention. Images are not still lives to be hung on walls. They are visions of the history of the race and of life and death." This connection with the age produces images like Donne's,

"If they be two, they are two so
As stiffe twin compasses are two,"

and Eliot's

"Let us go then; you and I,
When the evening is
spread out against the sky,
Like a patient etherized
upon a table.'

Fiscal Policy AS A Regulator of Economic Activity

Prof. Shrikant Prasad
[Deptt. of Commerce]

In recent years, students of economics in India, as well as in other under-developed countries, have grown familiar with the special problems of under-developed countries. They have also grown familiar with the various measures suggested from time to time for the solution of these problems. Economic development implies an integrated social growth and is concerned with all the aspects of social, political, economic and cultural factors existing in the economy of a country. It would as such be a tremendous task to discuss all the aspects of economic development in an article of this nature. For purposes of this article, therefore, let us assume that there is no social, political or cultural obstacle in the way of development and that it is held up mainly due to lack of capital resources.

Private Savings

In the economic development of many countries the main source of finance has been private savings. Guided by various motives, such as future security, political and economic power and just for the rainy day, individuals save a certain portion of their income. A large part of private savings, however, are automatic by the top income brackets in the country. On the whole, the volume of private savings is determined by the level of national income, the distribution of that income and on the willingness of the people to save. In the under-developed countries, circumstances for private savings are very limited. Due to low level of the income, the portion of income spent on consumption goods is very high. Moreover, in recent years, due to rapid international communications

and contact, people in these countries are allured by the consumption-standards of the industrially advanced countries of the world. So we see that at the present time this type of allurement has been an additional factor for a lowering down of peoples' capacity to save. The vast majority of the population on a low level of income has hardly the capacity to save. The rich people, on the other hand, indulge in conspicuous consumption. This tendency on the part of the rich people limits the scope of savings.

Besides, it is not only per capita income that entirely determines the rate of saving. It depends on the traditional habits of living that people are used to. There is ostentatious spending on a large scale. Some sort of ornament is necessary for the ladies even in the very poor section of the society. There are a large number of social and religious customs which are responsible for a good deal of wasteful consumption. Marriage and 'Shradh' are most expensive ceremonies which have to be observed even at the cost of dis-saving and capital consumption. And such occasions are very frequent, occuring several times in the family during a year. If these lavish expenses on ornaments and jewellery and ceremonies were stopped, there would be a large flow of savings for productive purposes.

Foreign Capital

Thus, owing to inadequacy of domestic savings, the needs of foreign capital are being increasingly felt in recent times for the economic development of many a country. It would be an important supplement to the meagre resources of under-developed countries. The factors like balance of payments, requirements of foreign exchange, provision of domestic capital and the rate of development contemplated, determine the needs of foreign capital in a country. But all these factors give only one side of the picture, i. e. the demand side. The important point is whether the required amount of capital is forthcoming from foreign countries or not. It cannot be said definitely whether the required amount of capital will be available to the countries in need. It very much depends on the

international situation and the attitudes of the lending countries.

By far the largest source of foreign capital in the past has been through profit-motivated private investments. But then the problem is that even such investments are not available on a large scale on account of non-economic considerations, such as racial and political affinities and geographical situation of the borrowing countries etc.

Another source of foreign capital is inter-Governmental lending. The major motive of such loans and aids, however, has been war and defence requirements, and it has been largely influenced by political factors and political ties. From the point of view of lender and borrower-countries, scope for such loans generally carry 'Political strings' which many of the under-developed countries might not be prepared to accept.

Now, in this context of the limited scope of private foreign capital and governmental lending and grants-in-aid for the enormous needs of the under-developed countries, financing through the medium of international agencies has been considered as the sound way of approaching the problem. At the present time the international agency to lend to under-developed countries, is the International Bank for Reconstruction and Development. But considering the needs of these countries, the resources of the International Bank for Reconstruction and Development are not adequate by any means.

The Role Of The State

It is thus quite obvious that at the present time, due to several reasons—social, political, geographical and others, the under-developed countries are not getting the required amount of capital for their development. Under the existing situations, therefore, the State has to play a significant role in the process of development. The process of economic development in these countries largely depends on the creation of basic utilities, such as irrigation and power, flood control measures, transport and communication as well as health, education and technological training of the people. The existence of these basic utilities in

the economy, provides the basic condition for economic development. But all these undertakings require public investment rather than private enterprise. The reasons are obvious. These undertakings require more capital than even giant private corporations do. The investments in these fields are not worth the risk of private capital. Such investments take a longer time to yield return than the private investors can wait. Private enterprise is less far-sighted than public enterise for such undertakings. What is, therefore, significant in the case of the presently underdeveloped countries is that to quicken the pace of development, these things have to be done by the State on a much larger scale than other countries have done in the past.

Fiscal Policy

In recent times, therefore, fiscal policy has become an important weapon of economic policy in all countries of the world, both developed and under-developed. Since private savings and foreign capital are inadequate for smooth and rapid economic development, major emphasis for development has to be placed on efforts through public finance. Efforts through public finance have to be undertaken also because the major part of the financial burden of expenditure for development has to be borne by the Government. Fiscal methods can help to influence income, prices, production and employment in the economy. Fiscal operations of the Government can alter the total money demand for goods and services by altering the total amount of disposable income in the private sector and by redistributing income among the various economic units. The Government can reduce money-holdings of private economic units by increasing taxation, and borrowing from sources other than banks and reducing its own expenditure. Conversely, it can increase money-holdings of private economic units by reducing taxation and repayment of public debt and increasing its own expenditure by deficit-financing.

Today, fiscal policy is being pursued in developed countries for stabilising income, employment, and prices, at full-employment level. In under-developed countries, besides these, it has to be pursued as the main instrument for capital formation. The way to do it through fiscal policy would be to impose on the community, a high rate of saving through taxation and other devices. Fiscal policy could foster economic development by regulating consumption-standards and providing incentives for savings and investments.

Savings And Borrowings

The objectives outlined adove could be realised by a suitable tax policy. But at this stage a question may be asked: why not use borrowing for the purpose of economic development rather than taxation ?

The simplest answer to such a pertinent question would be that the main purpose of using fiscal policy for economic development is to raise the level of aggregate savings in the country. Perhaps borrowing could not effectively do this. Borrowing is the device to acquire private resources for Government Purposes. In other words, in the context of economic development, real aggregate savings of the economy could be raised not by borrowing but by taxation.

Besides, there are other advantages of using taxation as a weapon for economic development as against borrowing. Borrowing creates the problem of interest payments which taxation does not. Once tax is realised, it does not create any problem. By resorting to borrowing, one does not get over the problem of increasing taxation. In other words, borrowing is a deferred taxation and the community has to increase taxation in subsequent years with a view to meeting interest charges and repaying the debt.

On the above considerations, taxation has to be used for economic development. Yet, however, the importance of using borrowing as a weapon of economic development cannot be minimised. As a matter of fact, when it is not possible or convenient for the State to raise sufficient funds for its purposes by taxation, it resorts to borrowing. The case

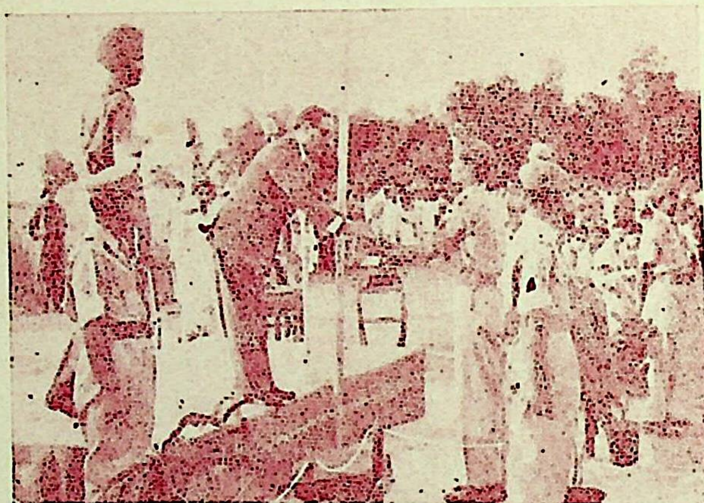
for public borrowing is especially strong, when it is incurred for productive purposes, and when assets are created. This is because the aftermath of payment in interest and sinking fund does not create so great a problem.

We thus absorve that, in essence, the problem of economic development consists in raising aggregate savings of the economy and this could not be accomplished either by borrowing from the public or deficit financing but by taxation.

In India today, fiscal measures relating to personal and corporate taxation have been so devised as to lead to reduction of inequalities. Not only is there a progressive scale of taxation on high income-earners, but also within the same income range wholly unearned income is taxed at a higher rate. In respect of indirect taxation, a peculiar burden on luxury goods is markedly visible. The tendency towards concentration of economic power, which is inherent in the process of development at the initial stage, has been curbed considerably through the expansion of the public sector and the promotion of cooperative sector in various branches of the economy. It has been recognised that the policy of industrial licensing has to be so formulated as to provide opportunities for new entrants and cooperative units.

Conclusion

The purpose of the above analysis has been to demonstrate the need for using fiscal policy as an alternative to private savings or foreign capital. This, however, does not imply that these have no part to play in the process of development. Economic development is an integrated social process and each method will have to play its proper part in it. Private saving is the mainstay of development, and foreign capital will smoothen and speed up the pace of development. But it is because of the inadequacy of these factors that suitable fiscal policy has to be harnessed for bringing about rapid economic development. Also set before our country is the goal of a socialistic pattern of society in which due encouragement is to be provided to the growth of earnings through individual initiative, skill and hard work. Any undue concentration and inequalities of wealth, particularly that which is passed on from one person to another, by way of gifts, or by inheritance, from generation to generation, are to be minimised in the best interest of rapid economic development.



Sri. J. S. Bali, Commissioner, Tirhut Division, giving away N. C. C. trophy for Best Drill.



Dr. P. L. Srivastava V. C., B. U., addressing joint Annual Function of Common Room and Athletic Society.



Brig. U. C. Pant, Director, N. C. C., Bihar inaugurating Military Science Association.

N. C. C. And Compulsory Military Training

Lt. S. N. Prasad
Administrative Officer, 2 Bihar Medical Unit
N. C. C. Darbhanga.

When the National cadet corps was established in the country seventeen years ago, in 1948 by an Act of Parliament (Central Govt. Act XXXI of 1948), no body ever imagined that the youth of the country would be called upon so soon to shoulder heavy responsibilities for the country and the third objective of N. C. C. namely, "To build up a reserve of potential officers to enable the army to expand in a national emergency" would actually be called into play.

In the beginning, the N. C. C. was confined to only a few educational institutions in the country on a limited scale, the number of cadets being about thirty five thousand only. But now it has become a truly national premier youth organisation of the country covering within its fold more than thirteen lacs of youth. In such a short period, this organisation has had a chequered career. It has progressed from strength to strength and overcome all the difficulties in its way.

Gone are the days when our youth fought shy of the army and a military career, and it has gone a long way in removing a sharp cleavage between martial and non-martial races in India. The distinction between martial and non-martial races created by British rulers is fast disappearing and all the talk about martial and non-martial races seems to be ancient history and does not hold much water now. The N. C. C., like the Army, has become the greatest integrating force.

Apart from fulfilling the first and by far the most important objective, namely, the development of character in the formative and much impressionable years, the N. C. C. has gone

a long-way in fulfilling the second and third aims. It stimulated such an interest in the defence of the country that with the treacherous Chinese aggression on our peaceful borders in October, 1962, the youngmen decided to join the organisation in such a large number that the scheme of compulsory Military Training had to be implemented on 15th August, 1963 to afford opportunities for all who wished to join. The year 1963 was an important land-mark in the history of N. C. C. when compulsory training was introduced for all able-bodied youth in the colleges.

At one time there was considerable hesitation in expanding the corps, because it was supposed to conflict with our national policies of peace and brotherhood. But we were caught napping, and we are indebted to the Chinese whose blatant aggression gave us a rude shock and proved abundantly that even a peaceful country like India had to be strong militarily to preserve its ideals, culture, basic values of life, and above all, safeguard its hard-won freedom. So the scheme of compulsory Military Training received popular support.

Though it is clearly laid down in the Act that the membership of N. C. C. carries no liability for military service and it does not aim at turning students into full-fledged soldiers, a large number of cadets have joined the army as officers. It is learnt that more than 50% of the new entrants are products of N. C. C. There are ample opportunities for the talented cadets in the field of Army and other Units which they could utilize to better their career and protect their motherland from internal chaos and external aggression. N. C. C. cadets with sound mind and sound body could considerably and effectively enrich the quality of the defence force of the country. The very fact that the emergency recruitment started with the Chinese aggression is now complete proves that the N. C. C. has enabled the army to expand in a national emergency. Although our defence forces have recently been expanded, it is not feasible economically to have a vast standing army when maintenance is an expensive proposition,

and hardly any country, much less a poor country like India, which has to direct its resources to the economic uplift of the masses, can afford it. So in the absence of conscription it is absolutely essential that N. C. C. should be expanded to the maximum extent possible, so that in times of emergency, it may prove an excellent second line of defence. The N. C. C. can really stand in good-stead, as it is basically designed to provide the nation with adequate trained man-power coupled with further advanced training can meet the requirements of the Army force for expansion during an emergency. Organisations like the N. C. C. form a nucleaus to train man power which can be fully mobilised during a period of crisis.

The youth of the country should bear in their mind that they have to display a real sense of duty and dedication to the uplift of the country and pick up every opportunity to make it strong and progressive.

An efficiently organised training can also provide the country with men and women of quality and worth. The training received by an N. C. C. cadet will stand in good-stead in any walk of life. The educated youth basically trained in the elementaries of military skill can very well provide leadership at many levels.

Co-operative Movement

Prof. Sureshwar Singh
[Head of the Deptt. of Commerce]

It is needless to emphasize that Co-operative is to play a very important role in present India. Its ideal "all for each and each for all," has to be achieved, for which purpose, people have to develop an aptitude and also an attitude for it. A proper atmosphere has to be created. The individual has to merge his interest in the pool of common benefit.

The Co-operative movement has, no doubt, recorded definite improvements in certain fields in recent years. But obviously that much is not enough. It does not give much satisfaction.

Probably the Co-operative is not taking due interest in marketing. Present India has to depend on foreigners. We have to live from ship to mouth. To remove this defect, production has to get prior consideration.

Under the present circumstances the Co-operative has to consider the marketing as well as credit aspects. We want our industry to be decentralised. We want employment opportunities to be opened for the largest number of people. We want our agriculture to be peasant-owned and managed. We want the whole economy to be worked out in the interest of the common man.

If these be really our objective, perhaps there is no alternative save the adoption of co-operative means of production and co-operative way of life.

To achieve success, two things are necessary. Firstly, people should be co-operative minded. They should be prepared to accept and work out the co-operative form of management

and enterprise in preference to the private and individual.

Further the availability of the personnel, with the requisite training, is also essential. Books should be prepared in regional language, training centres should be opened by Government, and radio talks and other means of educating the public mind should be arranged.

In addition to these the idea of Co-operative movement can also be usefully spread without involving much cost, if the students of the colleges are trained. The advice and guidance of the teachers can be easily had. The ideal of Co-operative can gain momentum without disturbing the college curriculam, if students are trained during the long vacations. Following the example of Shantiniketan, every college should have its own co-operative store. The store will cater to the demands of the students. It will also impart practical training to them.

Such training can be of immense help to the students. They can be trained and sent to the different centres for the training of the rural people according to their convenience. Thus the village cottage industry can be revived.

The stores established by the colleges can provide students with part-time employment during their academic career. After leaving colleges they can create employment for themselves. They will be able to procure work and credit through college, societies. After such persons are properly settled in life, they may pay back their loans in easy instalments.

Like labour co-operative societies, the student's Shramdan societies should be formed,–not to earn but to help the country. Their work will be a source of inspiration to the public. So it can be a torch-bearer even in this direction.

The stores so entrusted with the work of distribution will achieve national objective. They can do it without displeasing anybody except those who want to profiteer at the expense of the society.

The scope and sphere of college Co-operative stores can very well be expanded even as an experimental measure. It should be done with missionary zeal. It is hoped that such stores may be helpful in bringing about economic freedom to the country.

The Economic Philosophy of Pandit Jawaharlal Nehru

Principal R. P. Agrawal

Pandit Jawahar Lal Nehru is no more. The Jewel of India is gone. In his death we have lost the dearest of us, Mother India the bravest of sons, world the greatest of leaders, peace and humanity the sincerest of devotees. He was undoubtedly the most outstanding personality of his time. Addressing the nation over air some seventeen years back on thirtieth January, 1948, when Mahatma Gandhi died, he said, "The light has gone out of our lives and there is darkness everywhere". After his death, one is compelled to repeat the words he spoke with greater intensity and seriousness, because, when Mahatma Gandhi died, he left Nehru to look after the country but when Nehru died, who is there to look after it and the world with that care and sincerity, with that wisdom and foresight ? The problems before the country apparently solved, still remain unsolved. That can be done only when we, the 44½ crores sons and daughters of India take a pledge that each of us would try to become, what he urged us, would dedicate ourselves to the ideals he stood for, and would follow in his footsteps with wisdom, foresight and reasoning. Because to follow him blindly would mean foolishness and amount to disregarding his principle. Blind followers, he never liked. He himself on certain issues and on several occasions, differed sharply with his great teacher and leader Mahatma Gandhi. He was a dynamic personality and he appreciated one, in whom he saw this dynamism of life. In these circumstances the homage that we can pay to that great and immortal soul is neither by placing wreaths and garlands at his Samadhi, nor by erecting big statues of his, at various places, nor by issuing coins after his

name and carving his name in gold and silver, but by dedicating ourselves wholeheartedly to the ideals he stood for, the principles for which he fought throughout his life. If we do it, though physically gone, he will be always with us, and his words that he spoke, when Mahatma died will be applicable to himself. He said "The light that has illumined this country for these many, many years will illumine this country for many more years to come and a thousand years later, that light will still be seen in this country and the world will see it, and it will give solace to innumberable hearts. For that light represented the living, the eternal truths, reminding us of the right path, drawing us from error, taking this ancient country to freedom."

The time has come when we have to remember his ideas and the policies he laid down. Let us see, what were these? It can be safely concluded that if Gandhian era was meant for bringing political freedom to the country, Nehru era was destined to bring economic freedom to it and to its each and every citizen, based upon the concept of planned economic devlopment by democratic means, having the structure base of mixed economy. In other words, to realise the goalof socialistic pattern of society and a co-operative commonwealth, Nehru laid strong foundations during his litetime, upon which simply by practicising the ideals he preached, and following in his footsteps with care and wisdom, we can safely erect the great structure of economic prosperity and well-being. What is needed is a clear grasp of his economic ideas, the views he held on various economic issues and the economic philosophy, which he tried to develop and which he believed in.

He was undoubtedly a complex personality and in his approach to economics too his mind was complex. His ideas cannot be generalised in one or two sentences. True, he was not essentially an economist, and he himself would have declined any such honour, but it is true as well, that he took a complex, objective and rational view of modern

economic problem, differing with all the mainstream of the then prevailing economic thought whether Marxism or Capitalism or Gandhism. On various economic issues, he differed sharply even with his great teacher and leader Mahatma Gandhi, and made an attempt to remove and wipe out obscurantist reactinary economic thinking in India.

It is interesting to note how in early twenties, as a youngman, full of vigour and vitality, he was attracted towards the economic problems, then facing India. During his first visit to countryside, when he saw the misery of the starving peasants, clad in rags, hungry and emaciated, and heard the stories of oppression and humiliations heaped upon them, of the cruelties of the landlords and their agents, the rapacity of the money-lenders, the kicks and bitings they were subjected to, their ejectment from their land and miserable hovels, he wrote, "Looking at them and their misery and overflowing gratitude, I was filled with shame and sorrow, shame at my own easy going and comfortable life and our petty politics of the city which ignored this vast multitude of the semi-naked sons and daughters of India, and sorrow at the degradation and overwhelming poverty of India. A new picture of India seemed to rise before me, naked, crushed, starving and utterly miserable and their faith in us, casual visitors from the distant city, embarrassed me and filled me with a new responsibility that frightened me." Ultimately it was this picture of naked, starving crushed and miserable India, lying in his subconcious that led him to question the validity of political freedom as an end in itself. Though Gandhism had given Nehru's nationalism a distinct stamp, yet it had not quite stilled the turmoil within him or answered compltely the many questions, doubts and hesitations which plagued and pursued him. Surely independence was not an end in itself and if it was not, what form of social and economic freedom would an independent India aspire to achieve ?

Prior to his historic journey to Europe in 1926, Nehru had no definite ideas in his mind on these issues and

he was not very clear on these points, but when he returned, he had certainly very definte ideas as to what independence for India should mean politically, economically and socially. He was impressed by the vast political economic and cultural changes going on in Europe and America, and in Soviet Russia as well, which (Soviet Russia) despite certain unpleasant aspects, attracted him greatly and seemed to hold forth a message of hope to the world.

At this period he did not know much about the 'fine points' of Communism and his acquaintance was limited to broad features. He had read neither Marx nor Marxis tliterature carefully, which he was to do during his stay in prison in early 1930's. Later he wrote "I had not read anything about Marxism then, but my sympathies were very much with Lenin and others". At the same time he was irritated by the communists' dictatorial ways, their aggressive and rather vulgar methods, their habit of denouncing everyone who did not agree with them. These weak and dark points of Communism led him to write in 1936 : "I am very very far from being a Communist. My roots are still perhaps partly in the nineteenth century and I have been too much influenced by the humanist, liberal tradition to get out of it completely. This bourgeious background follows me about and is naturally a source of irritation to many Communists. I dislike dogmatism and the treatment of Karl Marx writings or any other books as revealed scripture, which cannot be challenged ; and the regimentation and hersy hunts which seem to be feature of modern Communism. I dislike also much that has happened in Russia and the excessive use of violence in normal times." And so it led him to believe that Communism, as Marx preached, is as outmoded as the capitalism of the Laissez Faire school.

Yet Marx's scientific method in evaluating social and economic phenomena undoubtedly influenced him. He had admitted, "I incline more and more towards a Communistic philosophy, but I am against considering Marxism as a dogma", and in his autobiography he has quoted

Lenin's statement in his support. Lenin wrote, "we think that it is specially necessary for Russian socialits to undertake an independent study of the Marxist theory, for that theory gives only general guiding ideas which can be applied differently in England, for instance, than in France, differently in France than in Germany, differently in Germany than in Russia."

All this shows, as Frank Moraes in his book "Jawahar Lal Nehru"– a biography, has put it: "The colouring of his thought is Marxist but it permits a mind which is modern, independent and nationalist." This Marxist bent of mind shows his antipathy towards Eapitalism, Laissez Faire Economic system and 19th century Economic thinking as well. The system of private property with uncontrolled inheritance rights, according to him went against the real spirit of democracy, led to the domination of a few over the rest of the general mass and ultimately resulted in class conflict – a conflict between the rich and the poor. This antipathy to the nineteenth century concept of formal democracy which gave a semblance of political equality but cloaked many social and economic inequalities had been growing steadily in him. He was convinced that this type of Government was only a democratic shell to hide the fact that one class ruled over the others. In reality it was ploutocracy– the Government of the priviledged and the wealthy which went against the concept of real democracy. He showed his "extra-ordinarily stubborn continuity of thought and feeling" when, as President of the Lahore session of congress he declared, "I must frankly confess that I am a socialist and a republican and am no believer in kings and princes or in the order which produces modern kings of industry who have greater power over the lives and fortunes of men than even the kings of old and whose methods are as predatory as those of the feudal aristrocracy……. The Congress, it is said, must hold the balance fairly between capital and labour and zamindar and tenant. But the balance has been and is terribly weighted to oneside and to maintain the status quo, is only to maintain

injustice and exploitation. The only way to do the right is to do away with the domination of any one class over another."

Quoting this statement of his, Frank Moraes in his biography has remarked, "Twenty years later, as Prime Minister, Nehru's thoughts moved in the same groove when he declared with equal emphasis that the objective of his government was the transformation of India into a socialist state, private enterprise would have its place in his scheme of things but only under the strategic control of the government. In other words the balance tilled against the have-nots, would be righted by removing the harsher inequalities between the classes and masses and by adjusting the returns for labour and capital on a more equitable basis. Social justice was the ideal, not social regimentation. This envisaged a classless society but more on the socialistic than on the Marxist model with the Utilitarian Motif predominating. It was Mazzine speaking through Marx".

Besides this, one of the chief reasons of his antipathy to Capitalism was its ideological association with colonialism. Colonialism and Capitalism were, according to him, two faces of the same coin. Capitalism with its hankering after cheap labour and cheap raw materials lead ultimately to Colonialism. The profit motive inevitably leads to conflict. Analysing its bad effects, philosophically, he states, "The whole system protects and gives every scope to man's predatory instincts, it encourages some finer instincts no doubt, but much more so the baser instincts of man. Success means the knocking down of others and mounting on their vanquished selves." Praising the dynamics of the economic law of motion of modern society discovered by Marx, he denounced the work of liberal laizsez Faire economists, because they seemed to him to be more concerned with reducing economics to vague academic theories than with discussing it in a practical context.

His antipathy towards Capitalism led him to sharp differences with Mahatama Gandhi on some of the issues involved, and it is true to say

that he never accepted many views of Gandhi on Economics, specially on the concept of trusteeship and private property, his outlook towards small scale production, his philosophy of satiety of wants and his antipathy towards heavy mechanisation and industrialisation. In his autobiography, he asks: With all his (Gandhi's) keen intellect and passion for bettering the downtrodden and oppressed, why does he support a system which is obviously decaying, which creates this misery and waste ? He seeks a way out, it is true, but is not that way to the past barred and bolted ? And meanwhile he blesses all the relics of the old order which stand as obstacles in the way of advance— the feudal state, the big zamindaris and Talukadaris, the present capitalist system. He further asks, "Is it reasonable to believe in the theory of trusteeship to give unchecked power and wealth to an individual and to expect him to use it entirely for the public good ? Are the best of us so perfect as to be trusted in this way ? Even Plato's philosopher-kings could hardly have borne this burden worthily. And is it good for the others to have even these benevolent supermen over them. Then he states the reality. But there are no supermen or philosopher kings, there are only frail human beings who cannot help thinking that their own personal good or advancement of their own ideas is identical with the public good. The snobbery of birth, position and economic power is perpetuated and consequences in many ways are disastrous."

According to Nehru, in Gandhi's thinking, private wealth constituted a trust. He regarded this view as economic heresy. He quotes Tom Paines remark on Edmund Burke: "He pities the plumage but forgets the dying word." Nehru absolves Gandhi of forgetting the dying bird. "But why" he asks peevishly "so much insistence on the plumage".

Gandhi's praise of poverty and suffering also seemed to him a dangerous form of idealisation and an incitement to the more selfish and greedy to perpetuate the old order of things. Although the ascetic life might suit individuals, Jawaharlal could see no special virtue in it as a social ideal. Interpreted in mass terms, it was mass

masochism.

He also showed his antipathy, towards Gandhi's "change of heart theory" and went to the extent of saying "That is the pure religious attitude to life and its problems. It has nothing to do with Politics or Economics or Sociology." In the same way Gandhi's views on industrialisation and mechanisation and his emphasis on small scale production seemed to him the result of reactionary thinking.

All this shows an analytical and critical, intelligent and practical mind engaged in the quest of a new Economic philosophy, because none of the then prevailing trends of Economic thought, neither Marxism nor Gandhism nor capitalism could satisfy him intellectually, yet according to him, all these trends had some fine points which needed to be synthesised, if a truly balanced Economic philosophy was to be developed. Marxism, undoubtedly influenced his Economic theory, but could not capture it. Capitalism disappointed him yet the utilitarian idea of doing maximum well-being to maximum number and its liberal ideals appealed him, Gandhism irritated him for its theory of trusteeship and satiety of wants, yet its peaceful ways he liked and tried to practise.

All this led him to present a synthesis—a new Economic philosophy the concept of socialistic pattern of society having the structural base of a mixed economy, based upon the idea of co-operative commonwealth—an outline of which he sketched as early as 1936. He wrote, "our final aim can only be a classless society with equal Economic justice and opportunity for all— a society organised on a planned basis for the raising of mankind to higher material and cultural levels—to a cultivation of spiritual values, of co-operation, unselfishness, the spirit of service, the desire to do right, good-will and love—ultimately a world order. Everything, that comes in the way, will have to be removed gently, if possible, forcibly, if necessary."

When India attained freedom in 1947, Nehru became the Prime Minister and from then onwards he was

bent upon putting his ideals into practice. Regarding this attempt of his, a writer has remarked "In Independent India, Nehru is attempting to prove that an Economic and social revolution, built upon the Utilitarian principle of greatest good of the greatest number, is equally possible without violence or class conflict. There is to be no intermediate stage, of the dictatorship of the proletariat, as Marx conceived it. Instead, the state by holding the ring will ensure that there is no exploitation of workers or any other class for the benefit of another. There is no exploiting-class left". Nehru wrote analysing Marxist possibilities as far back as June 1933 : "If there is any exploitation, it is done by the State for the benefit of all."

This shows what in fact he really was. He was a Marxist by intellectual convicion who wished to bring in the socialist millenium by democratic means and methods. In this process he carries both Marxism and democracy; a step further, hoping to prove—in another favourite phrase—that they can co-exist in a politico-economic revolution. Here Nehru represented a type, unique in the history of the period—a Marxist theorist wedded to democratic practices".

Thus he was a bridge between Marxism and Gandhism and a synthesis between the traditional and the new—a link between the extreme Gandhians and extreme Marxists. He had never been a Gandhite in the sense in which some of Gandhi's followers have been, and never treated Marx as the disciples of Marx attempted to treat him which compelled Nehru to quote Engles. "Thank God, Marx was not a Marxist." Undoubtedly in the field of Economics he was the greatest of synthesisers that twentieth century produced.

I salute him as a great soul, and being a student of Economics, as a great Economist. Let us recite the Vedas :—

Holy [illegible], may the Sun, Air, and Fire be auspicious unto them. The

dear ones on the earth do not bewail their lot at thy departure, for they know that thou art gone to the radiant regions of the blessed. May the waters of all rivers and oceans be helpful unto thee and serve thee ever in thy good deeds for the welfare of all being. May all space and its four quarters be open unto thee for thy good deeds."

"The best hope for the creation of a new humanity seems to lie in the improved integration of aspects of personality which are now at war with each other"

—**Oliver L. Reiser.**

The Nation Needs Emotional Integration

Ramchandra Singh
DII Prev. Pol. Sc. (Hons.)

India has been declared a secular state. Seventeen years have passed and yet it has not reached the beginning point of secularism. Racial and religious riots and language conflicts always break out in many parts of the country. This is the main reason that the process of development has been so slow. Some times, it seems that these riots and conflicts would break the nation into pieces. And now the question arises as to what is the remedy of this malady of the nation. The only answer of the question is that the nation needs emotional integration.

I am not enamoured of the expression, National Integration. It suggests as if we were trying to integrate different races or different nationalities into one nation. That truly is not the problem that faces us. People living in India belong to the same race and are ethnologically the same.

Such differences as we have, are linguistic and religious. But neither religion nor language constitutes an essential ingredient of nationhood. It is true that in India we have many languages and many regional cultures and we have also people practising different religions. But all through history, India has presented a picture of synthesis. The culture we have evolved is the result of contributions made by different people who entered India at different periods of our history, settled down at some place of the soil and adopted this country as their own.

The different languages spoken in India do not militate against a common nationality. The U. S. S. R. has 50 languages and has still become one of the most powerful nations in the world. The many languages in India have influenced one another

and most of them owe their origin to a common classical source. The real problem that we have to face is the problem of Emotional Integration. Owing to historical reasons and specially the policy pursued by the British Government, the two major religions have tended to keep apart, but this was not always so in the days of Akbar, Jahangir and Shahjahan. The Emperors looked upon all their subjects, whatever their religion, with equal respect. Even in recent times in Indian states, whatever their other shortcomings, the ruler was looked upon as a *ma-baap* by all the subjects, whatever their denomination. It is pertinent to note that while there were communal riots in British India, there was hardly any communal problem in the Indian States. We have therefore, to change this feeling of separateness between the two major communities living in the country. The Muslims have to realise that India is as much their mother-land as of the Hindus, and their future is bound up with the greatness and prosperity of the country. They must not sulk under their own tents, but should join the mainstream of national life and participate in the national activity. The Hindus also should acknowledge that 45 millions of their fellow citizens, although they practise a different religion, are flesh of their flesh and bone of their bone.

This sense of separateness will disappear if we have more education and of the right type. Our history should be re-written so as to emphasise the national character of our past. We should learn to respect and revere all our great men who have enriched the pages of Indian history, whatever their religion.

What we have to learn is not to attach labels to human beings according to their caste, community or religions, but to judge them for themselves. This requires a psychological revolution, and revolutions can be brought about not by passing resolutions but by action and by implementing the policies which lead to the consummation which we most desire.

India's Closest Friend-Nepal

Krishna Chandra Singh
DII Prev. Pol. Sc. (Hons.)

India is a democratic country. She does not want to align herself with any power blocs of the world. She wants to establish friendship with all the countries of the world. She has gained independence very recently. During this short period, she has established friendship with many countries. Nepal is also one of them. She is her best friend. It is a small country as big as Bihar. Both the countries have the same civilization and culture. There is a natural bond of love between them. Though she is a small country, she has always been an independent country. Even the strong Britishers could never subjugate her. The Nepalese are very brave and strong. They do not know what is fear. They have proved their worth many times. The Nepalese army, is regarded as a good military force. So the Nepalese are well-known for their bravery all over the world.

Nepal is quite adjacent to India. So she does not want to live apart from her. Both the countries have to pace together along the path of prosperity. Therefore India's policy is to help Nepal in every sphere of development. But it is a matter of great regret that Nepal uptill now lacks in trade and commerce. Nepal does not lack in resources. She is rich in minerals, forests and water. But in the absence of technical know-how she has not been able, as yet, to utilise them. At present there is Constitutional Monarchy in Nepal. Sometime ago, there was Rana regime in Nepal. But it was liquidated by the King of Nepal following the revolution of the people against the Ranas. Now the king of Nepal is Shree Mahendra Veer Vikram Shahdeo. He is

well educated. He has travelled many countries of the world. He is always trying for the all-round development of Nepal. He has brought about a great change in the field of education. There is also a University in Nepal which is called Tribhuvan University.

India has extended a helping hand to Nepal. She is helping her with finance under the Colombo Plan; and the second plan is Trisuli Hydel Project which is going on even now. It will be completed very soon and will supply adequate power to Nepal. India has also promised to construct roads in Nepal. Tribhuvan Rajpath is an important achievement.

Nepal is also getting much help from other countries of the world. They are providing many things to Nepal. They are trying to win her over to their respective sides. But they are situated far from Nepal. They are not so much closely bound with Nepal as India is. India and Nepal are not only politically-bound, but they are on the same footing in other respects too. The people of both the countries are tied together by marriage and other relations for a very long time. There is blood relationship between the people of the two countries.

Nepal is adopting the same policy which India has already adopted. There is treaty between India and Nepal. So an invasion on Nepal will be regarded as an invasion on India. In that case India will deploy her entire strength in defending Nepal. The enemies of India and Nepal are always on the outlook to cause break-up in their close relationship. But now the Nepalese have enough wisdom and rational power to distinguish between their foes and friends. A day is soon to come when India and Nepal will stand firm on their legs.

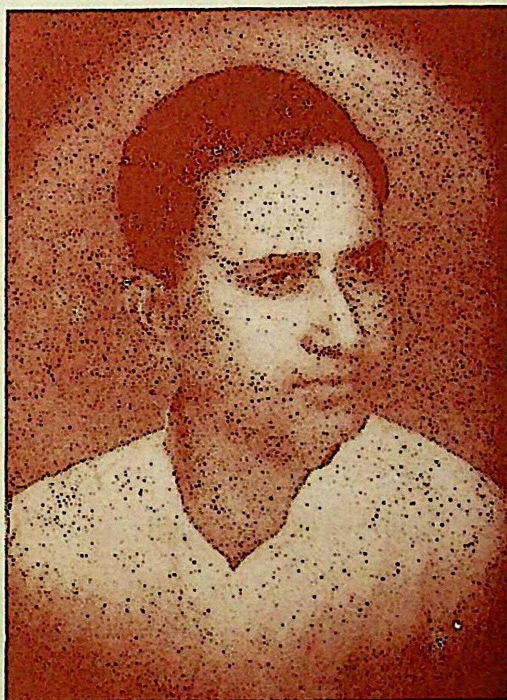
As India is trying to improve her economic condition by implementing Five-Year Plan, Nepal is also doing so. She has introduced revolutionary land Reforms. She is also for abolishing the exploitations of the poor by the rich people of Nepal. These have been launched only in sixteen distric-

cts of Napal. But gradually these will cover the entire country.

India and Nepal are marching together. Nepal has joined her hands with India in Koshi and Gandak projects. If they always try to co-operate with each other, they will surely gain more and more prestige in the world. A bright ray of hope is lurking in the hearts of the people of both the countries that one day their countries will proudly stand in line with the strong and advanced countries of the world, and contribute richly and liberally to human progress in the different fields— sience and technology, art and culture, religion and philosophy.

"This world has suffered much pain and cruelty from doing what we believe to be right, rather than from doing what we knew to be wrong."

—**Dr. Radhakrishnan.**



Shri H. K. Singh **M. A., B. Litt. (Oxon)**

Secretary, G. B., S. R. K. Goenka college



India China and Afro-Asian Nations

Shri Hari Kishore Singh, M. A., B. Litt. (Oxon)

Long before the achievement of national freedom, some basic thinking was made on the foreign affairs of free India. This was to have an honourable place for the country in the comity of nations and to provide a healing touch to the strife-torn world. The firm stand taken by the Indian National Congress during the Second World War in regard to the "willing participation" of the people of India in the British Imperial war efforts had made it abundantly clear that the future national government of the country was unlikely to make concessions on the basic questions affecting the destiny of mankind and the dignity of the individual.

Voice of Afro-Asia

Thus the most fundamental question for the formulators of Indian foreign policy on the morrow of independence was to get the process of liquidation of the Imperial rule over the countries of Afro-Asia accelerated. The successful convening of the Asian Relations Conference at the very threshold of independence was indeed a unique achievement for a country languishing under foreign domination and rule over centuries. It is no truism to suggest that India remained the leading voice of the people and countries of Afro-Asia striving for dignity and nationhood for more than a decade. The convention of Afro-Asian nations and national liberation movements at Bandung in 1955 was indeed a glorious landmark in the history of Afro-Asia and one of the great achievements of Indian foreign policy under Jawahar Lal Nehru. But the Bandung Conference also presented a challenge to our leadership in the shape of Communist China. Takign

undue advantage of the generosity of the late Prime Minister of India, Communist China made its maiden appearance on the Afro-Asian stage so glamorously that the modest nations were rather dazzled and dazed. Events have proved that the Communist Chinese ruling clique from the very inception of their emergence as the Government of China nourished imperialistic ambitions and were only waiting for proper conditions for the realization of their imperial dreams.

The border incidents and the occupation of large areas of our territory preceding the full-fledged aggression in October 1962 was part of a long drawn plan of occupation and domination of the countries of Afro-Asia. And as we have seen the Communist Chinese can stoop to any low to realise their nefarious ambitions.

Chinese aggression and non-alignment

The aggressive designs of Communist China present the greatest challenge to our faith, wisdom and honour, dignity and territorial integrity. Viewed in the context of current world situation the danger of domination of the whole of south and south-east Asia by Communist China becomes much more meaningful. One of the basic tenets of Indian foreign policy has been the policy of non-alignment between the two super world powers i. e. the United States of America and the Union of Soviet Socialist Republic. Even during the hot periods of the 'cold war', the government of India had been able to render useful services in the cause of peace and freedom. The Geneva Conference of 1954 on the Indo-Chinese states and the Suez crisis of 1956 are the two outstanding illustrations to substantiate the rightful claim that the chief objective of our foreign policy has been the promotion of the cause of peace and freedom. The irony of the present situation is that while the world has moved towards an era of new alignments and the power blocks are in disarray, we who have always espoused the cause of world peace and disarmament are forced to seek military assistance from all possible quarters although the purpose is entirely defensive. One of the main

political objectives of the Communist Chinese behind their aggression of 1962 was to compel India to seek military alignment and force her to join the American block and thus to expose her as a hypocritical advocate of the policy of non-alignment. Luckily, we were saved by the foresightedness of the former leader of Soviet Union, Nikita Khrushchev. But our failure to protect and regain our territory has lowered our prestige in the eyes of the world and consequently has very much reduced our effectiveness in world affairs.

India and Nuclear Weapons

Another objective of the aggressive Chinese designs is to bring India into the race of nuclear armaments and to expose her as an insincere advocate of the policy of nuclear disarmament. The first Chinese blast of atomic bomb had aroused a near panic condition in our country and even those who are known for their cool and sober thinking sounded chauvanistic on the issue of ourselves entering the nuclear armament race. The government of India has wisely resisted all pressure for making atomic weapons.

China as 'reasonable' neighbour

Another politico-diplomatic objective of the Communist Chinese has been to expose India in the eyes of the world as an unreasonable neighbour. And this the Chinese have tried to achieve by settling their so-called border problems with Burma, Nepal and Pakistan. But while the governments of both Burma and Nepal have clearly seen through the Chinese game, the rulers of Pakistan, in their excessive hatred of India have fallen prey to the Chinese designs. The present honeymoon between Pakistan and China is clearly based on their hatred of and hostility towards India. And here the Chinese aim is, besides embarrassing and harassing India in collaboration with Pakistan, to manoeuvre the latter in a situation where its relationship with America is also strained if not completely broken off. And so far the Chinese have been remarkably successful in this twin objective.

India's difficulties and needs of Afro-Asian Nations

The menace of Communist China has tended to colour the whole direc-

tion of Indian foreign policy. The problem of safeguarding the territorial integrity of the country has naturally become the primary object of our foreign and defence policies. Consequently, we are no longer able to contribute effectively towards the solution of the major problems with which most of the Afro-Asian nations are faced. As a result our leading position as the champion of the newly emergent nations of Afro-Asia has been rather shaken and Communist China is now trying to take the lead instead. In the pursuit of this objective the Communist Chinese have an edge over us because of their socio-political and economic system.

Democratic vs. Authoritarian system

Democratic polity as opposed to authoritarian system suffers from some inherent weaknesses, the foremost being the delay in the process of decisions and policy making. The defective execution of Governmental decisions and the wide spread corruption prevalent in our society are other major weaknesses from which we suffer in relation to the Chinese. State ownership of all means of production and distribution of wealth is another advantage which the Communist Chinese have over us. The authoritarian system of government and the complete ownership and control of national wealth have created a condition in China under which it has been possible to exhibit to the world the strength of the Chinese system in comparison to the sluggish growth of Indian economy. Thus the Communist Chinese with their atomic bomb, authoritarian polity and better rate of economic growth are an attraction for the newly independent nations of Afro-Asia. This of course has been achieved at a tremendous sacrifice of human values and lives. But it is rather tragic that in the context of present world situation very few people, much less nations, pay any attention to the finer attributes of human civilization. Military and economic might is the main source of strength and attractions of a nation. Thus today India is faced with a situation where it may have to decide

either to do away with her liberal and democratic institutions and bid farewell to her ideals of individual freedom, human dignity and policy of co-existence and be strong, or to go on with her institutions and ideals and look temporarily weak and be less effective in the comity of nations specially in the eyes of the Afro-Asian people.

The challenge and Response

A major weakness of our foreign policy has been the lack of proper publicity in foreign countries of our efforts to improve the lot of our people at home and to create a better climate and situation abroad where the rest of the world can do the same for the rest of the humanity. If democratic India has to survive, then its achievements must be duly publicised in the world, so that people may become aware of our gigantic efforts to better the condtions of life and existence of one fifth of humanity. Economic difficulties apart, the tremendous changes brought about in the lives of our people in the wake of independence is some thing to be proud of. If India's struggle for national independence was the model for the struggle for independence for the most of the Afro-Asian people and the leaders of the Indian National movement their idols, there is no reason why democratic India with its planned efforts to improve the conditions of its people should not again become the model for economic and social reconstruction for the rest of the Afro-Asian world.

"Man is at the beginning and not at the end of history, striving to build a world of love and charity, of truth and creativity, a world which has not yet been truly born". **——Dr. S. Radhakrishnan.**

Society Reports

MILITARY SCIENCE ASSOCIATION

With the implementation of the scheme of compulsory Military Training in the context of external aggression, the students' interest in the study and discussion of the problem related to the defence of the country has been stimulated. So the need of an association to provide a forum for academic discussion was intensely felt. The Military Science Association was formed mainly:

(a) To stimulate the interest of the students in general and cadets in particular in the defence of the country,

(b) To organise lectures, debates, elocutions and symposia on NCC and Military topics,

(c) To encourage the students to write articles for competition and contribute to the various journals of N. C. C.

Brig. U. C. Pant, the then Director of NCC, Bihar, inaugurated the Association on 19 March'64 in the college Hall, before a large and distinguished gathering. Principal R. P. Agrawal presided.

Brig. Pant said that Military Science was as old as human civilisation. But he regretted that not much progress had been done in our country in this field and much had come from outside. In Bihar, he said, people were not much interested in Military affairs though written records of Military Science came from this part of the country. Kautilya's contribution is well known. Brig. Pant advised the cadets to evince more interest in NCC and Military science. Maj. G. S. Channi also addressed on the occasion.

There is a move to introduce Military Science as one of the regular subjects of study at all stages of college and University education, and the sooner it is done, the better for all of us.

Lt. N. S. Garg
President

Juo G. Shanker Pd.
Secretary

Athletic Society

The Athletic Society during the current session, as in every session, commenced its activities from the month of July, 1964, with the game of Football, which is popularly played liked and sought after, by a majority of students. The boys showed a lot of interest in the game which was played with zeal and enthusiasm throughout the session. Certain matches were played in which the college eleven showed its merit. The credit of imparting good and consistent practice to our team must go to Prof. S. N. Thakur, ex-president of the Society and Sri S. Muradpuri, the Sports-organiser.

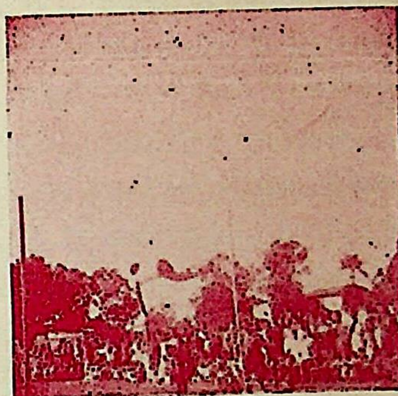
After the season of Football was over, we went out with Volley-ball and cricket. This year the facilities for the game of volley-ball were extended to the college boys at a comparatively larger scale. Cricket, of course, is not very much popular here, even then, interest in the game is constantly growing, and our boys are inclining to it gradually.

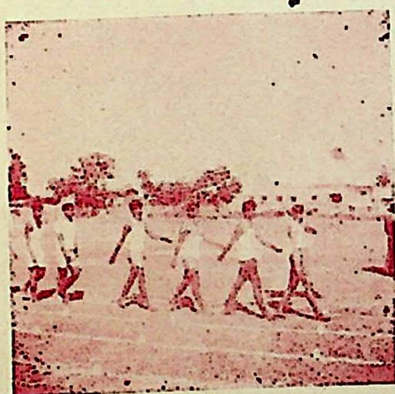
We held our Annual Sports on the 5th February 1965. It is a happy point to note in respect of the Annual Sports that our athletes bettered almost all the records exceedingly well in every item, and some of the records established this year, nearly touched the University records. Our athletes this year were particular in having practice with certain important items such as Javelin, Discus, Pole-Vault, etc. beforehand. That they were made interested in the practice is also an achievement of the Sports-Organiser who gladdened me with this piece of information. This has yielded us very good results indeed. The number of aspirants in sports is also on rise.

Prof. U. S. P. Sinha, the Vice-President of the Society, has all along been taking a keen interest in boosting up the general activities of the society. His co-operation extended to me is praiseworthy. The Secretary Sri Baidya Nath Singh of DII Final Arts, has been painstaking and sincere in his work.

Prof. V. B. Singh
President,

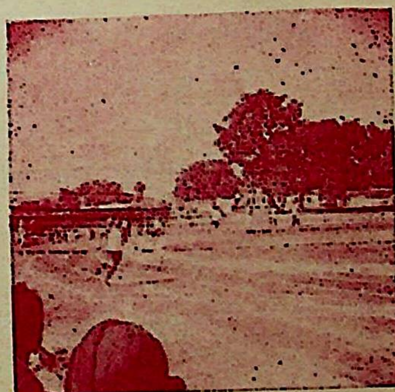
High Jump at the Annual Sports





March-past at the Annual Sports

1500 metres Race at the Annual Sports



United Nations Students' Association

The College unit of the UNSA is an extension of the Bihar Branch of UNSA, which was originally set up in February, 1953 to create an awareness and to diffuse knowledge about the United Nations and its beneficient activities among the students of Bihar.

The Society has been progressing satisfactorily, organizing lectures, debates, essay competition etc. on important political and social issues, viz., The Kashmir problem, The Goa problem, The Suez crisis, The Evolution of Life, The Universal Declaration of Human Rights, Mr. Nehru's contributions to world peace, and so on. Prizes and medals have also been awarded to students for their meritorious work, from time to time. Famous educationists from different walks of life have from time to time graced the special functions of this society with their presence and addressed the students. For example, His Excellency Sir C.P.N. Singh, the then Governor of the Punjab, presided. Prominent scholars of the calibre of Sri Ashok Mehta, Dr. B.B. Majumdar, M.A., Ph. D. (Cal.), P.R.S., Sri S.B.L. Verma, M.A., Advocate, Dr. Ramashis Thakur, the then college secretary, Sri. P.S. Kohli, I.A.S., late principal B. M. Misra, Sri H.K. singh, M.A., B. Litt. (Oxon) and others, addressed the various meetings of the Society.

During the session 1964-65, Prof. R.R. K. Sinha, Dy. Chairman of the Association alongwith Sri R. R Varma, General Secretary and Sri. D. Pathak, 'Akela' Jt. Secretary took great pains in celebrating the 19th anniversity of the U. N., when Dr. S R. Singh, Reader in History, Bihar University, acquainted the audience with the verious facets of the United Nations Organization, dwelling at length on the future of this world-organization.

Prof. S.R. Sinha
Chairman.

National Cadet Corps

The N. C. C. has been growing from strength to strength since it was started in the college on the auspicious day of 9 Aug' 60 with only one officer and one Platoon of Senior Division Cadets under 2 Bihar Battalion NCC, Muzaffarpur. With the introduction of compulsory Military Training on 15th Aug'63, all able-bodied students of the Degree classes have been brought under this fold. Now we have 4 trained officers and 4 Coys of senior Division N. C. C., and altogether 740 cadets out of the total strength of 1128 of the college, are receiving training. Besides annexing a number of prizes in the Annual Training Camps, our cadets have also represented this institution in All India meet. Three of our cadets have participated so far in Republic Day Parade in New Delhi, and one attended the All India Summer camp at Ootacamund, Madras. The college NCC team was adjudged the best in drill competition in Annual Training Camp, Turki, and was awarded the biggest cup by Sri J. S. Bali, Commissioner, Tirhut Division. In NCCR camp at Muzaffarpur, the all-round best cadet was chosen from our college. Two of our cadets completed successfully the Cadet Instructor's camp at Ranchi.

The response of the cadets has always been encouraging, and they have shown ever-increasing interest in the activities of N. C. C. They have also contributed a handsome amount to National Defence Fund in response to the call of the Director General N. C. C.

Messrs. B. N. Jha, former Chief Minister, Bihar, Dr. P. L. Shrivastava, Vice-Chancellor, Bihar University, Brig. U. C. Pant, Director N. C. C., Col. A. S. Chima, Circle Commander, J. C. Mathur, Commissioner, Tirhut Division and other distinguished visitors have spoken very high of the performance of our cadets.

Ever since the introduction of NCC in this college, the general discipline of the students has improved a lot and the staff and the students have developed a special fascination for it.

A 25-yard permanent Short Shooting Range has also been constructed in the college campus for providing Practice Facility to the cadets in Rifle shooting. But the need of the construction of a Kot for keeping arms and ammunition is intensely felt.

We are very much thankfulto late Principal B. M. Mishra and the present Principal R. P. Agrawal for evicing keen interest in the growth and activities of the organisation.

N.C.C. Staff

Lt. N. S. Garg	2/Lt V. B. Singh
Lt. S. N. Prasad	2/Lt B. Mishra.



English Literary Association

English Literary Association has remained a forum for enthusing students of the college to share in literary discussions in English language and to culture their eloquence and writings on subjects either literary or of contemporary extra-literary interests. It also managed to have scholars of eminence from other sisterly institutions of the state as Principal M.N. Bose of Barouni college, and Shri. A.N. Thakur, then serving L.S. college, Muzaffarpur (now on the Text Book, Bihar), besides many others, for very useful talks, in the past. It may be mentioned that the patrons of the magazine have published the paper read by Shri A. N. Thakur at the Association meeting and left with us. It needs mention that late Principal B. M. Mishra, a reputed scholar of Hindi had always been taking keen interest in the meetings of the Association and for long remained an inspiration to it. Much because of his sad demise and the confusive state of affairs thereafter and also because of not-too-enthusiastic a spirit of students towards English as prevails today, the Association could not do much work during the session. However, some debates were held and one essay competition was conducted. We hope to fare well in the coming session.

Prof. A. M. Das
President

The Commerce Association

U·der the auspices of Commerce Association, lectures, debates, essay-competitions and elocution-tests have from time to time been organised. Important economic and industrial issues, such as, he problem of cottage industries, the Nationalisation of Industries, the Rapid Industrialization of India, the Industrial Potency of Bihar etc. have been discussed. Prizes and medals also have been awarded to the deserving students from time to time.

It may be recalled that during the session 1951-62, Dr. S. K. Sinha Memorial lecture Series was organised. Prominent Scholars like Principal B. P. Singh of Rajendra College, Chapra, Prof. K. N. Prasad of R. D. S. College, Muzaffarpur, Prof. Ramjee Sahay of C. M. College, Shri H. K. Singh, M. A., B. Litt (Oxon) and Shri A. P. Sinha, M. Com, Dy. Registrar, Bihar University delivered valuable lectures, concerning the economic progress of India in the realm of Trade and Transport, The foreign Trade and the Land Reforms in India. The 'series' was concluded at a grand function attended and addressed by the then Vice-Chancellor of Bihar University, Col. K. K. Banerjee, who in his valuable speech dwelt upon the role of students in Independent India.

Prof. Sureshwar Singh
President.

University Employment Information And Guidance Bureau

A unit of the University Information and Guidance Bureau has been started in our college under instruction from the Bihar University. A monthly bulletin of the Bureau is regularly received which gives informations regarding admission facilities in different technical institutions of our country and the various institutions of foreign countries. The bulletin also publishes regularly employment opportunities for students. The Bureau has got a library of its own, which in the absence of a separate room, has been temporarily housed in the Biology Departm-nt. The following are the office bearers of the local unit of the Bureau.

Brajkishore Mishra
Secretary

Sreeman Sinha
Prof.-in-charge





स्व० बाबू कमला प्रसाद जी गोयनका सीतामढ़ी के आदर्श नर-रत्नों में थे। सम्भ्रान्त धनीमानी परिवार के होते हुए भी आप आडम्बर शून्य, धर्मपरायण, मौन सेवाव्रती और दृढ़संकल्प महामानव थे। सादगी, सरलता, औदार्य, सौजन्यादि आपके जैसे सहज गुण थे। 'धनं दानाय' और 'आदानं हि विसर्गाय' के आप एक ज्वलन्त उदाहरण थे। स्वयं विद्याव्यसनी न होकर भी अनुपम विद्या-प्रेमी और विद्वानों के सम्मानकर्त्ता तथा आश्रयदाता थे। भगवती सीता की इस महनीयमही में जहाँ एक महाविद्यालय का अत्यन्ताभाव जन-गण-मानस में बेतरह खटक रहा था वहाँ उदारमना कमला बाबू ने कमला (लक्ष्मी) के सदुपयोग से उक्त अभाव की पूर्ति की। अपने स्वर्गीय पूज्य पिता बाबू श्री राधाकृष्ण जी गोयनका के नाम पर उनकी पुण्य-स्मृति में इन्होंने महाविद्यालय की नींव डाली। क्रमशः महाविद्यालय प्रगति के पथ पर चल पड़ा। ऐसे महिमा मण्डित महामानव की सद्भावनाओं से सिंचित यह विद्यामंदिर उत्तरोत्तर विकासोन्मुख है।

गति का लक्ष्य

—पूर्णेन्दु

हर कदम
पिछले कदम से खौफ खाता है
कि हर पिछला कदम अगले कदम से बढ़ गया है—
ठोकरों में, आँधियों में, मंजरित बेहोश अधसोई बहारों में
कि हर बीता कदम जीते विजेता के
उजाड़े हौसलों का काफला है
जो तवारिख के रंगे मनहूस पन्नों में जड़े,
लँगड़े सफर की
आत्मा की रेंगती लौ में डुबा
अब तक अजाना है कि
जो खुद ही समुन्दर है नहीं, वह क्या भला समझे
कि मोती के लिये कितना, कहाँ गोता लगाया जाय !
आज तक त्रेता गया, द्वापर चला, कलि का कदम
आकर रुका है
गो कि सब पिछले कदम की सम्मिलित कसमें,
हजारों, लाख सपनों की जमी रंगीन घाटी की पुकारें
मंजिलों पर रुक गई हैं !
दरअसल यह चाहिये कि मंजिलें आसान होकर
फिर नई मंजिल का सपना दे, उदासी दे
तबाही और बेचैनी,
कि जो समतल गुलाबों का सजग सम्मोह तोड़े,
एक पल ऐसा न दे, जो दर्द
पीड़ा का चबेना फाँकनेवाला
अकेला मन
किसी गुमराह, झाड़ीदार, काँटों में, उलझ आराम चाहे !

❋❋

गोयनका कॉलेज के प्रथम प्राचार्य—
वेणी माधव मिश्र

प्रो० रमाकान्त द्विवेदी, एम० ए०, काव्यतीर्थ
[अध्यक्ष, हिन्दी विभाग]

बात बहुत पुरानी है, लगभग तीस बत्तीस वर्षों की। किन्तु, मन कहता है— नहीं, बात आज की है। बात चाहे जब की हो, पर बात यह है कि उन दिनों मैं आठवें वर्ग में पढ़ता था। घर में प्रथम-प्रथम मुझे ही आंग्ल भाषा पढ़ने की अनुमति मिली थी। उस पथ का सही संकेत बताने वाला कोई नही था। यों मेरे घर में संस्कृत का अथाह सागर गर्जन करता था। मेरे पितृव्य पूज्यपाद महामहोपाध्याय पं० हरिहर कृपालुजी द्विवेदी से देश के हर कोने से ज्ञान-पिपासु जन संस्कृत का अजस्रदान ग्रहण कर रहे थे। विद्वानों की भीड़ लगी रहती थी। किन्तु, उस सागर की मर्यादा का उल्लंघन करते ही मुझे दूसरे का दरवाजा खटखटाना पड़ा, उसमें मिला हो मुझे चाहे जो।

आठवें वर्ग में सब कुछ अंग्रेजी में पढ़ना पड़ता था। मेरे कुछ सम्पन्न साथी घर पर मास्टर रखकर पढ़ते। मेरे घर इसकी जरूरत नहीं समझी गयी और यदि समझी भी गयी, तो मुझे एक आत्मीय के घर जाकर अंग्रेजी में सहायता लेने की अनुमति मिली। उन दिनों बालकों पर माँ-बाप का कठिन नियन्त्रण रहता था। छात्र विद्यालय के अतिरिक्त घर की चहार-दीवारी से बाहर जाने का साहस भी नही कर सकता था। मेरे साथ भी कुछ ऐसी ही विवशता थी। 'आत्मीय के घर जाकर अंग्रेजी में सहायता लेने का योग'—मेरे लिये वरदान जैसा लगा। खुलकर साँस लेने का अवसर तो मिला। मैं बड़ा प्रसन्न था।

अस्तु, एक रविवार को मैं उस आत्मीय के घर पहुँचा, कुछ संकोच और कुछ प्रसन्नता की मुद्रा में। हम दोनों के घर बड़े-बूढ़ों का आना जाना तो बे रोक-टोक चलता आ रहा था; किन्तु, उस घर में जिसके सामने मुझे सहायता लेने जाना पड़ा, उनसे मैं बिल्कुल अपरिचित था; वे एम० ए० प्रथम वर्ष के छात्र थे। कलकल निनादिनी गङ्गा के तट पर स्थित भव्य भवन के कक्ष के एक कोने में बैठे वे कुछ गुनगुना रहे थे, या विचार मग्न थे। जो कुछ भी हो, पर थे वे तन्मय किसी साहित्य की दुनिया में। पता चला कि इनका नाम वेणीमाधव मिश्र है। साक्षात्कार होते ही शिष्टाचार के अनुकूल अभिवादन हुए। मैंने अपना आसन ग्रहण किया। उन्होने बड़ी उत्सुकता और प्रसन्नता से मेरे अध्ययन के विषय में जानकारी की। मुझसे कुछ प्रश्न हुए; कुछ उत्तर मिले; कुछ सहायता मिली और प्रारम्भ हुआ एक नया अध्याय। वहाँ जाकर गुरु की गुरुता नहीं, अपितु आत्मीय की निकटता का बोध हुआ। प्रथम दिन उन्होंने खूब उत्साहित किया पढ़ने को और निकाली एक बहुत मोटी कॉपी, जिसमें अपनी अवस्था

और योग्यता के अनुकूल हिन्दी की सरस कविताओं का संकलन बड़े ही कलात्मक ढंग से किया था। यद्यपि उस समय हिन्दी आदर की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी, फिर भी इनके हृदय में अज्ञात रूप से हिन्दी के प्रति अपार श्रद्धा थी। उस श्रद्धेया हिन्दी को आगे चलकर इन्होंने उच्चासन पर आसीन करने में भरपूर योग दिया। उस मोटी पुस्तिका को खोलते हुए पूछा उन्होंने—'सुनाऊँ कुछ ?' मैं विस्मय विमुग्ध नेत्रों से उनकी ओर ताकता रहा। उन्होंने सुनाना शुरू किया—मेरा मन उसमें लीन होने लगा। तरुण के भाव किशोर के पवित्र मन को छूने लगे। वे पंक्तियाँ आज तक स्मृतिपटल पर अंकित हैं, साफ उभरी हुई हैं :—

"मेरे बचपन की प्याली में यौवन मदिरा क्यों भरते हो ?"
"किसी 'नहीं' में भरा हुआ है 'हाँ' का एक हिलोर।"

ऐसी बहुत सारी पंक्तियाँ मेरे मन प्राणों को छूने लगीं। भाव चाहे पूर्ण हृदयङ्गम न होते हों, पर उनकी तालगंतियाँ मन में हिलोर भरने लगीं। लगा कि ऐसे आत्मीय के घर मुझे पहले से ही क्यों नहीं आने दिया जाता था। न उन्हें सुनाने से हिचक, न मुझे सुनने से तृप्ति। यह क्रम बहुत देर तक चलता रहा। तबतक पाँच बजे मुहल्ले के और साथी जुटे, चहकते हुए हम सब बगल के मैदान में पहुँचे। हम सब दो दलों में बँट गये। मैदान की सीमा पर स्थित बिल्व वृक्ष से एक बेल तोड़ा गया और उसे ही पक्की गेंद मानकर खेल प्रारम्भ हो गया; क्योंकि एक घन्टे से अधिक खेलने की अनुमति नहीं थी, फिर क्यों कोई समय बर्बाद करता ? पहली ही ठोकर में मेरा पाँव तो चोटिल हो गया और शेष खिलाड़ी बच-बचकर खेलते रहे। पर देखा क्या कि विजय की कामना इनमें इतनी प्रबल थी कि बेल की गेंद को रबर की गेंद समझ कर बेपरवाह खेलते रहे और विजय का अवसर आते ही हर्षोत्फुल्ल हो उठे। कुछ देर पहले अध्ययन में तन्मयता देखी, फिर कविता पाठ में और फिर उसी प्रकार खेल के मैदान में—हर चरण पर तन्मयता।

हमलोग तो यह समझ कर खेलते कि मन-बहलाव हो जाय। हम सोचते—'जीत में ही क्या मिला जो हार का भय मान लें हम' पर उन्हें तो जीत में जैसे दुनिया का सर्वस्व मिल जाता।

दस वर्ष बाद मैं एम० ए० पास कर चुका था। वे जीवन के कठिन पथ को पार करते बी० एन० कालेज पटना में हिन्दी के प्राध्यापक होकर आये। हम दोनों प्रेम से मिले, बीच की बिखरी कड़ियाँ जुड़ीं, साहित्यिक चर्चाएँ हुईं। देखा, उनका साहित्यकार बड़ा सजग हो चुका था, आलोचना उच्चकोटि की हो चुकी थी, वाक् शक्ति प्रबल थी। एक महीने के अन्दर बी० एन० कालेज में छा गये। हर जगह एक सफल अध्यापक के रूप में विख्यात हुए। उनकी प्रवृत्ति कुछ सर्जनात्मक हो चुकी थी। मुझे भी उस ओर चलने की प्रेरणा देते। निश्चित हुआ कि मिल-जुल कर कुछ निर्माण-कार्य हो। हमलोगों के साहित्यिक कार्य में जब तक प्रगति आती, तब तक पुनः एक झोंका आया, जो उन्हें सीतामढ़ी उड़ाकर ले आया प्राचार्य के रूप में और पीछे मैं भी पहुँचा प्राध्यापक के रूप में।

हम दोनों सीतामढ़ी आ गए, चतुर्भुज धर्मशाला के दुमञ्जिले कमरे में टिके, पाँच छः और प्राध्यापक वहीं अलग-अलग कमरे में रहने लगे।

महीना था सावन का, वृष्टि घनघोर होती; रात और अँधेरी लगती। दिन में कालेज पहुँचने के लिए पानी में छपाछप करना पड़ता। सब जगह अव्यवस्था—अपना जीवन भी अव्यवस्थित। अगर कहीं व्यवस्था थी, तो केवल आपसी साहित्यिक चर्चा में। साहित्यिक विचारों के व्यंग्यात्मक स्थलों के प्रसंग से हमलोग

मन बहलाते, नहीं तो लगता—यहाँ से पटना लौट चलें।

सबसे कठिन परिस्थिति तो तब उपस्थित होती, जब भावुक प्रिंसिपल आवेश में उग्र कदम उठा देता। सम्पूर्ण महाविद्यालयीय वातावरण हिल जाता। प्राध्यापकगण भी खिंचे से लगते। शासक की तरह नहीं; बल्कि साहित्यिक कलाकार की तरह सब कुछ प्रारम्भ में ही आदर्श रूप में देखने की प्रवृत्ति उन्हें वैसा करने को विवश करती। लगता मुझे कि इनसे प्राचार्य का पद रक्षित नहीं रह सकेगा। मैं भी अपनी कुछ राय देता, सहिष्णु होने को कहता; आवेश उतरने पर निर्णय की सलाह देता, किन्तु इसका असर बहुत दिनों के बाद हुआ और उसके लिये मुझे भी कुछ प्रश्रय मिला।

मिश्र जी की जिज्ञासा वृत्ति बड़ी प्रबल थी। जिस विषय के ज्ञाता थे, उसमें नयी खोज और मौलिक उद्भावनाएँ तो होती ही रहतीं। पर, जिस विषय को नहीं जानते थे; उसे जानकर ही छोड़ते, चाहे वह रसायन विज्ञान हो या भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान हो या वनस्पति विज्ञान, अर्थशास्त्र हो या राजनीति विज्ञान। भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञ प्राध्यापकों से खोद-खोद कर नयी बातों को उभारते और सिद्ध प्राचीन सिद्धान्तों की जानकारी करते। संगीतज्ञ से ताल और लय की महीन बातों को लेकर अपने अन्तर की ध्वनि को उसमें प्रतिध्वनित करते। यही कारण है कि कुछ दिनों के बाद मैंने देखा कि किसी भी विषय पर साधिकार व्याख्यान देने की क्षमता उनमें उभर आयी थी और उनकी उक्त वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई।

सुबह वे सोकर उठते विलम्ब से। मैं कहता—इतनी देर तक नहीं सोना चाहिए। वे मौन रह जाते। दो-चार दिन बाद कहते—"मैं बड़ी देर तक सोता हूँ, ठीक नहीं है। कल से सवेरे जगूँगा।" पर सवेरे उठने वाला कल कभी आता नहीं। किसी दिन सवेरे उठ गए, तो उस दिन सबसे कहते कि आज से मेरी भी आदत सवेरे उठने की पड़ रही है। पर, दूसरे दिन फिर वही पुरानी आदत—देर से उठते। और जब मैं फिर सवेरे जगने की बात कहता, तो कहते "जाने दीजिए द्विवेदी जी! मैं देर से उठता हूँ, तो कुछ लेकर उठता हूं। देर से सोकर उठने पर स्फूर्ति अधिक अर्जित कर पाता हूँ।" उनका तर्क पक्ष सबल था, कुछ जिद्दी भी थे, जिससे तर्क द्वारा अपना ही पक्ष सिद्ध करने का प्रयास करते।

एक दिन हम दोनों बैठे कुछ घरेलू चर्चाएँ कर रहे थे। वे बहुत प्रसन्न मुद्रा में थे; क्योंकि चार दिन बाद उन्हें वाराणसी एक मित्र की बारात में जाना था। उस सिलसिले में उन्हें कई ऐतिहासिक स्थानों का भी निरीक्षण करना था। जाने की पूरी तैयारी हो चुकी थी। मानसिक सक्रियता प्रबल थी। इसी बीच सी० एम० कालेज, दरभङ्गा का एक छात्र आ उपस्थित हुआ। बुरा तो बहुत लगा, विचार में धक्का लगा; फिर भी उसकी ओर उन्मुख हुए। उसने उनसे अपने कॉलेज की परिषद् के वार्षिकोत्सव में अध्यक्ष पद को सुशोभित करने की प्रार्थना की और एक पत्र भी दिया, पत्र उक्त परिषद् के अध्यक्ष का था। वाराणसी की बारात और दरभङ्गे के वार्षिकोत्सव में टकराहट हुई। दोनों की तिथि एक ही थी, फिर भी तत्काल उन्होंने उस छात्र को अपनी स्वीकृति दे दी।

छात्र के चले जाने के बाद मैंने पूछा—पूर्व निश्चित बारात छोड़ कर आपने वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने की स्वीकृति क्यों दी? उन्होंने कहा—'किसी भी अच्छी जगह व्याख्यान देने से बढ़ कर मेरे लिए और कोई सुखद क्षण नहीं होता।'

डा० रामाशीष ठाकुर का वे बहुत सम्मान करते थे। इसलिए नहीं कि उस समय वे शासीनिकाय के मन्त्री थे; बल्कि इसलिए कि उनका वाह्यान्तर–दोनों बड़ा पवित्र था। परोपकार ही उनका जीवन था। परस्पर एक दूसरे से बहुत प्रभावित थे। डा० रामाशीष ठाकुर के सहयोग से वे इस अंचल के हर कोने में व्याख्याता के रूप में घूम आए। उन दिनों मैं प्रसाद-परिषद् का अध्यक्ष था। उन्हीं के लिए महीने में चार-पाँच बैठकों का आयोजन मुझे करना पड़ता था। मुझे तो लगता कि भाषण जैसे उनका धर्म हो गया हो। निर्भीकता उनमें कूट-कूट कर भरी थी। किसी भी परिस्थिति में वे कॉलेज के हित में अपने को झोंक देने में हिचकते नहीं थे। कॉलेज में भयंकर उद्वेग-पूर्ण परिस्थिति के आने पर वे निर्भय उसमें कूद पड़ते, हितचिन्तकों के मना करने पर भी उस आग में दौड़ पड़ते, परिणाम चाहे जो होता।

शासन उनका कठोर था—पर्वत जैसा कठोर; किन्तु उसके अन्दर से स्नेह की निर्झरिणी भी प्रवाहित होती रहती थी। उस शासन में सबको शांति थी, सब निश्चिन्त थे। कॉलेज में निर्मम शासक लगते और घर पर स्नेही मित्र। शासन की कर्कशता से ऊबा हुआ साहित्यिक प्रिंसिपल खेल-कूद की दुनिया में उतरने लगा—ताश, बैडमिन्टन, कैरम, टेबुलटेनिस आदि उनके प्रिय खेल थे। खेल बड़े प्रेम से आरम्भ होता। उनकी जीत होती, बड़े प्रसन्न लगते, बीच-बीच में चुटकुले छूटते। किन्तु, हार से परिस्थिति बदल जाती, उनका चेहरा तमतमा आता; आँखों के डोरे लाल हो जाते, उँगलियाँ वेगवती हो जातीं। हार का दोष उनके साथी पर जाता—ताश का खेल होता रहता, तो अपने साथी, योग्य साथी को भी कह बैठते—"ताश के बावन पत्ते आपको याद नहीं रहते, तो एम० ए० के इतने विषय आप कैसे याद रख पाते, थे? बहुत कुछ कह जाते; वह रूप भी दर्शनीय हो जाता। सभी साथी उनके उस रूप को जानते थे। इससे कोई बुरा नहीं मानता था। खेल की समाप्ति पर जब सभी चले जाते, तो कहते—'मैंने बड़ा बुरा किया कि अमुक प्रोफेसर को खेल में भला-बुरा कह दिया, कल से ऐसा नहीं करूँगा।' किन्तु, कल आने पर फिर वैसा ही होता। वे खेल में या किसी काम में इतना डूब जाते थे कि उसके अतिरिक्त सब कुछ भूल जाते थे। खेल में मैं उनका साथी प्रायः नहीं बनता था, हाँलाकि साथी होने पर भी मुझे कुछ कहते नहीं थे, न मालूम क्यों?

छात्रों से मिलने का समय कॉलेज में ही होता। घर पर किसी छात्र से नहीं मिलते थे। किन्तु, मेधावी छात्र यदि घर पर भी आकर मिलता और कुछ पूछना चाहता, तो उसके लिए समय निर्धारित कर देते।

अन्त में आकर उनका लक्ष्य हो गया था—'कॉलेज का उत्कर्ष'। कॉलेज की चिन्ता में डूबे रहते, कहते—"कॉलेज के लिए एक बार हमलोग यहाँ की जनता के आगे झोली लेकर गए और सफलता भी मिली। किन्तु, द्विवेदी जी! दश वर्ष बाद मेरा सपना पूरा होगा, जब मेरे कॉलेज के छात्र ऊँचे-ऊँचे पदों पर होंगे, गाँव-गाँव में यहाँ के योग्य छात्र फैले होंगे। उस समय मैं झोली नहीं, झोला लूँगा, गाँव-गाँव व्याख्यान दूँगा, गाँव-गाँव में मेरे छात्र मिलेंगे। उनकी सहायता से ग्रामीणों को समझा दूँगा कि कॉलेज की उन्नति पर आपलोगों की उन्नति है—फिर रुपयों का अम्बार लग जायेगा, कॉलेज-भवन बड़ा विशाल होगा, इतना विशाल कि प्रान्त में क्या, देश में भी ऐसा भव्य-भवन नहीं होगा। एक आदर्श पुस्तकालय होगा, बड़ा—बहुत बड़ा। छात्रावास ऐसा कि जिसमें हजारों-हजार छात्र अँट सकें और एक छात्रावास ऐसा

कि जिसमें केवल निर्धन एवं मेधावी छात्र रहेंगे, जहाँ उन्हें हर प्रकार की सुविधा दी जायगी।"

ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ और ऐसे-ऐसे सपने वे बराबर देखा करते थे, कुछ पूरे भी होते थे—पता नहीं, ये सपने किसके थे? एक सफल प्राचार्य के या भावुक साहित्यकार या साधक कलाकार के, सपने जिसके भी हों, पर थे बड़े ऊँचे।

वे आमूलचूड़ साहित्यिक थे, साहित्य की प्रतिमूर्ति थे; रग-रग में साहित्य का रस भरा था। साहित्य का कोई क्षेत्र अछूता नहीं था। छन्द के कवि न थे, किन्तु, भावों के वे महाकवि थे। व्यञ्जना काव्य का प्राण है, व्यञ्जना उनकी अनुगामिनी थी। वे बात-बात में व्यञ्जनात्मक भाषा का प्रयोग करते या स्वयं व्यञ्जना का प्रयोग हो जाता। उनकी व्यञ्जना की अनुभूति किसी को हो जाती तो वे खिल उठते और यदि वह भाषा किसी को छू न पाती तो वे मन मसोस कर रह जाते। साहित्य के किसी विषय की चर्चा छिड़ते ही वे उस पर साधिकार प्रकाश डालते। किन्तु शासन की कर्कशता उनके साहित्यिक मन को गुमराह करने लगी। काव्य-साहित्य में कम, ईंट-पत्थरों के निर्माण में अधिक मन रमने लगा। शासन के कण्टकाकीर्ण मग में साहित्य के कुसुम विखर कर रह गए।

एक दिन महाप्राण साहित्यकार रुग्ण होकर सीतामढ़ी से बाहर काशीपुरी चला गया यह कहकर कि शीघ्र स्वास्थ्यलाभ कर वह लौटेगा, तो कॉलेज के उत्कर्ष को चरम पर पहुँचाने का व्रत पूरा करेगा। किन्तु, न मालूम क्यों, अपने प्राण के रस सींचे हुए इस कॉलेज की याद भूलकर फिर न लौटा। कालेज आज भी उनकी प्रतीक्षा कर रहा है—कालेज की ईंट-ईंट में जो उनका स्नेह है। आज भी कालेज के सदस्य उनकी गाथा कह सुनकर आत्मविभोर हो जाते हैं और कहते हैं—ऐसे प्राचार्य का अभाव कालेज को सदा खलता रहेगा। इस अभाव की पूर्ति निकट भविष्य में असंभव है। वे चले तो गए छोड़कर इस कालेज को किन्तु, उनकी छाप कालेज के कण-कण में व्याप्त है और रहेगी, रहनी भी चाहिए।



क्या तुम खिले हुए गुलाब की खुशबू चाहते हो? यदि हाँ, तो तुम्हें काँटों को कबूल करना होगा। क्या तुम हँसते हुए उषाकाल की मधुरता चाहते हो? यदि हाँ, तो तुम्हें रात की काली अँधेरी घड़ियों में से गुजरना होगा। क्या तुम मुक्ति का आनन्द और आज़ादी का संतोष चाहते हो? यदि हाँ, तो तुम्हें उसकी कीमत चुकानी होगी। और आज़ादी की कीमत है—कष्ट-सहन तथा बलिदान।

—सुभाषचन्द्र बोस

भारत के तीन महापुरुष : कुछ संस्मरण

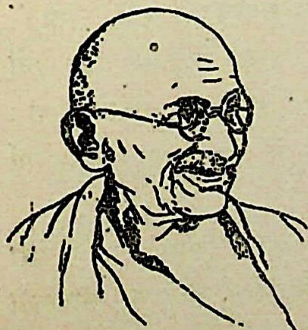
डा० श्री रामाशीष ठाकुर

[भूतपूर्व मंत्री; कालेज शासीनिकाय]

❀

छात्रावस्था से ही मुझे भारत के अनेक महापुरुषों की वाणी सुनने और उनके निकट सम्पर्क में आने के कुछ अनमोल अवसर प्राप्त हुये हैं। उन सब के विषय में लिखने से लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायगा। अतएव, उनमें से केवल तीन के कुछ चुने हुये संस्मरण नीचे लिपिबद्ध कर रहा हूँ। ये वर्तमान पीढ़ी के नवयुवकों के लिये रोचक और उपयोगी सिद्ध होंगे।

महात्मा गांधी



स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ ही महीनों बाद, १९४८ के प्रारम्भ में महात्मा गांधी का शरीरान्त हुआ। अतएव, आज के नौजवानों को उन के दर्शनों का सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका। इस पृष्ठभूमि में जब सोचता हूँ कि किशोरावस्था में ही मुझे न केवल गांधी जी के दर्शन करने और उनके भाषण सुनने का, बल्कि उनसे प्रश्न पूछने का भी स्वर्ण सुयोग मिल गया, तो मैं अपने को धन्य और कृतकृत्य समझता हूँ।

बात १९२० के दिसम्बर महीने की है। पंजाब के भीषण हत्याकाण्ड के बाद विदेशी शासन के विरुद्ध जबर्दस्त भावना देश में जाग्रत हुई और कलकत्ता कांग्रेस के विशेष अधिवेशन ने गांधी जी द्वारा प्रस्तावित असहयोग आन्दोलन को स्वीकार किया। इस का प्रचार करने के लिये गांधी जी ने देशव्यापी तूफानी दौरा किया और उसी क्रम में वे मुजफ्फरपुर पधारे। सार्वजनिक सभा के बाद शफी मंजिल में विद्यार्थियों की एक विशेष सभा हुई, जिसमें असहयोग आंदोलन में शामिल होने के लिये छात्रों का आह्वान करते हुये गांधी जी ने कहा—"ये सरकारी विद्यालय गुलाम तैयार करने के कारखाने हैं। आप इनका परित्याग कर के आजादी के सैनिकों में अपना नाम लिखा लें, अपना पूरा समय देश के काम में दे दें। जो अपनी पढ़ाई जारी रखना चाहें, वे राष्ट्रीय विद्यालयों में पढ़ें।" सोलह वर्ष से जिनकी उम्र कम हो, उन्हें वे अभिभावक की अनुमति से ही असहयोग करने की सलाह देते थे। व्याख्यान के अन्त में उन्होंने कहा—किसी को कोई शंका हो, तो पूछे ! मैं अभी पंद्रह साल का ही था, पर आन्दोलन में शरीक होने की मेरी प्रबल इच्छा थी। सो मैंने झट पूछा—

महात्मा जी, यदि किसी लड़के की उम्र सोलह साल से कम हो और उस का दिल आजादी की लड़ाई में भाग लेने को तड़प रहा हो, तो वह क्या करे? गांधी जी ने अविलम्ब उत्तर दिया—भला प्रह्लाद को कोई रोक सका है? बस, मेरा समाधान हो गया। मैंने सरकारी स्कूल छोड़ कर राष्ट्रीय विद्यालय में नाम लिखा लिया। मेरे पिता जी ने भी विरोध नहीं किया। इसलिये, उन के आदेश की अवहेलना करने का प्रश्न ही मेरे सामने नहीं उठा।

१९२५ में गांधी जी से मेरा एक पत्राचार हुआ, जिस की कहानी यों है। उन दिनों कलकत्ते के नेशनल मेडिकल कालेज में अपनी पढ़ाई जारी रखते हुये मैं बड़ा बाजार जिला कांग्रेस कमिटी का सदस्य भी था। कांग्रेस की सदस्यता का शुल्क चार आने था। पर सदस्यों के सामने यह भी विकल्प था कि वे चाहें तो पैसे के बदले में अपने हाथ का कता हुआ दो हजार गज सूत प्रतिमास दे सकते हैं। मैं नित्यप्रति नियम-पूर्वक आधे घंटे चरखा चलाया करता था, इसलिये, मैंने सूत देने वाली सदस्यता ही स्वीकार की। एक बार मैंने उक्त कांग्रेस कमिटी के मंत्री जी से पूछा—हमारे दिये हुये सूत की लच्छियों का क्या उपयोग होता है? उन्होंने लापरवाही से कहा—लच्छियाँ आलमारी की शोभा बढ़ा रही हैं। कुछ को तो चूहों ने कुतर डाला है। वे गणेश जी के वाहन ठहरे। उन पर किसी का क्या वश? मुझे इस उत्तर से हार्दिक दुख हुआ और मैंने तत्काल डाक द्वारा गांधी जी के पास एक शिकायती चिट्ठी लिख भेजी। गांधी जी उन दिनों बंगाल-भ्रमण कर रहे थे। मुझे आनन्द मिश्रित आश्चर्य हुआ, जबकि तीसरे या चौथे दिन ही मुझे एक पोस्टकार्ड, मिला, जिस में चिठठी का मजमून ही नहीं, मेरा पता तक गांधी जी की लिखावट में था। 'भाई रामाशीष जी' कह कर सम्बोधित करते हुये उन्होंने लिखा था—आप की शिकायत सही है। आप के जैसा ही अन्य सूत देने वाले सदस्यों का भी अनुभव हो सकता है। इस लिये अपने पत्र 'यंग इन्डिया' और 'नवजीवन' के आगामी अंक में इस पर मैं एक टिप्पणी दे रहा हूँ। आप उसे पढ़ लेंगे।" बाद को "कांग्रेस पदाधिकारी चेत जायें" शीर्षक से जो टिप्पणी उन्होंने दी, उस में मेरे पत्र के आवश्यक अंश को उद्धृत करते हुये उन्होंने लिखा था—"इस भाई की जैसी शिकायत अन्य सदस्यों की भी हो सकती है। मैं कांग्रेस कमिटियों के पदाधिकारियों को चेतावनी देना चाहता हूँ कि वे सदस्यों द्वारा श्रद्धापूर्वक अपने हाथ से काते गये सूत के साथ खिलवाड़ न करें, एक-एक गज सूत का उचित हिसाब रखें। मैं शीघ्र ही अखिल भारतीय चर्खा संघ की स्थापना करने जा रहा हूँ। तब सदस्य गण अपना सूत उक्त संघ में जमा कर के वहां से एक प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेंगे। चर्खा संघ उस सूत से खादी तैयार करेगा। इस प्रकार कांग्रेस कमिटियों द्वारा सूत के दुरुपयोग का सवाल ही नहीं उठेगा।" गांधी जी के उपर्युक्त पोस्टकार्ड को मैंने बहुत दिनों तक अमूल्य निधि की तरह अपने पास संजोये रखा। पर, दुर्भाग्यवश भूकम्प में वह धरती माता के गर्भ में विलीन हो गया।

१९३४ के जनवरी महीने में बिहार में प्रलयंकारी भूकम्प आया। उत्तर बिहार में, खास कर सीतामढी में, उस की विनाशलीला विकराल थी। उस की एक झलक इसी से मिल जायगी कि आज जो जमीन कालेज के अधिकार में है, उस पर उस समय अस्पताल, जेल, एस० डी० ओ० का बंगला और सरकारी कचहरियों के भवन अवस्थित थे, जो सभी पल भर

में जमींदोज हो गये। अस्पताल के सभी लाचार रोगी दबकर मर गये। अस्तु, भूकम्प-पीड़ित स्थानों का दौरा करते हुये गांधी जी सीतामढ़ी भी पधारे और रात भर रेलवे स्टेशन के पास बिहार सेन्ट्रल रिलीफ कमिटी की झोपड़ियों में ठहरे। हम कार्य-कर्त्ताओं की इच्छा थी कि यादगारी के लिये हम लोग गांधी जी को अपने बीच बैठा कर एक ग्रूप फोटो उतरवायें। पर दिक्कत यह थी कि वे फोटो के लिये कोई पोज नहीं देते थे, यों अचानक उनकी तस्वीर—Snapshot भले ही कोई ले ले। अतएव, एक चाल चली गई। राजेन्द्र बाबू इस साजिश में सम्मिलित थे। उन्होंने ही हम लोगों की ओर से गांधी जी से निवेदन किया कि प्रस्थान करने के पूर्व कार्यकर्त्ताओं को सभा में दो शब्द कहें। गांधी जी राजी हो गये। जब हम लोग फोटो खिंचवाने की मुद्रा में सावधान हो कर बैठ गये तो गांधी जी को बुलाया गया। झोपड़ी के द्वार पर आते ही उनकी नजर फोटोग्राफर के सजे हुये कैमरे पर पड़ी और झट अपने चेहरे को कपड़े से ढँक कर वे अन्दर हो रहे। भीतर से ही उन्होंने कहा—फोटोग्राफर को हटाओ। तभी मैं तुम लोगों के बीच आऊँगा। विवश हो कर हम लोगों ने राजेन्द्र बाबू को ही गांधी जी के प्रतिनिधि के रूप में अपने बीच बिठा कर फोटो खिंचवाया। तब गांधी जी ने बाहर निकल कर लोगों को उपदेश दिया।

धनुर्धर अर्जुन के अनेक नामों में एक नाम गुडाकेश भी है। वे गुडाका (नींद) के ईश (स्वामी) थे, अर्थात् नींद पर उन का पूर्ण अधिकार था। इसीलिये गुडाका+ईश=गुडाकेश कहलाये। गांधी जी भी गुडाकेश हैं, यह मैंने सुन रखा था। पर इस दिन प्रत्यक्ष देखने का अवसर मिल गया, जब हम लोग उक्त सभा के बाद कार से सुरसंड जा रहे थे। गाड़ी की पिछली सीट पर चादर तकिया लगा दिया गया, जिस पर गांधी जी आराम से लेटे और मैं अगली सीट पर ड्राइवर के साथ बैठा। रास्ते में सड़क से सटे हुये एक स्थान पर भूकम्प के धक्के से एक आम का पेड़ इतना धँस गया था कि उसकी जड़ के इर्द-गिर्द एक बड़ा सा कुंड पड़ गया था और फुनगी जमीन की सतह के बराबर आ गई थी। मैं यह विचित्र दृश्य गांधीजी को दिखाना चाहता था। उन्होंने उस स्थान की दूरी पूछी और ड्राइवर से कहा—बीस मील की रफ्तार में मोटर चलाओ। हिसाब लगाकर उन्होंने देख लिया कि कितनी देर में वहाँ पहुँचेंगे और घड़ी देख कर आंखें मूँद लीं। कुछ ही क्षणों में स्पष्ट था कि वे गाढ़ी नींद में सो गये हैं। जब गाड़ी निश्चित स्थान पर पहुँचने लगी तो मैं सोच ही रहा था कि गांधी जी को कैसे जगाऊँ कि उठ कर घड़ी देखते हुये बोले—अब तो वहाँ पहुँच गये होंगे। सचमुच हम पेड़ के ठीक सामने पहुँच चुके थे। यह घटना मेरे लिये अविस्मरणीय है।

जवाहर लाल नेहरू



सन् १९२९ के अंत में लाहौर में जो कांग्रेस का ऐतिहासिक अधिवेशन हुआ था, उसके अध्यक्ष थे युवक-सम्राट् जवाहर लाल नेहरू। उस समय उन की उम्र चालीस वर्ष की थी। अध्यक्ष-पद के लिये उनका नाम देश के सामने प्रस्तावित करते हुये गांधी जी ने कहा था—"जवाहर आज भारत का बेताज का बादशाह है।

में उस के सिर पर यह कांटों का ताज (Crown of thorns) रखने जा रहा हूं। वह मेरा योग्य उत्तराधिकारी है। भारत की प्रतिष्ठा उसके हाथों में सुरक्षित है।" लाहौर में कांग्रेस ने अपना लक्ष्य स्पष्ट शब्दों में पूर्ण स्वतंत्रता—मुकम्मल आजादी—प्राप्त करना घोषित किया था और अहिंसात्मक सत्याग्रह संग्राम की रणभेरी बजने ही वाली थी। इस अवसर पर जवाहर से अधिक उपयुक्त सेनानी दूसरा कौन हो सकता था, जिस ने—'Live dangerously. Act dangerously' अर्थात् 'खतरे से खेलो और खतरनाक ढंग से काम करो' का नारा देते हुये युवकों से कहा था—Success often comes to those who dare and act. It seldom goes to the timid. सफलता प्रायः उन्हें ही मिलती है, जो हिम्मत कर के आगे बढ़ते हैं और काम करते हैं। कायरों को कामयाबी नहीं हासिल होती।

नौजवान नेहरू के नेतृत्व में 'इनकिलाब जिन्दाबाद' और 'अँगरेजी राज नाश हो' के गगनभेदी नारे भारत में गूँजने लगे। देश भर में अहिंसक क्रान्ति का संदेश सुनाते हुये वे सीतामढ़ी भी पधारे जहाँ एक विशाल सभा में उनका सिंह-गर्जन हुआ। मैं उन दिनों थोड़ी तुकबन्दी भी कर लिया करता था। सो मैंने उस सभा में एक स्वरचित स्वागत-गान बड़े जोश से सुनाया। उसकी पंक्तियाँ यों हैं—

जवाहर वीरों के सरताज !
बड़े भाग्य से आप पधारे,
इस नगरी में आज। जवाहर……
मिथिला की इस पुण्य भूमि में,
सीता की इस जन्मभूमि में।
स्वागत तेरा है ओ प्यारे
युवकों के गुरुराज ।। जवाहर……
स्वागत स्वागत हे सेनानी,
ताकत तेरी है लासानी।
इसीलिये पहनाया गाँधी
ने कांटों का ताज ।। जवाहर……
बतलाओ क्या आज्ञा तेरी ?
अभी बजा दें हम रणभेरी।
टूट पड़ें दुश्मन पर अपने,
ज्यों चिड़ियों पर बाज ।। जवाहर……
बढ़े चलो सेनापति मेरे,
लाखों युवक साथ हैं तेरे।
'ठाकुर' तब विश्राम करो,
जब होवे पूर्ण स्वराज ।। जवाहर……

मैंने जवाहर लालजी से पूछा—कविता आपको कैसी पसन्द आई ? उन्होंने मेरी पीठ थपथपाते हुये कहा—बहुत खूब। पर अन्तिम पंक्ति में एक बात आपने गलत कह दी। आप क्या समझते हैं कि मुल्क को आज़ाद होने पर हमें विश्राम करने की फुरसत मिलेगी ? तब तो हमें अपनी हासिल की हुई आज़ादी की रक्षा के लिये और भी कड़ी मिहनत करनी पड़ेगी। स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री की हैसियत से जब उन्होंने 'आराम हराम है' का नारा देश को दिया, तब १९३० में ही उनके प्रकट किये हुये उपर्युक्त उद्गार का मुझे स्मरण हो आया। कितनी दूरदर्शिता थी उन में।

भूकम्प पीड़ित क्षेत्रों का रीक्षण करते हुये नेहरू जी दूसरी बार १९३४ में सीतामढ़ी पधारे। वे मुजफ्फरपुर से कार पर आनेवाले थे। इसलिये हमलोग मेहसौल चौराहे पर खड़े उनका इन्तजार कर रहे थे। उनके पहुँचने में देर क्यों हो रही है, इस पर

हमलोग तर्क वितर्क कर ही रहे थे कि पश्चिम की ओर से जयकार के नारे सुनाई पड़ने लगे। देखते क्या हैं कि शहर की मुख्य सड़क से जवाहर लाल दौड़ते हुये आ रहे हैं और उनके पीछे जनता की विशाल भीड़ जयकार करती हुई दौड़ी आ रही है। पता चला कि रुन्नीसैदपुर से वे बिना पूर्व निश्चित कार्यक्रम के ही बेलसन्ड की ओर मुड़ गये और वहाँ से शिवहर रोड होते हुये जब सीतामढ़ी के पश्चिमी सिरे पर पहुँचे, तो ध्वस्त बाजार का अच्छी तरह निरीक्षण करने के उद्देश्य से कार से उतर कर पैदल ही चलने लगे। तेज चाल से चलना तो उनके स्वभाव में दाखिल था। पर जब उन्होंने अपने पीछे जनता का निरन्तर बढ़ता हुआ हुजूम देखा, तो उसे थका देने के लिये वे दौड़ने लगे। बड़ा ही उत्साहवर्द्धक दृश्य था। हम लोगों ने आगे बढ़कर उन्हें फूलमालाओं से लाद दिया और वे हम लोगों के गले से लिपट गये।

रात को वे रिलीफ कमिटी की झोपड़ी में हमलोगों के साथ ठहरे। हमलोगों से देर तक भूकम्प के किस्से सुनते रहे। फिर हमारी आमद खर्च की बही को गौर से देखने लगे। कई जगह कुओं के निर्माण के लिये मिट्टी खोदने की मजदूरी के मद में खर्च देखकर अधीर होकर बोले— यह क्या खर्च है? क्या गाँव के लोग अपने कुएँ के लिये मिट्टी भी नहीं खोद सकते? हमारे नेता ठाकुर रामनन्दन सिंह जी ने कहा— खोद तो सकते हैं। पर न जाने फिर कब धरती हिलने लगे, इस डर से वे जमीन के भीतर घुसने की हिम्मत नहीं करते। गुस्से से लाल होते हुये वे बोले— जो कम्बख्त इतने बुजदिल और अपाहिज हैं, उन्हें पानी पीने का कोई हक नहीं है। वे प्यासे मर जायँ तो देश का बोझ कुछ हल्का हो। फिर हमलोगों की ओर मुखातिब होते हुये उबल पड़े— और आप कार्यकर्त्ता लोग किस मर्ज की दवा हैं? जनता डरती है, तो आप कुदाल लेकर आगे बढ़िये और उनकी हिम्मत-अफजाई कीजिये। मुंगेर पहुँच कर तो लोगों की पस्तहिम्मती देखकर वे एकदम उतावले हो गये और फावड़ा लेकर स्वयं कड़ी धूप में मलवा हटाने लगे। बस फिर क्या था? सैकड़ों की तायदाद में कार्यकर्त्ता और हजारों की तायदाद में जनता ने उनका अनुकरण किया और बात की बात में सड़कें साफ हो गईं। पटने पहुँच कर उन्होंने रिलीफ कमिटी के केन्द्रीय कार्यालय से यह आदेश जारी करवा दिया कि कुयें वहीं बनवायें जायँ, जहाँ के लोग अपने श्रम से उसके लिये गोल खोद देंगे। केवल ईंटें वगैरह सामान की कीमत और राजमिस्त्री की मजदूरी रिलीफ कमिटी देगी।

नेहरू जी के व्यंग्य-विनोद भी बड़े चुभते हुये होते थे। उसका एक दिलचस्प अनुभव मुझे हुआ। लखनऊ कांग्रेस के अधिवेशन में मैं प्रतिनिधि की हैसियत से शामिल हुआ था। नेहरू जी इस साल दूसरी बार कांग्रेस अध्यक्ष का पद सुशोभित कर रहे थे। प्रस्तावों पर साधारणतः हाथ उठवा कर ही मत लिये जाते थे। पर एक विवादास्पद प्रस्ताव के पक्ष-विपक्ष में निश्चित मत संख्या जानने के लिये प्रतिनिधियों ने मत-विभाजन की माँग की। नेहरू ने अध्यक्ष-पद से आदेश दिया—जो प्रस्ताव के पक्ष में हैं, वे प्रतिनिधियों के घेरे के दाहिने भाग में चले जायँ और जो विपक्ष में हैं, वे बायें भाग में जायें। मुझे क्या सूझी कि मैं पूछ बैठा— और जो Neutral (तटस्थ) हैं, वे किधर जायँ? कुछ क्षण सिर खुजलाकर हम लोगों के घेरे से सटे हुये महिलाओं के घेरे की ओर इंगित करते हुये उन्होंने मुस्कराकर कहा— वे उधर चले जायें, जिधर औरतें बैठी हैं। इस पर

एक जोर का ठहाका लगा जिसमें नेहरू जी भी दिल खोलकर शामिल हुये।

राजेन्द्र प्रसाद



बड़े लोगों के सम्बन्ध में अंगरेजी में एक उक्ति प्रसिद्ध है—Some are born great, some make themselves great and on some greatness is thrust. कुछ लोग बड़प्पन लिये हुये पैदा ही होते हैं, कुछअपने कार्यों से बड़े बनते हैं और कुछ के ऊपर बड़प्पन लाद दिया जाता है। इनमें प्रथम कोटि के महापुरुष संसार में थोड़े ही होते हैं और उन्हीं का नाम अमर रहता है। गाँधी, नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद इसी कोटि में आते हैं। स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री का पद कभी रिक्त तो रहेगा नहीं। कोई न कोई प्रमुख भारतीय उस पर आसीन होगा ही। परन्तु प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद और प्रथम प्रधान मन्त्री जवाहर लाल नेहरू के रूप में स्वतन्त्र भारत को जैसी जोड़ी मिली वैसी शायद फिर कभी नहीं मिलेगी। भारत ही क्यों संसार में इस तरह का संयोग विरल है।

राजेन्द्र बाबू जब प्रेसीडेन्सी कालेज, कलकत्ता में पढ़ते थे, तभी उनकी विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित होकर स्वामी विवेकानन्द की अमेरिकन अनुगामिनी सिस्टर निवेदिता ने भविष्यवाणी की थी— यह युवक समय पाकर भारत के महापुरुषों में एक होगा। वे हिमालय की तरह महान, सागर की तरह गम्भीर और गंगा की तरह पावन और सर्वसुलभ थे। वे अजातशत्रु थे। उनके पास पहुँच कर कोई भी उतना ही आश्वस्त हो सकता था जितना एक बच्चा अपनी माँ के पास रहकर अनुभव करता है। बिहार के उनके कार्यकर्त्ताओं की तरह मुझे भी उनसे मिलने जुलने, उनसे बातें करने और उनके स्नेह से सिक्त होने के कितने ही अवसर मिले, सबके संस्मरण लिख सकना सम्भव नहीं। केवल उनकी अद्‌भुतस्मरण शक्ति, बालसुलभ सरलता और स्वयं कष्ट में रहते हुये भी दूसरों की सहायता के लिये तत्परता को दर्शाने वाले कुछ उदाहरण नीचे दे रहा हूं।

१९२६ ई० में गौहाटी कांग्रेस के अधिवेशन से लौटते हुये राजेन्द्र बाबू एक दिन के लिए कलकत्ते में रुके। राजेन्द्र बाबू का प्रारम्भिक जीवन वहीं बीता था और उन्हीं के द्वारा स्थापित कलकत्ता बिहारी क्लब उनके कलकत्ता छोड़ने के बाद भी वहाँ के प्रवासी बिहारियों के मिलन मन्दिर के रूप में जीवित और जाग्रत था। इसी संस्था के तत्त्वावधान में राजेन्द्र बाबू के स्वागत समारोह का आयोजन हास्य रसावतार पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के निवास स्थान पर किया गया। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उपस्थित जनसमुदाय में बिहारियों की अपेक्षा बंगालियों की संख्या अधिक थी। वे सभी राजेन्द्र बाबू के छात्र जीवन के सखा थे जो अब वकील, डाक्टर, अध्यापक, व्यापारी और सरकारी कर्मचारी के रूप में प्रख्यात थे। सभा भवन में पहुँचते ही राजेन्द्र बाबू उनमें से प्रत्येक से प्रेमपूर्वक गले गले मिले और सब को 'की हे नरेन' 'की हे खगेन' इत्यादि अलग अलग नामों से सम्बोधित करते हुए विशुद्ध बंगला भाषा में बहुत देर तक वार्तालाप करते रहे। किसकी शादी कहाँ हुई, किसको कैसी पत्नी मिली, किसको कितने बच्चे हैं और वे क्या पढ़ रहे हैं, इत्यादि निजी और

घरेलू बातें उन्होंने सबसे पूछीं। लगभग पंद्रह वर्षों की लम्बी अवधि के बाद ये सहपाठी राजेन्द्र बाबू से मिले थे। उन्हें आशंका थी कि वे हमें भूल गये होंगे। पर राजेन्द्र बाबू की अनुपम आत्मीयता से वे द्रवीभूत हो उठे। पुराने साथियों के पुनर्मिलन का यह दृश्य अपूर्व था।

राजेन्द्र बाबू से मेरा व्यक्तिगत परिचय १९३० ई० में हुआ जब सीतामढ़ी सबडिवीजन में सत्याग्रह-संग्राम के संचालन की जिम्मेवारी हमारे नेता ठाकुर रामनन्दन सिंह जी की गिरफ्तारी के बाद मुझ पर आ पड़ी। बिहार प्रादेशिक कांग्रेस कमिटी के सभापति की हैसियत से राजेन्द्र बाबू हमारे कार्यों का निरीक्षण करने और सत्याग्रह का प्रचार करने के लिये पधारे। दिन भर मैं उनके साथ सबडिवीजन के भिन्न भिन्न भागों में घूमता रहा। बहुत से कार्यकर्त्ताओं के सम्बन्ध में उन्होंने मुझसे पूछा और जब मैंने उनमें से कुछ के सम्बन्ध में अनभिज्ञता प्रकट की तो वे सहसा पूछ बैठे— राउर घर इहाँ नइखे का ? प्रसंगवश यह बता दूँ कि बिहार के लोगों से वे प्रायः अपनी भोजपुरी बोली में ही बातें किया करते थे। मैंने जब उन्हें बताया कि मेरा घर दरभंगा जिले के बथुआ ग्राम में है और केवल डेढ़ साल से मैं सीतामढ़ी में हूँ तो वे बोले— ओहे बथुआ जहाँ के आम मशहूर-बा ? उहाँ के डाक्टर रामप्रकाश शर्मा हमरा साथे काम कइले बारन। मैंने बतलाया कि मैं उक्त शर्माजी का भाई हूँ तो प्रसन्न होकर बोले— अब समझ में आ गइल। हम सोचत रहलीं कि रउरा डाक्टरी पेशा छोड़के सत्याग्रह संग्राम में कइसे आ गइलीं। देश सेवा तो राउर खानदान के खूने में बा। इस तरह छोटे छोटे हजारों ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं को भी वे अच्छी तरह जानते थे और उनके साथ सम्मिलित परिवार के सदस्य जैसा व्यवहार रखते थे।

मैं शीघ्र ही गिरफ्तार कर लिया गया और सजायाफ्ता होकर हजारीबाग सेन्ट्रल जेल पहुँचा। कुछ ही दिनों के बाद राजेन्द्र बाबू भी छपरा जेल से बदल कर वहाँ पहुँचे। दूसरे दिन बड़े तड़के उठ कर वे पानी कल के पास लोटा माँज रहे थे। मुझे उधर आते देख कर बड़े भोलेपन से बोले— डाक्टर साहब एगो दतुअन होई ? लगभग एक महीना पूर्व जीवन में पहली बार मैं उनसे सीतामढ़ी में मिला था। फिर भी मेरा नाम और चेहरा उन्हें बखूबी याद था, यह देखकर मैं दंग रह गया। सच तो यह है कि जिसे एक बार उन्होंने पहचान लिया उसे वे कभी नहीं भूलते थे।

केवल चेहरे ही नहीं, आवाज से भी लोगों को पहचानने के वे कितने अभ्यस्त थे, इसका अनुभव मुझे दो बार हुआ। व्यक्तिगत सत्याग्रह के सिलसिले में एक साल की कैद की सजा भुगत कर १९४१ ई० में हजारी बाग जेल से पटना होते हुए मैं घर लौट रहा था। राजेन्द्र बाबू उन दिनों सख्त बीमार होकर सदाकत आश्रम में पड़े थे। सोचा, उन के दर्शन करता चलूँ। उनकी कुटिया के सामने उनकी बड़ी बहन भगवती देवी जी द्वारपाल का काम कर रही थीं। मुझे देखते ही कड़क कर बोलीं— बाबू बीमार बारन। हुनका से भेंट ना होई। तोहनी हुनकर जान छोड़ दऽ। मैंने भी जरा ऊँच्चे स्वर में कहा— आप भीतर जाकर उनसे कह तो दीजिये कि हजारीबाग जेल से छूटकर एक आदमी मिलने आया है। इस पर यदि वे मुझे नहीं बुलायेंगे तो मैं लौट जाऊँगा। मैंने अपना नाम नहीं कहा था। पर

मेरी आवाज को वे पहचान गये और पड़े पड़े ही बोले बहिन, हुनका के आवे दऽ ऊ सीतामढ़ी के डाक्टर साहब नू बारन? डाक्टर के मरीज के पास आवे देवे में कौनो हरज नइखे। बहिन जी हार गईं और मैं धड़धड़ाता हुआ कमरे में दाखिल हो गया। वे बहुत कष्ट में थे। फिर भी मेरा और जेल के अन्य साथियों का कुशल समाचार उन्होंने बड़े स्नेह से पूछा।

१९५४ में बाढ के कारण सीतामढ़ी की जो बरबादी हुई उसे देखने के लिये राष्ट्रपति की हैसियत से राजेन्द्र बाबू यहाँ आये। रात को वे राजोपट्टी के सरकिट हाउस में ठहरे। उन दिनों साँवलिया बाबू कालेज की गवर्निंग बडी के एक वरिष्ट सदस्य थे और मैं मंत्री था। हम दोनों कालेज की ओर से कुछ निवेदन करने के लिए राष्ट्रपतिजी की सेवामें पहुँचे। साँवलिया बाबू रिश्तेमंद होने के कारण राजेन्द्र बाबू के काफी घनिष्ठ सम्पर्क में थे। उन्होंने ही पहले बातचीत शुरू की। जब मेरी बारीआई तो राजेन्द्र बाबू ने कहा—डाक्टर साहब! हमरा आँख के रोशनी कुछ मंद हो गइल बा और शाम के अंधेरा भी शुरू हो गइल बा, एह वास्ते रउरा के चेहरा से ना पहचान सकलीं, माफ करब। जब राउर आवाज सुनलीं तब पहचानलीं कि ई तऽ डाक्टर रामाशीष ठाकुर बारन।

एकबार एक सिफारिशी चिट्ठी लेने के लिये मैं राजेन्द्र बाबू की सेवा में पहुँचा। उस समय वे दमा से बहुत परीशान थे। ऐसी स्थिति में उन्हें कष्ट देना उचित न समझ कर मैं लौट जाना चाहता था। पर उन के निजी सचिव श्री चक्रधर शरण ने मुझे रुकने को कहा और भीतर जाकर मेरे काम की बात उन से कही। राजेन्द्र बाबू ने मुझे फौरन अन्दर बुलवा लिया। उन्होंने ध्यान से मेरी बातें सुनीं और चक्रधर जी को इशारे से कहा कि चिट्ठी का मजमून टाइप कर के ले आओ। फौरन राजेन्द्र बाबू की परिचित शैली में उन्होंने एक चिट्ठी तैयार कर दी। राजेन्द्र बाबू ने सरसरी तौर पर उसे देखा और बिना कुछ परिवर्तन किये हुये उस पर हस्ताक्षर कर दिये। उन की इस अहैतुकी कृपा से मेरी आँखों में कृतज्ञता के आँसू छलक आये। मैंने उनके चरण स्पर्श किये और मन ही मन तुलसी दास जी के उस पद को दुहराता हुआ वहाँ से लौटा जो उस भक्त कवि ने अपने आराध्य देव श्री राम के प्रतिलिखा है—'ऐसो को उदार जग मांहीं'। कहना नहीं होगा कि उक्त मेरे कार्य को सफल करने में अमोध सिद्ध हुआ।

राजेन्द्र बाबू की बालसुलभ सरलता की एक मनोरंजक कहानी सुनिये। १९३० के जेल-जीवन की ही बात है। उन दिनों बिहार और उड़ीसा को मिला कर एक ही सूबा था और पूरे सूबे के प्रायःसभी प्रमुख राजनैतिक बंदी हजारीबाग सेन्ट्रल जेल में ही रखे गये थे। अपने नेताओं को नजदीक से देखने सुनने का और उनका परिचय प्राप्त करने का अपूर्व सुअवसर मुझे वहाँ मिला। राजेन्द्र बाबू की मूँछ प्रायः बड़ी-बड़ी और बेतरतीब रहा करती थीं। कुछ मूँछकट नौजवानों को यह बात बहुत अखरती थी और वे किसी ऐसे मौके की ताक में थे जब राजेन्द्र बाबू की मूँछों का सफाया कराने में वे सफल हो सकें। पितृपक्ष में ऐसा सुयोग उन्हें मिल गया। प्राचीन परम्परा के अनुसार अन्य बुजुर्गों के साथ राजेन्द्र बाबू ने भी पितृपक्ष भर बालबढ़ा कर रखे और अंतिम दिन सर्वतोभद्र कराया अर्थात् सिर के बालों के साथ ही दाढ़ी और मूँछें भी मुँडवाईं। फिर दूसरे दिन जब वे हजामत

बनाने बैठे तो फूलन बाबू, जो बचपन से ही उन से बहुत हिलेमिले थे, उनके पास पहुँचे और बोले—हुकुम होय त हमहीं अपने के शेव (shave) कर दीं। राजेन्द्र बाबू ने भोलेपन से कहा—कर दऽ। दाढ़ी कमा चुकने के बाद फूलन बाबू कहा—मूँछो कमादीं? राजेन्द्र बाबू ने जबाब दिया—तोहर राय बा त कमा दऽ। फूलन बाबू अपने षड्यंत्र में सफल हो गये। बस फिर क्या था? रोज दाढ़ी बनाने का सामान लेकर उपस्थित हो जाते और दाढ़ी के साथ ही राजेन्द्र बाबू की मूँछों पर भी उस्तरा फेर देते। कुछ दिनोंके बाद फूलन बाबू ने उनसे पूछा—बाबू, Clean shave के बारे में अपने के तजरबा कइसन बा? राजेन्द्र बाबू ने कहा—हो फूलन, हम देखतानीं कि Hygienic point of view (स्वास्थ्य और सफाई के दृष्टिकोण) से मूँछ कमावे के पक्ष में कुछ दलील बा। मूँछ बढ़ा के रखत रहलीं ह त दूध पीए में मूँछ गंदा हो जात रहल हऽ। अब ओकर गंदा होए के सवाले नइखे। फिर तो राजेन्द्र बाबू खुद Clean shave करने लग गये और मूँछ कटाने वाले नौजवान अपनी सफलता पर फूले न समाये। कुछ महीनों के बाद कांग्रेसी नेताओं का एक ग्रूप फोटो अखबारों में छपा जिसमें राजेन्द्र बाबू को मूँछों के साथ देख कर मुझे आश्चर्य हुआ। दरयाफ्त करने पर पता चलाकि राजेन्द्र बाबू जब जेल से छूट कर बाहर आये तो उन्हें मूँछ कटाये देख कर ब्रजकिशोर बाबू ने उन्हें फटकारते हुये कहा—आप भी क्या छोकड़ों के फेर में पड़ गये? ब्रजकिशोर बाबू की राजेन्द्र बाबू बड़ी कद्र करते थे। इसलिये उनका आदेश मान कर वे फिर पूर्ववत् मूँछें रखने लग गये। ऐसी सरलता थी हमारे राजेन्द्र बाबू में।

राजेन्द्र बाबू देशरत्न ही नहीं, नररत्न थे। राष्ट्रपति भवन की शानशौकत के बीच वे 'पद्मपत्रमिवाम्भसा'—जल में कमलदल की तरह—निर्लिप्त भाव से रहे और जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा था, राष्ट्रपति भवन छोड़कर पटने के सदाकत आश्रम में लौट आने में उन्हें उतनी ही खुशी हुई थी जितनी खुशी स्कूल से छूट कर घर आने में बालकों को होती है। सदियों बाद ऐसे एक रत्न की भेंट भारत को दे कर आज बिहार गौरवान्वित है।



दक्षिण भारत की यात्रा

श्री साँवलिया विहारीलाल वर्मा,
एम० ए०, बी० एल०, एडवोकेट
[भूतपूर्व मंत्री, कॉलेज शासी निकाय]

भ्रमण में मेरी जैसी दिलचस्पी है, वैसी और किसी काम में नहीं। बहुत घुमक्कड़ ऐसे हैं, जो दूर-दूर देशों को नापकर पर्यटन की इच्छा पूरी कर लेते हैं; पर इसके विपरीत, अपने देश के ही दर्शनीय स्थानों को खूब अच्छी तरह देखने—समझने की मेरी भूख कभी मिटती नहीं है। भ्रमण में साल का कुछ समय मैं अवश्य लगाता हूं, १९१६ ई० से मेरा यात्रा-क्रम आरम्भ हुआ। जब आई० ए० की परीक्षा देकर कुछ मित्रों के साथ मैंने कलकत्ते की यात्रा की। इन प्रायः ५० वर्षों में मुझे सारे भारत का अनेक बार भ्रमण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सुदूरस्थ रामेश्वर, कन्याकुमारी, (Cape Comorin) काश्मीर, अमरनाथ, गंगोत्री, बद्री-केदार, द्वारका आसाम, नेपाल आदि स्थानों में दर्शनार्थ अथवा भ्रमणार्थ भ्रमण कर चुका हूँ। बद्रीनाथ की यात्रा का तीनबार अवसर मिला। पहलीबार १९४४ की यात्रा में मुझे ३२७ मील पैदल चलना पड़ा और १९५९ में पैदल दूरी सिकुड़कर सिर्फ ८८ मील रह गयी क्योंकि दूर तक बस चालू हो गया है। एकबात मुझे महत्वपूर्ण ज्ञात हुई कि जहाँतक बस पहुँच गया डालडा का प्रचार हो चुका है किन्तु बस से सुदूर स्थानों में आज भी शुद्ध स्वादिष्ट घी तथा दूध मिलता है। बस से यात्रा में वास्तविक यात्रा का आनन्द भीनहीं मिलता। पैदल यात्र में निकट से आकर्षक दृश्य देखने का अवसर प्राप्त होता है और साथ-साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों से सम्पर्कका अवसर मिलता है।


लेखक

पहली बार दक्षिण भारत की यात्रा मैंने १९२९ में की। दूसरी यात्रा भारत के स्वतन्त्र होते ही अक्टूबर १९४७ ई० में आरम्भ हुई। सीतामढ़ी से १२ अक्टूबर, १९४७ ई० की संध्या में प्रस्थान कर १४ नवम्वर की भोर में हमलोग पटना वापस पहुँचे। मद्रास प्रान्त में प्रवेश करने के लिए बंगाल, बिहार तथा आसाम के यात्रियों के लिए सबसे सुविधाजनक और कम खर्च वाला मार्ग कलकत्ता होकर है, भारत के चार धाम (१) जगन्नाथ पुरी; (२) रामेश्वरम् (३) द्वारका तथा (४) बद्रीनाथ माना जाता है।

दक्षिण के यात्री को सर्वप्रथम पुरी जगन्नाथ के दर्शन का अवसर मिलता है। पुरी कलकत्ता से ४९९ कीलोमीटर है। पुरी के लिए खुर्दा से गाड़ी बदलनी पड़ती है। पुनः खुर्दा लौटकर मद्रास की गाड़ी मिलती है। पुरी एक्सप्रेस तो कलकत्ता से सीधे पुरी जाती है और खुर्दा में गाड़ी बदलनी नहीं पड़ती। पुरी के यात्रियों को साक्षीगोपाल का दर्शन आवश्यक है जो पुरी के मार्ग में पड़ता है। १९२९ ई० की यात्रा मैंने पुरी के मार्ग से की थी, किन्तु अपने रुग्ण भतीजे, स्वर्गीय कैलाश विहारी लाल वर्मा को इटकी के यक्ष्मा अस्पताल में देखना था, अतएव हमने नयामार्ग ग्रहण किया, लौटती में पुरी जा सका।

जिन दिनों मैंने यात्रा की थी मद्रास प्रदेश समूचे दक्षिण भारत में छाया हुआ था। अब तो दक्षिण प्रदेश चार अंचलों में— मद्रास (तामिल) आन्ध्र (तेलगु) केरल (मालाबार) मैसूर (कनारी), में भाषा के दृष्टिकोण से विभाजित हो गया है।

इटकी से मध्य प्रदेश के रायपुर नगर होते हुए हमलोग विजगापट्टम पहुँचे। यह आन्ध्र प्रदेश का एक प्रमुख नगर है। पास ही विख्यात पहाड़ी अंचल वालटेयर पहाड़ पर समुद्रतट पर बसा है। वालटेयर अपने सौन्दर्य तथा स्वास्थ्य प्रद जलवायु के कारण बहुत विख्यात है। प्रतिवर्ष अनेक यात्री स्वास्थ्य लाभ अथवा सैर-सपाटे के लिए वालटेयर जाते हैं। यहाँ बम्बई के समुद्र तटपर स्थित मालाबार हिल का आनन्द आता है। यहाँ शान्ति का साम्राज्य है, जिसको निकटस्थ समुद्र का गर्जन भंग करता है। यहाँ शान्ति आश्रम है, जिसमें महात्मा ओंकार और माता सुशीला देवी रहती हैं। ज्ञानपिपासुओं के लिए यह आश्रम बहुत अधिक आकर्षक और लाभप्रद कहा जाता है।

वालटेयर स्टेशन से प्रायः तीन मील दूर विजगापट्टम समुद्रतट पर बसा हुआ है। यह स्थान जहाजी बेड़ों के लिए उपयुक्त और सुरक्षित है।

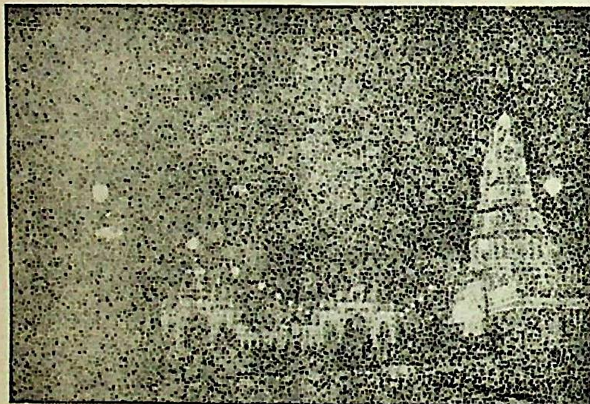
वालटेयर से मद्रास ७८० कीलोमीटर है। आंध्र प्रदेश में सबसे प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न मन्दिर त्रिपुरी बालाजी है। बालाजी जाने के लिए गुडूर में गाड़ी हमें बदलनी पड़ी। स्टेशन के पास ही कई धर्मशालाएँ हैं। मन्दिर की भी एक सुन्दर और आरामदेह धर्मशाला है, जो देवस्थान चौल्टरी के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण में धर्मशाला को चौल्टरी कहा जाता है।

स्टेशन से प्रायः एक मील पर कपिल गंगा सरोवर है और पास ही अश्वत्थामा का मन्दिर है। हमें भारत में द्रोणपुत्र का मन्दिर और कहीं देखने को न मिला। त्रिपुरी शहर छोटा है। यहाँ से दो मीलपर तिरूचनूर में श्री पद्मादेवी का बहुत विख्यात मन्दिर है। देवी भगवान् बाला जी की स्त्री है। श्री बाला जी के विवाह का उत्सव बड़ी धूमधाम से प्रतिवर्ष आश्विन सुदी १ को आरम्भ होकर दशमी को समाप्त हो जाता है। इन्हीं दिनों उत्तर भारत में दशहरा तथा रामलीला का उत्सव होता है। त्रिपुरी में श्री गोविन्दराक्ष स्वामी का विख्यात मन्दिर है। रामस्वामी का मन्दिर उल्लेखनीय है।

त्रिपुरी शहर से दो मील तिरूमलाई पर्वत है। यह पर्वत शेषाचल के नाम से प्रसिद्ध है। पर्वत सात मील की चढ़ाई का है। बाला जी का मन्दिर समुद्रतट से प्रायः २५०० फुट ऊँचाई पर है।

दक्षिण के मन्दिरों की बनावट भारत के अन्य प्रान्तों से भिन्न है। मन्दिर बाहर से देखने में विशाल ज्ञात नहीं होता, किन्तु गोपुरम (प्रवेशद्वार) बहुत विशाल और आकर्षक होता है। दक्षिण

भारत में प्रायः सब मन्दिरों के चारों ओर ऊँचा कोट (चहारदिवारी) बनाकर उनमें जो द्वार रखे जाते हैं, उनके ऊपर गोपुर बनाने की प्रथा है। श्री रंग, मीनाक्षी देवी, रामेश्वर आदि कतिपय



विख्यात मन्दिरों में तो हमें अनेक कोट और गोपुर देखने को मिले, कोट के अन्दर तालाब और विष्णु के मन्दिरों में गरुड़-स्तंभ होता है। शिव के मन्दिर में विशाल बसहा देखने को मिलता है।

पर्वत शिखर पर पहुँचने पर हमलोगों ने सर्वप्रथम पुष्करिणीतीर्थ नामक तालाब में स्नान कर भगवान् वाराहजी का दर्शन किया और उसके बाद बालाजी के मन्दिर की परिक्रमा करके मन्दिर में प्रवेश किया। भगवान् श्री वेंकटेशजी को बालाजी कहते हैं। मन्दिर सुन्दर, आकर्षक और विशाल है। कहा जाता है कि मकान हजार खम्भावाला है। यह तीन कोट से घिरा हुआ है। बीच में गुम्बजदार मन्दिर है। मन्दिर में अहर्निश घृत का दीपक जलता रहता है। उसके प्रकाश से चतुर्भुज भगवान् विष्णु के रूप में श्री बाला जी की झांकी मिलती है। मन्दिर के प्रधान देवता भगवान् श्री वेंकटेश जी हैं। वेंकटेश जी शेषजी के अवतारमाने जाते हैं। इसलिए यह स्थान लक्ष्मण-बाला जी के नाम से प्रसिद्ध है। मद्रासी लोग भगवान् को "वेंकट-रमण" नाम से पुकारते हैं। भगवान् की प्रतिमा सोने की है।

उन दिनों मन्दिर की वार्षिक आमदनी अनुमानतः पचीसलाख थी भारत के मन्दिरों में आय की दृष्टि से यह सबसे बड़ा समझा जाता है। रेलिजस ट्रस्ट कानून बनने के बाद मन्दिर का प्रबन्ध अब सरकार के हाथ में है। मन्दिर की आय से स्थानीय विश्वविद्यालय का खर्च चलता है।

साधारणतः यात्री बाला जी के दर्शन करके गुन्टुर वापस आते हैं और फिर वहाँ से मद्रास जाते हैं और वहाँ से काँची, पक्षीतीर्थ, चिदम्बरम्, श्री रंगम्, मदुरा होते हुए रामेश्वरम् पहुँचते हैं। किन्तु, हमलोगों को केरल को भी देखना था। अतः त्रिपुरी से हमलोगों ने बंगलोर (मैसूर) के लिए प्रस्थान किया।

मद्रास सेन्ट्रल स्टेशन से बंगलोर ३५६ कीलो मीटर है। गाड़ी सीधे बंगलोर जाती है। मद्रासगेट के पास हमलोग वृन्दावन होटल में ठहरे। नगर सुन्दर और विस्तृत है। यह भारत के स्वास्थ्यप्रद स्थानों में है। भारत की स्वतंत्रता—प्राप्ति के पहले यहाँ ब्रिटिश सरकार के रेजिडेन्ट रहते थे और ब्रिटिश फौज की एक बड़ी छावनी भी थी। यहाँ महाराज का एक विशाल भवन है। दर्शनीय स्थानों में ताता इन्स्टीच्यूट, पबलिक पार्क, लाल बाग, वसुन्डी, पुराना किला, टीपू सुलतान का किला, हवाई जहाज बनाने का कारखाना, चन्दन का साबुन बनाने का कारखाना, टाउनहाल आदि उल्लेखनीय है।

वंगलोर सारे भारत में अपनी जलवायु के कारण प्रसिद्ध है। यहाँ न अधिक जाड़ा पड़ता है और न अधिक गर्मी। हर मौसम सुहावना और आनन्दप्रद रहता है।

वंगलोर से मैसूर छोटी लाइन की गाड़ी जाती है। रेल से मैसूर ८० मील और सड़क से ८७ मील है। रेल से जाने के मार्ग में नन्दी हिल मिलता है, जो समुद्रतल से ८४५१ फुट ऊँचा है। स्वास्थ्यप्रद जलवायु के कारण लोग गर्मियों में यहाँ रहते हैं। यहाँ दो मन्दिर हैं, जो रेल में बैठे मुसाफिरों को दीख पड़ते हैं। वस से जाने में टीपू की राजधानी श्रीरंग-पट्टम मिलता है। मार्ग सुन्दर और आकर्षक दृश्यों से परिपूर्ण है।

हमलोग मैसूर दशहरे के समय पहुँचे। इस अवसर पर आकर्षक जुलूस और रोशनी देखने के लिए दूर-दूर से यात्री मैसूर आते हैं। यहाँ हम कृष्ण होटल में ठहरे, जिसमें उत्तर भारत का भोजन भी मिलता है। मैसूर स्टेशन से करीब डेढ़ फर्लाङ्ग की दूरी पर कुछ धर्मशालाएँ हैं। इनमें चार आने से डेढ़ रुपये तक के कमरे मिलते हैं और भोजन बनाने का वर्तन भी मिलता है।

मैसूर में सबसे आकर्षक कावेरी नदी का बांध है, जिसे कृष्णराज सागर कहते हैं और निकटस्थ "वृन्दावन" नामक सुरम्य वाटिका है। दोनों चीजें अपने ढ़ंग की निराली और भारत में सर्वोत्कृष्ट हैं। जिस प्रकार श्रीनगर (काश्मीर) में यात्री सिर्फ शालमार तथा निशातवाग के मनमोहक दृश्य देखकर अपने कष्ट और व्यय को सफल समझता है, उसी तरह इन दो भव्य स्थानों को देखकर वह तुष्ट हो जाता है। रात्रिमें वृन्दावन की जो छटा रहती है, वह भारत में मुझे कहीं और जगह देखने को न मिली। बांध को टीपू सुलतान ने बनवाया था और मैसूर नरेशों ने इसका सुधार और विस्तार किया। संसार के वड़े वांधों में इसकी गणना है। यह पौने दो मील लम्बा और १३० फुट ऊँचा है, सुन्दर वाटिका भिन्न-भिन्न प्रकार के फव्वारे, जल प्रवाह आदि द्वारा आकर्षक वनकर, दर्शकों के चित्त को मोहित कर देती है। इन आकर्षक दृश्यों में विजली की आभा चार चांद लगा देती है और मुग्ध दर्शक देखता रह जाता है। काश्मीर का शालमार और निशात बाग का मनमोहक दृश्य भगवान भास्कर की किरणों की आभा में खिल उठता है। किन्तु, कृष्णसागर और वृन्दावन का रात्रि का वैभव हठात् यमुना तट पर चाँदनी रात में होनेवाली भगवान कृष्ण की मुग्धकारी लीला का स्मरण दिलाता है।

यों तो मैसूर राज्य सौन्दर्य और कला का केन्द्र है। परन्तु, उसकी कलात्मक विशेषताओं का प्राण सागर और वृन्दावन है, जहाँ विज्ञान और इंजीनियरिंग के योग से एक ऐसे उपयोगी विशाल और आश्चर्य जनक स्थान की सृष्टि की गयी है, जिसकी सुन्दरता की कल्पना नहीं की जा सकती।

भोर में वारह आना प्रति आदमी किराया देकर वससे पहाड़ पर हम चामुण्डा देवी के दर्शन के लिए गए। यह स्थान मैसूर वस मार्ग से वारह मील है, किन्तु पैदल मार्ग से सिर्फ तीन मील। देवी मैसूर के सवसे प्रसिद्ध और मान्य देवता हैं। यह राजवंश की देवी हैं। मूर्ति वहुत सुन्दर और भव्य है। देवी के ललाट पर एक बड़ा हीरा जड़ा हुआ है, जो निरन्तर मूर्ति को प्रकाशित किये रहता है। रात में पहाड़ से नगर को बहुसंख्यक रोशनी में देखकर यात्री मुग्ध हो जाते हैं। चामुण्डी के मार्ग में बृहत् नन्दी का दर्शन होता है; जो पहाड़ की चट्टान को काटकर गढ़ा गया

है और दर्शनीय है। भारत के विशाल मन्दिरों में इसकी गणना है।

शहर के भव्य राजभवनों में जगमोहन महल और ललिता महल विख्यात हैं। जगमोहन महल में रंग-बिरंग के आईने हैं, जिनमें मनुष्य की आकृति भयावह तथा हास्यास्पद हो जाती है। भारतीय चित्रकारी का यहाँ अद्‌भुत संग्रह है। नगर के बीच का महल सबसे विशाल है। इसमें महाराज सपरिवार रहते हैं। इस महल में दशहरे को आकर्षक दरबार लगता है। बिजली के लाखों बल्बों से नगर जगमगा जाता है। इस महल के भीतर की कारीगरी दर्शनीय है।

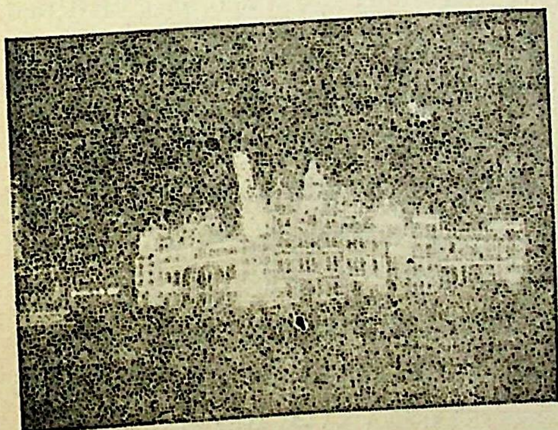
मैसूर में हर खूबसूरत इमारत को रात के समय बिजली के प्रकाश से चमका दिया जाता है। रेलवे स्टेशन, चर्च-मैसूर, निशात बाग बुर्ज, महल की मीनारें, घंटाघर और अन्य बड़ी-बड़ी इमारतें सब ही सर्चलाइट के प्रकाश में चमकती रहती हैं। सड़क के दोनों ओर हरे-भरे-पेड़ों के बराबर, गोल-गोल सफेद चमकते हुए बिजली केबल्बों की पंक्तियाँ बड़ी ही चित्ताकर्षक हैं। टाउन हाल के ठीक सामने स्वर्गीय महाराज की मूर्ति स्थित है। उसका बुर्ज सोने का है। यह बिजली के प्रकाश में अद्‌भुत दीख पड़ता है। शहर में भी भारत के अन्य शहरों की अपेक्षा, अत्यधिक बिजली कीरोशनी होती है और नवागन्तुक को सदा दिवाली का दृश्य नजर आता है।

नगर में जू अथवा जानवर-घर तथा चिड़िया घर भी है। बाघ और सिंह के रखने का ऐसा सुप्रबन्ध है कि सुभीते से खुले मैदान में घूम फिर सकते हैं; किन्तु, बीच की खाई इतनी गहरी और चौड़ी है कि दर्शकों को खतरा का तनिक भी भय नहीं है। पहले लखनऊ में भी सिंहों के रहने का ऐसा ही प्रबन्ध था, किन्तु, अब कुप्रबन्ध के कारण वह सौन्दर्य वहाँ नहीं है।

मैसूर का स्टेशन बहुत विशाल और भव्य है। यात्रियों के रेस्ट रूम (ठहरने के कमरे) अत्यन्त सुसज्जित हैं। मैसूर जानेवाले यात्री को उचित है कि कमरा पहले से ही सुरक्षित करा ले। अगर सुरक्षित न हो, तो पहुँचते ही पता लगा ले कि स्थान खाली है या नहीं। इस स्थान के सदृश आरामदेह कोई होटल नहीं है। तीन-चार रुपये प्रतिदिन किराया लगता है।

मैसूर का दशहरा बहुत प्रसिद्ध है। भारतवर्ष में इसकी शान का दशहरा कहीं नही मनाया जाता। यात्री अधिकतर इसी अवसर पर मैसूर आते हैं। हमने भी अपना कार्यक्रम इसी को ध्यान में रखकर बना लिया था। दशहरा के एक दिनपूर्व हमलोग मैसूर पहुँचे। किन्तु, मैसूर पहुँचने पर यह जानकर निराशा हुई कि खाद्य पदार्थ की देशव्यापी कमी के कारण दशहरा का जुलूस स्थगित करदिया गया है, क्योंकि इस अवसर पर लाखों आदमी नगर में आ जाते हैं। ज्ञात हुआ कि विजय नगर राज्य के समय से ही यह दशहरा समारोह के साथ मनाया जाता है। दशहरा के सुअवसर पर मैसूर परियों का देश हो जाता है। सारा नगर सजाया जाता है। ज्ञात हुआ कि दोपहर के समय जुलूस निकलता था, जो प्रायः एक मील लम्बा होता। जुलूस में सुसज्जित हाथी, ऊँट, रथ, फौजी, सिपाही के साथ-साथ भिन्न-भिन्न अस्त्र-शस्त्र का प्रदर्शन होता था। स्वयं महाराज युवराज तथा राज्य परिषद् के अन्य सदस्यों के साथ, हाथी पर विराजमान रहते थे। सूर्यास्त के बाद फौज का प्रदर्शन बनिया-मंडप-मैदान में होता था, जो बिजली बत्ती से जगमगा उठता था।

इस साल यद्यपि जुलूस नहीं निकला और फौजी सिपाहियों का प्रदर्शन नहीं हुआ तथापि रोशनी पूर्ववत् हुई। महल में लाखों बिजली-बत्तियाँ लगी हुई थीं और उनके प्रकाश से सारा राजमहल चकाचौंध पैदा कर रहा था। १९५० के जनवरी में जब राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति हुए और पुनः १९५६ के स्वतंत्रता दिवस समारोह के दिन—२६ जनवरी को तथा १९५३ में दिवाली के अवसर पर राष्ट्रपति भवन रात्रि में बिजली की रोशनी से चमका गया था· किन्तु मैसूर के महाराज के महल की रोशनी के



मैसूर का एक भवन

सम्मुख वह मुझे फीका लगा। अतः यद्यपि हमें जुलूस देखने को नहीं मिला, तथापि रात की रोशनी देखकर हमें काफी सन्तोष हुआ। मैसूर की खूबी यह है कि इस नगर की सड़कों पर बारहों महीने इतनी तेज रोशनी रहती है कि यदि सुई भी गिर जाय तो आप उसे आसानी से उठा सकते हैं। रोशनी की ऐसी व्यवस्था हमें भारत में कहीं देखने को न मिली।

अब तो सारा वातावरण बदल गया है। अन्य राज्यों के साथ मैसूर भी भारत में विलीन हो गया है और महाराज आज मद्रास के राज्यपाल हैं। न मालूम आज दशहरा किस प्रकार मनाया जाता है।

मैसूर शहर की एक बड़ी खूबी यहाँ की सफाई और प्राकृतिक सौन्दर्य की भावना है। नगर की सड़क, गली और नाली जितनी साफ हमें मैसूर में मिली, उतनी भारत के किसी दूसरे नगर में नहीं। कहीं भी गन्दगी, भद्दे गड्ढे या उजड़ा मैदान नहीं दीख पड़ा। गड्ढों को भी आप सँवरे हुए पायेंगे। जगह-जगह सड़क के किनारे आपको दृष्टि के सम्मुख सुन्दर फूलों की पंक्तियाँ दीख पड़ेंगी।

मैसूर प्रदेश के दर्शनीय स्थानों में श्री रंगटहम सोमनाथ मन्दिर, बेलूर, हलबेद और श्रव नवेल गोला का मन्दिर, सोने की खान और ग्रेसपा जाल प्रपात है। स्थानाभाव से इनका विवरण मैं नहीं दे सकता।

२६ अक्टूबर १९४७ को भोर में, प्रायः साढ़े सात बजे बस से हमलोगों ने उटकामण्ड—जो मद्रास की ग्रीष्मकालीन राजधानी है— प्रस्थान किया। यह मैसूर से १०० मील पर पहाड़ी नगर है। मार्ग सुन्दर और आकर्षक है। हमलोग ३॥ बजे संध्या में उटकामण्ड पहुँच कर स्टेशन के पास ही सनबिम होटल में ठहरे।





भारत और तटस्थता की नीति

प्रो० राय रवीन्द्र कुमार सिन्हा
[राजनीति विज्ञान विभाग]

यों तो किसी भी देश की वैदेशिक नीति अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर निर्णय करने की एक कला एवं प्रक्रिया है; फिर भी इस बात को इन्कार नहीं किया जा सकता है कि इस पर भौगोलिक, ऐतिहासिक आदि तत्वों का कम प्रभाव नहीं पड़ता। जर्मनी के एक विशेषज्ञ ने इस संबंध में लिखा भी है— 'भौगोलिक स्थिति तथा ऐतिहासिक घटनाएँ एवं उतार-चढ़ाव विदेश नीति को इतना प्रभावित करते हैं कि शासन यंत्र में परिवर्त्तनों के होते हुए भी किसी देश की वैदेशिक नीति का स्वभाव बार-बार एक ही मौलिक आधार पर आ जमने का होता है।" भारत की विदेश नीति के संबंध में कुछ इसी प्रकार की बातें कहीं जा सकती हैं। लेकिन इसकी तटस्थता की नीति का मुख्य आधार था देश की उन्नति के लिए शीत युद्ध (cold war) से अपने देश को अलग रखना। यही कारण है कि भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् जब स्वर्गीय श्री जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में इसे सहेजने और संवारने की बात उठी तो उन्होंने भारत की सभ्यता और संस्कृति को ध्यान में रखते हुए देश की प्रगति के लिए तटस्थता की नीति को अपनाने का फैसला किया अर्थात् आधुनिक विश्व जो दो गुटों में बँट गया है (अमेरिका और रूस) उससे अपने को अलग रखने का फैसला किया।

अब अगर तटस्थता के संबंध में किसी तरहका प्रश्न उठाया जाय तो इसका जबाब भारत की तटस्थता के आधार पर ही नहीं दिया जा सकता है; क्योंकि संसार में बहुत से राष्ट्र हैं जो तटस्थता की नीति को अपनाये हुए हैं। इतना ही नहीं उन राष्ट्रों ने तटस्थता की नीति की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। इसलिए अब तटस्थता के संबंध में कोई एकमत प्रकट नहीं किया जा सकता। कम्बोडिया की तटस्थता का मुख्य उद्देश्य अगर पड़ोसी देशों से अपने आपको अलग रखना है तो संयुक्त अरब गण राज्य (U. A. R.) की तटस्थता राष्ट्रपति नासिर के नेतृत्व में अरब राष्ट्रवाद को सुसंगठित करना है। इसी तरह अगर भारत की तटस्थता की नीति का मुख्य उद्देश्य विश्वशांति में योगदान देना है तो अफ्रीका के तटस्थ देश इस बात में विश्वास करते हैं कि विश्व से उपनिवेशवाद का खात्मा कर दिया जाय। अतः तटस्थता बहुरंगी रूप में भिन्न-भिन्न देशों के समक्ष उपस्थित होती है।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है यहाँ तटस्थता की नीति इसलिए अपनायी गयी है कि भारत तटस्थता के शाब्दिक अर्थों को अपना कर विश्व शांति में योगदान दे और इसी के माध्यम से अपना आर्थिक विकास

कर सके। इसीलिए आलोचकों का ऐसा विचार है कि भारत की तटस्थता का सम्बन्ध विश्वशान्ति से नहीं है बल्कि अपने आर्थिक विकास और राजनैतिक स्थिरता से है। जो लोग भारत की तटस्थता के सम्बन्ध में इस तरह का विचार रखते हैं वे गलती करते हैं क्योंकि अगर शान्ति ही न हो तो विकास कैसा ? इसलिए भारत की तटस्थता का एक मुख्य उद्देश्य विश्वशान्ति में योगदान देना है। और जैसा कि हम सभी जानते हैं कि तटस्थता की नीति सभी देश के लिए एक साधन मात्र है चाहे इसके माध्यम से राष्ट्रवाद को बुलन्द किया जाय, चाहे उपनिवेशवाद का अन्त किया जाय। भारत भी इसे साधन मान कर अपना विकास करना चाहता है और विश्वशान्ति भी तो एक साधन है। इसलिए देश की उन्नति के लिए शान्ति बनाये रखना भारत की तटस्थता की नीति का एक अंग है तो दूसरा अंग विश्व की तृतीय विश्व युद्ध से रक्षा करना। पंडित नेहरू ने इस बात को समझते हुए ही तटस्थताकी नीति का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय हित की सुरक्षा से नहीं मान कर मानव जाति को लड़ाई के खतरे से बचाने के लिए माना अर्थात् विश्व शान्ति में योगदान देने के लिए माना।

जहाँ तक तटस्थता के वास्तविक अर्थ का सम्बन्ध है वहाँ यही कहा जा सकता है कि एक अर्थ में गुटों से अलग रहने की नीति है खासकर सैन्य गुटों से अलग रहने की और दूसरे अर्थ में यह एक स्वतन्त्र नीति है जो वैदेशिक मामलों के सम्बन्ध में दी जाती है। भारत के सम्बन्ध में भी यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है अर्थात् भारत तटस्थता की नीति को इन्हीं दो अर्थों में अपनाना चाहता है। यह पाकिस्तान या अन्य देशों की तरह अपने को किसी सैन्य गुट में शामिल नहीं करना चाहता है और यह तो साफ जाहिर है कि तटस्थता की नीति भारत की विदेशी नीति का एक अभिन्न अंग है।

भारत की तटस्थता की नीति को सैन्य गुटों की कसौटी पर कसते हुए आलोचक इसकी आलोचना करते हैं और भारत की इस विदेश नीति को असफल नीति करार देते हैं। इनका ऐसा विचार है कि भारत अपनी इस नीति को अपना कर अपना स्वार्थ पूरा करने में कुछ हद तक सफल रहा है अर्थात् आर्थिक सहायता उसे मिल जाती है और कुछ अंश तक वह राजनीतिक दृष्टिकोण से स्थिरता भी ला पाया है परन्तु सचाई यह है कि यह असफल नीति रही है। इसके सम्बन्ध में आलोचक चीनी आक्रमण का उदाहरण पेश करते हैं। आलोचकों का ऐसा विचार है कि जो नीति देश की रक्षा नहीं कर सकती है वैसी नीति को अपनाने से क्या फायदा ? लेकिन आलोचकों का यह विचार उचित नहीं जान पड़ता। भारत अपनी तटस्थता की नीति के कारण ही तो चीन जैसे विश्वासघाती राष्ट्र से मुकाबला कर सका। तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक हो जाता है कि भारत ने विदेशी राष्ट्रों से जो सैनिक सहायता ली तो उसकी तटस्थता की नीति समाप्त हो गयी। लेकिन ऐसे प्रश्नकर्त्ताओं से अगर यह प्रश्न पूछें कि भारत जो आर्थिक सहायता विदेशी राष्ट्रों से लेता है तो क्या उसकी तटस्थता की नीति समाप्त हो जाती है ? अगर नहीं तो सैनिक सहायता भी उसी आर्थिक सहायता के समान है इससे तटस्थता की नीति को क्या लेना देना। बहुत से ऐसे राष्ट्र हैं जिन्होंने आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता अन्य राष्ट्रों से ली है और फिर भी उनकी तटस्थता की नीति ज्यों की त्यों कायम रही है जैसे घाना, लीबिया या यूगोस्लाविया आदि। अतः जब ये राष्ट्र आवश्यकता पड़ने पर विदेशी राष्ट्रों से

सैनिक सहायता लेकर भी तटस्थ कहे जा सकते हैं तो आखिर भारत क्यों नहीं। भारत ने भी तो चीनी आक्रमण से देश की सुरक्षा के लिए सैनिक सहायता ली और यह भी सहायता इस शर्त पर कि उसकी तटस्थता की नीति पर कोई आंच न आये। अतः चीनी आक्रमण से भारत की तटस्थता की नीति के असफल होने का कोई भी ठोस कारण नहीं आता। इसलिए इस सम्बन्ध में दी गयी आलोचनाएँ सिर्फ तार्किक ही हैं विवेक पूर्ण नहीं।

अक्सर कुछ वर्ग के लोग इस गलतफहमी में पड़े हैं कि तटस्थता शीत युद्ध के कारण ही जीवित है। कुछ लोग यह भी कहते हुए सुने गये हैं कि अब शीत युद्ध के तनाव में कमी आ गयी है इसलिए तटस्थता की नीति भी महत्त्वहीन होती जा रही है। इनलोगों का ऐसा कहना गलत है। तटस्थता की नीति वैदेशिक नीति है। इसका शीत युद्ध से कोई गहरा सम्बन्ध नहीं। हाँ, इतना तो सत्य जरूर है कि तटस्थता की नीति शीत युद्ध की प्रतिक्रिया के कारण ही आयी है। ऐसी हालत में यह सोचना क्या गलत नहीं होगा कि शीतयुद्ध की कमी से तटस्थता के महत्त्व में कमी आ जायेगी। अतः तटस्थता का और शीत युद्ध दोनों का अपना अलग-अलग आधार है। अब तो तटस्थता की नीति इतनी व्यापक हो गयी है की यह तटस्थता के शाब्दिक अर्थों तक ही सीमित नहीं रह गयी है। विश्वशान्ति के लिए यह किसी भी समस्या के सम्बन्ध में दिलचस्पी ले सकती है। हाल ही में भारत ने दक्षिण वियतनाम की समस्या के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं और हर तटस्थ राष्ट्र ऐसा करता है। भारत और चीन विवाद को लेकर लंका, संयुक्त अरब गणराज्य ने भी अपने विचार व्यक्त किये थे और उचित सुझाव भी पेश किये थे। अतः तटस्थता अपने व्यापक अर्थ में शीत युद्ध से कोई संबंध ही नहीं रखती।

तटस्थता की नीति चाहे किसी देश की हो उसके संबन्ध में कोई खाश परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि यह इतनी व्यापक हो गई है कि इसे परिभाषा की परिधि में रखा नहीं जा सकता। भारत की तटस्थता की नीति के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है की भारत व्यापक अर्थों में ही उसे अपनाने की चेष्टा करता आ रहा है वैसे उसका विश्वास उसके मूल सूत सिद्धांतों में है अर्थात् गुटों से या सैनिक गुटों से अलग रहना और उसे स्वतंत्र विदेश नीति के रूप में ग्रहण करना। लेकिन उसके साथ-ही-साथ यह तटस्थता के आधार पर विश्व शांति की समस्या में योग दान देना चाहता है। पंडित नेहरू ने जिस नीति पर तटस्थता के महल को खड़ा किया अब भी उसी नीवं पर उसका विकास होता चला जा रहा है। यही कारण है कि स्वर्गीय नेहरू ने अगर १९६१ के बेलग्रेड सम्मेलन में राष्ट्रीयहित के बजाय अंतर्राष्ट्रीय शान्ति पर विशेष जोर दिया था तो वर्त्तमान प्रधान मंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने १९६४ के काहिरा सम्मेलन में विश्व शान्ति के विस्तार पर जोर दिया। इतना ही नहीं भारत अपनी इस नीति के आधार पर तटस्थ राष्ट्रों को लड़ाई के खतरे से दूर रखने के लिए प्रयत्नशील रहा है। अतः भारत की तटस्थता सकी नीति कोई आदर्शवादी विचार धारा नहीं कही जा कती बल्कि इसका व्यावहारिक मूल्य है।

कविता का रहस्य

प्रो. रमाकान्त द्विवेदी



बादल जब शशि के कानों में कुछ कहता था
उस रात चाँद बादल में छिप-छिप चलता था।
धरती की हवा मचलती थी फूलों को छू
सौरभ समीर की बाहों पर था झूम रहा।

चाँदनी सुरभि से लदी, लाज से भरी, अलस,
नीरव भाषा के संकेतों में मुझे जगा—
कह गई न जाने क्या चुप-चुप कुछ भाव—भरी
मैं विकल हो उठा मानस में मधु लहर उठी।

कोमल भावों का स्पर्श न जाने कैसा था?
मानस तरङ्गायित हुआ, कल्पना सजग हुई।
मैंने सोचा, है अमर साधना की बेला
कविता करने की भाव—मयी रंगीन लहर।

कुछ देर साधना में डूबा, तन्मय विभोर
फिर मुक्त हो गये प्राण मर्म के बंध खोल
मन की उमंग उड़ गई गगन के प्राङ्गण में
भावना तीव्रतर हुई भेद घन नभ—मण्डल।

निस्सीम ज्योति में छिड़ा महा संगीत अमर
मन की तंत्री हिल गई तार तन गये तुनुक
अन्तर की ध्वनि स्वच्छन्द उड़ी सस्वर ऊपर
शाश्वत् सरगम के प्राणों में हो गई विलय।



अनुभूति की दो सतहें

● प्रो० वीरेन्द्र नाथ द्विवेदी, एम०ए०
[हिन्दी विभाग]

[पहली]

बरसाती बादलों का झुण्ड, बुजदिल चोरों जैसा आसमानी-महल में लुका-छिपी कर रहा है।

बिजली की चमक, चोरबत्ती-सी झाँक रही है।

रजनी रानी का सूना प्रकोष्ठ काँप उठता है डर से, उसके प्रहरी तारे भी तन्द्रिल हो उठे हैं। तभी—

पवन ने करवट ली, कुछ खटका हुआ। पूरबी वातायन को खोलकर सूरज ने झाँका, देखा तो—वे भागे जा रहे थे, गिरते-पड़ते।

सूरज ने अपना तीव्रगामी रथ हाँक दिया उनके पीछे।

पर दिन भर की खोज में भी वे न मिले, थका-हारा सूरज पुनः लौट आया अपनी प्रिया रजनी के पास।

पता नहीं! वह खुश था या उदास।

[दूसरी]

कविते! तू चुप क्यों है, बोलती क्यों नहीं?

क्या तू मुझसे नाराज हो गई है?

कवि! क्या बोलूँ? अब बोलने को बच ही क्या गया? मेरा तो सब कुछ छिन गया, जब तुम ही मेरे नहीं रहे तो किसके सहारे गुनगुनाऊँ?

क्यों? मैं तो अब भी तेरे साथ हूँ।

कहने को तो जरूर साथ हो, पर क्या आज भी तुम वही हो जो पहले थे? तुम्हारा नामधारी रूप तो आज भी वैसा ही है पर तुम्हारी आत्मा भटक गई है, तुम्हारे अन्तर का रस अब मेरे लिए नहीं बहता। तुम तो न जाने किसकी तलाश में, नयी उधेड़बुन में खोये रहते हो; कहते हो—प्रयोग कर रहा हूँ, प्रगति के पथ पर हूँ।

नहीं प्रिये! मेरा प्रयोग और प्रगति तो तुम्हें लेकर ही है, तुम्हारे बिना मेरा अस्तित्व ही क्या है?

क्या तू नहीं जानती? जमाना बदल गया है, जमाने के साथ हमारे रूप-रंग, विचार-अनुभूति और तुम्हारे साज-शृंगार सभी बदलते जा रहे हैं। क्या हम आज भी वैसे ही रहें? क्या तुम चाहती हो कि हमें लोग रूढ़िवादी कहकर हँसें? रमणीयता तो क्षण-क्षण बदलती नवीनता का नाम है, फिर हम पीछे क्यों रहें? ऐसी हताश न हो रानी!

मेरा तो जीवन ही तुमसे बँध गया है। तुम्हें छोड़कर मैं जाऊँगी ही कहाँ? कवि को छोड़कर कहानीकार को तो पकड़ नहीं सकती, भारतीय जो ठहरी! फिर भी एक पीड़ा से कराहती रहती हूँ, वह पीड़ा है तुम्हारा बदलता हुआ बेडौल रूप। मैंने सुना है तुम्हें कहते हुए—

'लाज वन्तिनि,

मत निहारो आइने में टूट जायेगा'

जब मैं तुम्हारे अन्तर को गुदगुदाती हूँ, तुम्हारी सजल अनुभूतियों को भावना के रंग से रँगती हूं, तुम डरकर भागना चाहते हो, कहते हो वह टूट जायेगा। अब तुम्हारा दृष्टिकोण कहीं और है, तुम कहते हो—

'हायरे, लगे चक्कर पर चक्कर
मिली नहीं प्यारे एक किलो शक्कर'

जब तुम चाय के लिए चीनी तलाशते फिरते हो तो भला तुम्हें मेरी चिन्ता क्या है ?

जिस चाँद को देखकर तुम्हारी भावुक सतरंगी कल्पना मेरा मनुहार करती थीं, भावना के स्मित हास उसकी धवलिमा के रंग खीचते थे और मैं उसकी दूधिया चाँदनी से तर-बतर होकर भींग उठती थी, उसी चाँद को जब तुम अपनी बेतुकी बौद्धिकता में यों उछालते हो—

'चाँद, एक कुशल नट सा,
आकाश-गंगा की रस्सी पर झूमता बढ़ता है,
तारों की भीड़ तत्पर है तालियाँ बजाने को,

तो एक भयाकुल शंका से मैं काँप उठती हूं कि बेचारा उस रस्सी से गिरकर कहीं लँगड़ा न हो जाय। तुम तो अपनी अजीब कल्पना से असंगत रंगों की होली खेलते हो। 'भोर की प्रथम फीकी किरण' कभी तुम्हें फीकी लगती है और कभी मीठी और नीकी। सावन की बहार की बरसाती रात जब तुम्हें पूर्णिमा से भर उठी प्रतीत होती है तो सच कहती हूं प्रियतम ! तुम्हारी कविता को भी इस पूर्णिमा में अमा का अंधकार ही नसीब है। मेरे कवि ! मुझे निकाल लो बाहर ऐसे अँधेरे कमरों के-जहाँ चिरागों के बदले गुलाब खिलाए जाते हैं और बागीचों में खिलने-मुस्कुराने का का काम चिरागों को सौंप दिया जाता है।

कवि और कविता का यह सामंजस्य मेरी समझ में नहीं आता।

कविते ! तू भ्रम में पड़ गई है।

तेरे नये रूप में नये सत्यों, नयी यथार्थताओं का जीवित बोध है' जो नये रागात्मक सम्बन्धों की तादात्म्यता से सहृदयों में रसासव छलकाते हैं। नहीं कवि ! नहीं ! !

अब तुम्हारी कविता के सपने तुम्हारे ही शब्दों में इस तरह टूट गए जैसे 'भुँजा हुआ पापड़' जिसके साथ तुम गर्म चाय पीने का आग्रह करते हो—

'भोंपा चोख उठा, मेरी भोर हो गई,
श्रीमती जी जरा एक कप चाय बना दो,

गरमागरम चाय पीने के बाद जब तुम्हारी तबियत कुछ ठिकाने आती है तो गली-गली के 'फेरीवाले' बनकर मेरा सौदा किया करते हो, ग्राहकों को ललचाते हो, अपनी कविता की तारीफ में निराधार हवा का पुल बनाकर गाते फिरते हो—

जी हाँ, हुजूर गीत बेचता हूं
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूं
मैं सभी किस्म के गीत बेचता हूं।

जी माल देखिये, दाम बता दूँगा,
बेकाम नहीं है, काम बता दूँगा।

जी, बहुत देर लग गई हटाता हूं,
ग्राहक की मर्जी, अच्छा जाता हूं।

मेरे भटकते राही !

मुझे क्यों विभ्रम में डालते हो ? अपनी कुंठित संवेदन शीलता और संकीर्णता से मेरा दम क्यों घोट रहे हो ? मुझे जीवन्मृत क्यों कर रहे हो ? मुझे बुद्धिवादी दल-दल में गिरने से बचाओ और अपनी कल्पना को भाव-भूमि की उस खाई में न ढकेलो जहाँ से उठने की चेष्टा करने पर भी वह पर कटे पक्षी की तरह फड़फड़ाकर गिर पड़े।

तू तो बड़ी बहकी-बहकी बातें कर रही है कविते! मालूम होता है किसीने तेरा सर फिरा दिया है।

मैंने तो तुझमें नव जीवन लाने के लिए, नयी ताजगी और नवीन रूप भरने के लिए 'कविता' से 'नयी कविता' कहना शुरू किया। तेरा अभिनव शृंगार किया और तेरी आत्मा में नवयुग की नयी चाँदनी का नया प्रकाश भर दिया। तू तो साहित्य को नयी धारा, नयी गति, नया जीवन और नयी काया दे सकती है। फिर ऐसी उदासी क्यों? यह पागलपन कैसा?

कविते! मन के तूफान और विचारों के बवंडर सदा नहीं रहेंगे, शान्त होंगे क्योंकि मैं समझता हूं कि मेरी नयी चेतना एक शायर के शब्दों में—

'मुझको बेहोश समझ मत ऐ जमाने गुस्ताख
इतना तो होश अभी है कि अभी होश में हूं'
बे जान नहीं हुई है।
कविता चुप है, आखिर बोले ही क्या?
परवश जो ठहरी!

मैया मोरी मैं नहीं द्रव्य उड़ायो



मैया मोरी मैं नहीं द्रव्य उड़ायो।
कलुआ-मलुआ बहुत चोर हैं बरबस मोहि धरायो॥

कहन लगे घर में नहिं कोऊ अवसर अच्छो आयो।
कल पहली तारीख थी बाबा रकम भी पूरी लायो॥

यह सुन महरि कर्ण धरि टाँग्यो भूमि बंसीधर छोड़ा।
कान छुड़ाके रिस के मारे कान्ह उठायो रोड़ा॥

बहुत मनायौ पुनि नहिं माने हँसि तब गई बुझाई।
तमकि तमाचा तबहिं लगायो दास सूर बलि जाई॥

—प्रो० वीरेन्द्र कुमार सिन्हा

भारतीय संस्कृति में गाय

★ प्रो० विन्देश्वरी प्रसाद श्रीवास्तव

इतिहास और परम्परा से प्रेरित विचार और व्यवहार की पद्धति को संस्कृति कहते हैं। यह वस्तुतः हृदय की सम्पदा है, जो मनुष्य के समस्त कार्यव्यापारों में व्यक्त होती है और इसी सम्पदा से जाति विशेष के गुणावगुण का परिचय मिलता है। भारत की संस्कृति का एक विशेष प्रवाह है, जो अनादिकाल से आज तक अक्षुण्ण रूप से बहता चला आ रहा है। इस प्रवाह ने कोटि कोटि नरशरीरधारी पशुओं को मनुष्यत्व प्रदान किया और मानवी विकारों से युक्त जीवों को अपने वास्तविक स्वरूप का परिचय कराया और उनको कृतकृत्य कर दिया। जगत को इस संस्कृति की सदा आवश्यकता रही है और भविष्य में भी रहेगी—यही एक मात्र कारण है कि जगन्नियन्ता सर्वशक्तिमान प्रभु भारत की रक्षा करते रहते हैं। कभी दूतों को भेज कर और कभी स्वयं ही रंग-मंच पर आकर दैवी कार्य को सम्पन्न करते हैं। उदार घोषणा कर रखी है—

परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे॥

सर्व समर्थ प्रभु जब स्वयं रंगमंच पर आते हैं तो हम उन्हें अवतार कहते हैं। इस अवतार तत्व की सम्यक् विवेचना सन्त तुलसी ने की है। वे जगह जगह पर (राम चरित्र मानस में) यह घोषणा करते हैं कि "विप्र, धेनु, सुर सन्तहित लीन्ह मनुज अवतार"। स्पष्ट है कि गाय का उद्धार और संरक्षण अवतार के हेतुओं में से एक है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृति में गाय को अनन्य स्थान प्राप्त है। यह स्थान केवल भावुकता के कारण ही गाय को दिया गया हो, ऐसी बात नहीं है। इस विषय में हम चार विशेष पहलुओं का विचार करेंगे।

भारत कृषिप्रधान देश है और आधुनिक उपायों का सर्वाधिक अवलम्बन करने के बाद भी गोवंश और कृषि अविभाज्य सिद्ध होंगे। अपने देश में सम्पन्न कृषकों की संख्या बहुत कम है। अतः सभी कृषक ट्रैक्टरों का उपयोग कर नहीं सकते। और न तो उन के पास बड़े-बड़े खेतों के चक ही हैं, जिन में ट्रैक्टरों का पूरा-पूरा उपयोग सम्भव हो। यदि सरकार सहकारी खेती के नाम पर बड़े-बड़े चक बना कर ट्रैक्टरों को अनिवार्य कर दे, तो तुरन्त पावर (Power) अर्थात् पेट्रोल, पावरिन आदि की समस्या जटिल हो जायगी, जिसका समाधान सम्भव नहीं होगा। अतः सारी दौड़ धूप के बाद भी कृषि से गोवंश का सम्बन्ध विच्छेद सम्भव नहीं है। आज तक गोबर और गोमूत्र से अधिक गुणकारी और निर्दोष खाद का निर्माण नहीं हुआ है। गोबर और गोमूत्र ने हमारी भूमि की उर्वरा-शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखा है। अतः हमको खाद के

लिये गोवंश पर निर्भर करना होगा। कोई दूसरा विकल्प दिखाई नहीं पड़ता।

दूसरी बात स्वास्थ्य की है। शरीर का स्वास्थ्य नियमित, शुद्ध और शरीरोपयोगी तत्वों से युक्त भोजन पर निर्भर करता है। भारतीय विद्वान तो एक स्वर से कहते हैं "पयो सद्यो बलदायकः" अर्थात् दूध तत्क्षण शक्ति देता है। "मेटीरिया मेडिका" में भी स्पष्ट लिखा है कि दूध एक पूर्ण भोजन है। लगभग १ वर्ष तक बच्चा दूध पर ही पलता है, जो उपरोक्त तथ्य का स्पष्ट और प्रबल प्रमाण है। गाय के दूध का दही भी बड़ा गुणकारी होता है। कहावत है "नित्यतक्र उपयोग करने वाला वैद्य से कोई प्रयोजन नहीं रखता"। वस्तुतः गाय के दूध, दही और घी की पूर्ति दूसरे पदार्थों से सम्भव नहीं है। कुछ लोग अण्डा, मांस, मछली का ही उपदेश करते हैं, किन्तु ये पदार्थ उत्तेजक होने कारण उपयोग के मन्तव्य का ही हनन करते हैं। अतः स्वास्थ्य की दृष्टि से हमें गाय पर निर्भर करना पड़ेगा।

तीसरी बात यज्ञ की है। भारतीय संस्कृति यज्ञमयी है। यज्ञ के सम्पादन में गोघृत अत्यन्त आवश्यक है। आज भी हमारे साधारण अधिष्ठानों में दही, दूध, अक्षत, फल और फूल का उपयोग होता है। किसी भी धार्मिक अधिष्ठान के समय अन्न और गोदान का विशेष महत्व है। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि भारतीय धार्मिक जीवन बिना गाय के सम्भव नहीं है। हमारे धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन से गऊ का सम्बन्ध-विच्छेद तभी सम्भव है, जब हम अपनी इस सांस्कृतिक-धारा को तिलांजलि दे दें। किन्तु यह होने वाला नहीं है।

चौथी बात संस्कार की है। समाज के अंगों पर अच्छे संस्कार डालने की व्यवस्था करनी पड़ती है। मनुष्य के जीवन में अहिंसा का विशेष महत्त्व है। अहिंसात्मक वृत्ति उत्पन्न करना सामाजिक आवश्यकता है और आध्यात्मिक जीवन का प्रथम सोपान। किसी भी आध्यात्मिक साधना का प्रथम अंग "यम" है। यम में पाँच बातें आती हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अपने से निर्बल पर आघात करना हिंसा है और निर्बल पर आघात न करना ही अहिंसा है, क्योंकि सबल पर तो कोई आघात करता नहीं। बकरी का मांस तो बहुत लोग खाते हैं, किन्तु शेर का मांस कोई नहीं खाता।

अहिंसा व्रत अपनाने से समाज में सौहार्द्र और प्रेम उत्पन्न होता है। साथ ही साथ शुद्ध "आत्मा" की अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती है। इहलोक और परलोक दोनों बनते हैं। अतः "अहिंसा परमो धर्मः" की घोषणा हुई। किन्तु यह गुण अपने आप उत्पन्न नहीं होता, इसकी व्यवस्था करनी पड़ती है। थोड़ी देर के लिए हम ईसाई समाज का विचार करें। ईसा मसीह ने उपदेश दिया "यदि कोई गाल पर थप्पड़ मारे, तो दूसरा गाल उसकी ओर कर दो"। यह उपदेश अपने स्थान पर है और ईसाई समाज का जीवन दूसरे स्थान पर। दूसरों के धन और भूमि का लालच जितना ईसाइयों को हुआ; उतना शायद किसी अन्य को नहीं। इस लक्ष्य की पूर्ति में ईसाइयों ने हिंसा, छल, कपट-सबका सहारा लिया। इस वैषम्य का कारण 'उपदेश' की अपूर्णता नहीं है, किन्तु व्यवस्था का अभाव ही है। दूसरी ओर हम हिन्दुओं के जीवन पर दृष्टि डालें। यहाँ दूसरा ही दृश्य दिखाई पड़ेगा। हमारे समाज-विधायकों ने

"अहिंसा परमो धर्मः" की घोषणा में ही तुष्टि नहीं मानी, अपितु आगे बढ़ कर यह व्यवस्था बना डाली कि "गावो अघन्य" अर्थात् गाय वध के योग्य नहीं है। या यूं कहें कि गाय का वध न हो। व्यवस्था की अवहेलना पर दण्ड का विधान किया। आज भी यदि किसी हिन्दू के हाथ से गोवंश की हत्या हो जाती है, तो उसे "हत्यारी" लगती है और उसे पाँच या छः महीने गाव के बाहर निवास करना पड़ता है तथा भिक्षा माँगते समय यह कहता है कि "मुझे हत्यारी लगी है"— इस प्रकार अपने पाप को सबके सामने बता बता कर प्रायश्चित्त करता है। नियम है कि पाप को कहने से पाप क्षीण होता है। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यह व्यवस्था गाय के ही बारे में क्यों हुई ? तो इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि गाय हमारे आर्थिक और आध्यात्मिक जीवन का स्तम्भ है। अतः हमारे पूर्वजों ने यह व्यवस्था की जिसका निश्चित परिणाम हमारे समाज पर पड़ा। हिन्दू समाज जैसा सहिष्णु कोई दूसरा समाज नहीं है। हिन्दू जैसा दयालु हृदय मिलना दुर्लभ है। इस संस्कार के प्रत्यक्ष परिणाम महावीर, बुद्ध, अशोक और गाँधी आदि हैं। अतः "गावो अघन्यः' की व्यवस्था और व्यवहार ने हिन्दू को उदार, दयालु और सहिष्णु बनाया। यदि हम अपने गुणों की रक्षा और वृद्धि करना चाहते हैं, तो हमें इस व्यवस्था की रक्षा करनी होगी अर्थात् सम्पूर्ण गोवंश की हत्या पर रोक लगानी पड़ेगी और संविधान में इसकी व्यवस्था करनी होगी। यह माँग साम्प्रदायिक न होकर शुद्ध राष्ट्रीय और धार्मिक है।

कुछ लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि ऐसी व्यवस्था मुसलमानों की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचायेगी। विचार करने पर ढोल में पोल के समान यह तर्क निरर्थक सिद्ध होगा। मुसलमानों के धर्मग्रन्थ, कुरान शरीफ, हदीस, शरा आदि में यह कहीं भी नहीं लिखा है कि गोवध करना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि जहाँ से इसलाम का प्रचार शुरू हुआ, उस अरब देश में ऊँट और भेंड़ ही "जबह करने के लिये मिल सकते हैं, गाय तो वहाँ जल्दी मिलेगी नहीं। अतः गोवध मुसलमानों का कोई धार्मिक कृत्य नहीं है।

हजार वर्षों से गोवध चल रहा है; जिसका हिन्दू समाज ने निरन्तर विरोध किया है और अपूर्व बलिदान भी किया। अपने मान सम्मान, सभ्यता, संस्कृति और धर्म की रक्षा की दृष्टि से गोवध बन्द कराना हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। यह राष्ट्र के माथे पर कलंक का टीका है, जो शीघ्रातिशीघ्र मिटना चाहिये।

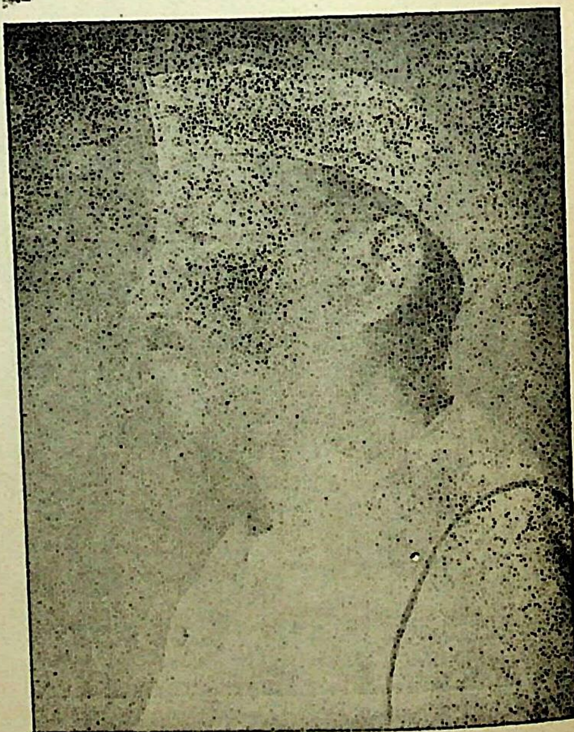


स्वतंत्रता-संग्राम के वीर सेनानी

डा० श्री रामाशीष ठाकुर

प्रो० विश्वेश्वर प्रसाद सिंह, एम० ए०
[अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग]

स्वतंत्रता–संग्राम की बलिवेदी पर अनगिनत देश भक्तों के बलिदान के पश्चात् हमारा भारत स्वतंत्र हुआ। देश के इन दीवानों के बलिदान के कारण ही आज हम एक स्वतंत्र देश के नागरिक के रूप में विश्व में सम्मानित हो रहे हैं। मुल्क का यह दुर्भाग्य है कि हम उन बलिदानियों में से अनेक को भूलते जा रहे हैं, जिन्होंने अन्तिम साँस तक आजादी की लड़ाई लड़ी। अभी भी हमारे देश के अनेक स्वतंत्रता-सेनानी कष्टपूर्ण स्थिति में अपने जीवन की अन्तिम साँसें गिन रहे हैं। क्या वीर सावरकर, बटुकेश्वर दत्त, योगेन्द्र शुक्ल आदि के प्रति देश अपने कर्तव्यों का पालन कर रहा है? स्वतंत्रता-संग्राम के एक ऐसे ही वीर सेनानी डा० रामशीष ठाकुर के बलिदानपूर्ण जीवन की एक झाँकी आज हम आपके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं।



डा० रामाशीष ठाकुर

प्रारंभिक जीवन

डा० रामाशीष ठाकुर का जन्म सन् १९०५ ई० में दरभंगा जिले के समस्तीपुर अनुमंडल स्थित धर्मागतपुर बथुआ ग्राम में हुआ। आपके पिता स्वर्गीय श्री उदित ठाकुर ग्राम के एक मध्यम वर्गीय किसान थे, इसलिए आपकी प्रारंभिक शिक्षा ग्रामीण विद्यालय में ही हुई। प्रारंभिक शिक्षोपरान्त समस्तीपुर के किंग एडवर्ड स्कूल में आपका नाम लिखाया गया, जहाँ से आपने प्रवेशिका परीक्षा पास की। तत्पश्चात आप कलकत्ते के चितरंजन नेशनल कालेज में दाखिल हुए और वहां से १९२७ ई० में एल० एम० एस० की

डिग्री प्राप्त की। अब आप रामाशीष ठाकुर से डाक्टर ठाकुर बन गये। मध्यवर्गीय परिवार के सदस्य होने के कारण रोजी-रोटी का प्रश्न सामने था ही, अतएव १९२८ ई० की विजयादशमी के दिन डाक्टरी पेशा करने के लिए आप सीतामढ़ी पधारे, जो सदा आपका कार्यक्षेत्र बना रहा।

स्वतंत्रता संग्राम में

चिकित्सा-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान सेवा भावना, सहृदयता, कर्मठता आदि सद्गुणों से युक्त होने के कारण कुछ ही समय में आप सीतामढ़ी अनुमंडल में अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। किन्तु आपकी डाक्टरी पेशा के चमकने के साथ ही गाँधी की आँधी चली और आप सूट-बूट जलाकर स्वतंत्रता-संग्राम के मैदान में कूद पड़े। विद्यार्थी जीवन से ही आपके दिल में देश भक्ति की जो आग सुलग रही थी, वह गाँधी की आँधी में प्रज्वलित हो गई। इसके बाद तो जेल ही आपका घर हो गया। आपही के शब्दों में,—"सन् १९३० के नमक सत्याग्रह में वहाँ (सीतामढ़ी अनुमंडल) के नेता स्व० ठाकुर रामनन्दन सिंह की गिरफ्तारी के बाद मैं सीतामढ़ी सबडिवीजन का डिक्टेटर मनोनीत हुआ और शीघ्र ही गिरफ्तार होकर नौ महीने के लिए जेल भेजा गया। जेल से छूटने पर कुछ ही दिनों के बाद पुनः जेल गया, पर गाँधी इरविन समझौते के अनुसार अवधि के पूर्व ही छोड़ दिया गया और १९३२ की जनवरी से १९३३ के जून तक मेरा जीवन पूर्णतः सत्याग्रह आन्दोलन में ही बीता। इस अवधि में मुझे दो बार छः छः महीनों के लिए जेल जाना पड़ा। जुर्माना नहीं अदा होने के कारण मेरे घर पर की चल सम्पत्ति का कुछ अंश नीलाम कर दिया गया।...... १९४० ई० में मैं सीतामढ़ी लोकल बोर्ड का चेयरमैन चुना गया। इस पद पर दस ही महीने रह पाया था कि कांग्रेस की पुकार पर मैं इस्तीफा देकर व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन में शरीक हो गया और एक साल के लिए जेल भेजा गया। जेल से छूटते ही मैंने अपना सारा समय आजादी की अन्तिम लड़ाई की तैयारी में लगा दिया। फलस्वरूप ज्योंही बम्बई ऑल इन्डिया कांग्रेस कमिटी ने 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पास किया और गाँधी जी ने 'करो या मरो' की पुकार दी, मैं ९ अगस्त १९४२ को ही पकड़ लिया गया और १९४५ तक जेल में नजरबन्द रहा। फिर चार महीने अपने गांव में नजरबन्द रहने के बाद छोड़ा गया।"

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में सन् १९३० से १९४५ ई० की अवधि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन पन्द्रह वर्षों में आजादी के सैनिकों ने अंग्रेजी सरकार पर जबर्दस्त हमले करके उसकी तानाशाही हुकूमत की जड़ें हिला दी। फिर स्वतंत्रता-संग्राम के निर्भीक सेनानी डा० रामाशीष ठाकुर पीछे कैसे रहते? उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि डाक्टर साहेब इन १५ वर्षों में या तो आजादी की लड़ाई के मैदान में संघर्षरत रहे या अंग्रेजी सरकार के कारागार में कैद। इस प्रकार हम डाक्टर साहेब को स्वतंत्रता-संग्राम के एक कर्मठ तथा निर्भीक योद्धा के रूप में पाते हैं।

सामाजिक सेवा-क्षेत्र

डाक्टर साहेब आजादी की लड़ाई में रत रहते हुए भी सामाजिक सेवा का कार्य पूरी कर्मठता तथा तत्परता से करते रहे। १९३४ ई० के भयंकर भूकम्प के पीड़ितों की सहायता में आप अग्रणी रहे। सीतामढ़ी अनुमंडल में भूकम्प की विनाश लीला अपनी सीमा पर पहुँच गई थी। आपने रात दिन

एक करके सात महीनों तक गांव-गांव घूम कर भूकम्प पीड़ितों की सराहनीय सेवा की। इस अभियान में आपको देश रत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद और महान् साहित्यकार श्री राहुल सांकृत्यायन आदि जैसे राष्ट्र के प्रमुख व्यक्तियों के साथ भी सेवा कार्य करने के सुअवसर प्राप्त हुए। उन्हीं के शब्दों में,—"१९३४ की जनवरी में जब भूकम्प हुआ, तो बिहार केन्द्रीय सहायता समिति (जिसने राजेन्द्र बाबू की अध्यक्षता में उस समय बिहार की अनुपम सेवा की थी) के एक प्रमुख कार्यकर्त्ता के रूप में मैंने भूकम्प पीड़ितों की सेवा में सात महीनों तक अपना समय दिया।"

राहुल जी के सम्बन्ध में डाक्टर साहब लिखते हैं—"राहुल जी से मेरा व्यक्तिगत परिचय १९३४ के प्रारंभ में हुआ। वे भूकम्प के कुछ ही दिनों के बाद पीड़ितों की दशा देखने सीतामढ़ी पधारे। यातायात के मार्ग में रेलवे लाइन और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़कें छिन्न-भिन्न हो चुकी थीं। इसलिए वे पैदल आये। मुजफ्फरपुर में ही लोगों ने मुझ से मिलने की सलाह दी थी। उन्होंने मुझसे मुलाकात की और आगे की पैदल यात्रा में पुपरी तक मैं उनके साथ गया। पुपरी के रास्ते में छः मील दूर हरपुरवा गाँव है। वहाँ पहुचने पर लगभग १२ बजने को ही थे कि राहुल जी ने कहा कि मैं दो पहर के पहले ही भोजन कर लिया करता हूं। भोजन सामग्री साथ थी। एक कुएँ पर बैठकर हमलोगों ने भोजन किये। प्रथम परिचय में ही उनकी आत्मीयता से मालूम पड़ता था, मानों हमलोग बहुत दिनों से परिचित हैं।"

आपने एक डाक्टर के रूप में लोगों की उल्लेखनीय सेवाएँ की। किसी गांव में एक रोगी के बुलाने पर जाते तो सारे गांव के रोगियों को देखते। किसी से फीस मांगते नहीं, जो मिला वही ले लिया। यदि कुछ नहीं मिला तो कोई बात नहीं। जो भोजन करने का आग्रह करता, उसके यहाँ भोजन कर लेते, अमीर-गरीब का कोई विचार नहीं। भूकम्प के बाद तो आपने सीतामढ़ी अनुमंडल के रोगियों की आश्चर्यजनक सेवाएँ की। उस समय उत्तर बिहार में खासकर सीतामढ़ी में मलेरिया, हैजा और कालाजार आदि का भीषण प्रकोप था और हजारों लोग उन रोगों के कारण मरे भी थे। आपने गाँव-गाँव घूमकर आंकड़े संग्रह किये तथा समाचार पत्रों में अपने वक्तव्य छपवाये। फलस्वरूप सरकार की आँखें खुलीं और अथरी ग्राम में एक मलेरियाकेन्द्र खोलकर बीमारी के उपचार एवं उसकी रोक थाम की व्यवस्था की गई। इसी प्रकार उस समय अनुमंडल में सर्वत्र हैजे का भी काफी प्रकोप रहता था और जनता के बीच हैजे के सम्बन्ध में बहुत अंधविश्वास फैला था। इसे लोग देवी का प्रकोप समझकर उसकी रोकथाम के कोई उपाय न कर देवी-देवताओं को ही प्रसन्न रखना चाहते थे। डाक्टर साहेब ने पूरे अनुमंडल का दौरा कर लोगों के भीतर विद्यमान वैसे अन्धविश्वास को दूर किया तथा हैजा निरोधक सुई लेने के लिए ग्रामीणों को राजी किया।

किसान आन्दोलन एवं अन्य रचनात्मक कार्य

किसान परिवार में जन्म लेने तथा पलने के कारण डाक्टर साहेब की किसानों एवं मजदूरों के प्रति अपरिमित सहानुभूति थी और उन शोषित वर्गों के ऊपर जमींदारी अत्याचारों के प्रति भी उनका ध्यान जाना स्वाभाविक था। अतएव स्वामी सहजानन्द सरस्वती के नेतृत्व में किसान आन्दोलन को सफल बनाने में उन्होंने अपना पूर्ण योगदान दिया। उक्त आन्दोलन के चलाने में सुतिहारा ग्राम वासी राजदेव

बाबू उनके परम सहयोगी रहे। डाक्टर साहेब यद्यपि पिछले दिनों काफी अस्वस्थ रहे, फिर भी भूदान के पुरोहित आचार्य विनोबाजी के आह्वान पर आपने सम्पूर्ण अनुमंडल का दौरा कर भूदान कार्य को आगे बढ़ाने में भी अपना सक्रिय सहयोग दिया।

डाक्टर साहेब दो बार बिहार विधान सभा के सदस्य चुने गये। प्रथमबार १९३६ में एक भूतपूर्व बड़े जमींदार को हराकर आप कांग्रेस टिकट पर प्रबल बहुमत से विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए तथा दूसरी बार १०४७-५१ तक भी विधान सभा के सदस्य रहे। विधान सभासद के रूप में आपने जमींदारी उन्मूलन करने तथा अन्य भू-सुधार आदि कार्यों में सरकार के हाथ को मजबूत किया। डाक्टर साहेब सदा से गरीबों, दलितों, असहायों एवं उपेक्षितों के प्राण रहे हैं। कुछ दिनों पूर्व जब वे रुग्णावस्था में पटना मेडिकल कॉलेज के राजेन्द्र सर्जिकल ब्लाक में शय्या पर पड़े थे तो इस पंक्ति के लेखक को वहाँ उनके दर्शन का कई बार अवसर मिला। उस अवसर पर मैंने देखा कि बिछावन पर पड़े-पड़े ही डाक्टर साहेब न सिर्फ उस कमरे के ही बल्कि पूरे वार्ड के रोगियों का हालचाल पूछते रहते थे। और डाक्टरों से कहकर उन सबों के उचित उपचार के प्रबन्ध करवाते थे। परोपकार की भावना तो मानों डाक्टर साहेब में कूट-कूट कर भरी है और वहाँ ऐसा लगता था कि आप ही सभी मरीजों के अभिभावक सह चिकित्सक हैं।

शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक जागरण के अग्रदूत डाक्टर साहेब को प्रारम्भ से ही ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं के अध्ययन की काफी अभिरूचि रही है। आप कुशल वक्ता के अतिरिक्त हिन्दी तथा अंगरेजी के सिद्धहस्त लेखक भी हैं। इतना ही नहीं, बंगला तथा उर्दू की भी आपको पूरी जानकारी है। आपकी प्रेरणा से सीतामढी अनुमण्डल के भीतर कितने पुस्तकालयों एवं अनेक शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापनाएँ हुई। सीतामढी नगर में स्थित राजकीय सनातन धर्म पुस्तकालय का जो आज विकसित रूप है, वह आपके ही परिश्रम एवं सेवा का फल है। डाक्टर साहेब लगातार बीस वर्षों तक उस पुस्तकालय के सहायक मन्त्री एवं मन्त्री के पदों पर रहे। आपके ही प्रयास से १९५० ई० में उस पुस्तकालय की रजत जयंती मनाई गयी और उस अवसर पर कविवर श्री दिनकर द्वारा सम्पादित रजत जयंती स्मारक ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ। डाक्टर साहेब जब तक सीतामढ़ी में रहे, तब तक किसी न किसी महापुरुष एवं सन्तों आदि की जयंतियाँ अवश्य मनाई जाती थीं और विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक कार्य क्रमों के भी सफल आयोजन होते रहते थे। इतना ही नहीं, पुस्तकालय आन्दोलन में जान लाने हेतु आपके ही प्रयास से गया में प्रथम बिहार प्रान्तीय पुस्तकालय सम्मेलन का भी आयोजन किया गया था और अब तो वह संस्था पूर्ण सुसंगठित हो चुकी है। डाक्टर साहेब सदा से ही शिक्षकों एवं दीन-हीन छात्रों के बन्धु रहे हैं। जब वे सीतामढ़ी लोकल बोर्ड के चेयरमैन थे, तो उन्होंने देखा कि शिक्षकों को वेतन पाने में काफी कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। डाक्टर साहेब से नहीं रहा गया और आपने एक निश्चित कार्यक्रम बनाकर साइकिल पर सवार होकर और घूम-घूमकर शिक्षकों के बीच वेतन बाँटने का काम शुरू कर दिया। इससे लाभ यह हुआ कि शिक्षकों को सुविधानुसार वेतन भी मिलने लगे तथा उन्हें वेतन लेने वक्त कार्यालय के कर्मचारियों को जो चढ़ौआ चढ़ाना (भ्रष्टाचार) पड़ता था, वह भी रुक गया। गरीब

छात्रों की तो आपके यहाँ बराबर भीड़ लगी रहती थी और किसी-न-किसी रूप में आप उन सबों की सहायता अवश्य कर दिया करते थे।

सीतामढ़ी का जिले के भीतर प्रमुख स्थान रहते हुए भी यहाँ कालेज का अभाव था। शिक्षाप्रेमी होने के कारण डाक्टर साहेब से यह नहीं देखा गया। उन्होंने नगर के एक प्रसिद्ध व्यापारी श्री कमला प्रसाद गोयनका जी को उनके पिता की स्मृति में एक कॉलेज खोलने की परामर्श दी। प्रारंभ में पैसे तो श्री गोयनका ने खर्च किये किन्तु कॉलेज खोलने से सम्बन्धित संगठनात्मक कार्यों का भार डाक्टर साहेब पर आ पड़ा कालेज की स्थापना की गई तथा १९४८ में विहार केसरी डा० श्री कृष्ण सिंह के कर कमलों के द्वारा उसकी नींव रखी गई। कालेज का आज जो तेरह एकड़ का हाता है, वह डाक्टर साहेब के श्रम का ही फल है। उस भूमि पर पहले सरकारी कचहरी तथा जेल था, किन्तु भूकम्प के कारण सभी मकान ध्वस्त हो गये। डाक्टर साहेब ने काफी दौड़-धूपकर उस जमीन को सरकार से लेकर कालेज को दिलवाने में सफल प्रयत्न किये। कॉलेज की स्थापना के कुछ वर्षोंपरान्त श्री गोयनका ने उसके व्ययभार को संभालने में अपनी असमर्थता प्रकट की और तब उसका पूरा भार डाक्टर साहेब पर आ गया। आपने सर्वत्र पैदल घूम-घूमकर कॉलेज के लिए चंदा करने का अभियान चलाया तथा बूंद-बूंद से घट भरे की उक्ति को चरितार्थ करते हुए करीब एक लाख नगद रुपये उस मद में जमा किये। चंदा करने के दौरान डाक्टर साहेब को दिन-रात अथक परिश्रम करना पड़ा, जिसे उनका भौतिक शरीर बर्दाश्त नहीं कर सका और फलतः वे बीमार पड़ गये तथा अभी तक पूर्ण स्वास्थ्य लाभ नहीं प्राप्त कर सके है। आप कई वर्षों तक इस कालेज के मंत्री रहे और आपके मंत्रित्व काल में ही कॉलेज की नीव इतनी मजबूत हो गई, जिसका विकसित रूप हमें आज देखने को मिल रहा है। अनिश्चित काल तक अस्वस्थ होने के कारण आप किसी पद से चिपके रहना नहीं चाहते थे। परिणाम स्वरूप आपने कालेज शासीनिकाय के मंत्रित्व एवं सदस्यता दोनों से अपना त्यागपत्र दे दिया। आपने शासी-निकाय निर्वाचन क्षेत्र से विहार विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य होकर भी उसकी अमूल्य सेवा की तथा लगातार छः वर्षों तक आप उसके सदस्य रहे।

वह व्यक्ति ही आज नेता माना जाता है, जो अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए सदा गिरगिट की तरह रंग बदलता रहता है। किन्तु डाक्टर साहेब अपने जीवन के उषाकाल से ही कांग्रेस के ईमानदार सिपाही बने रहे। आप राजनीति में थे, किन्तु देश में व्याप्त आज की 'राजनीति' से कोसों दूर रहे तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कभी भी आपने छल-प्रपंच एवं दाव-पेंच आदि का सहारा नहीं लिया। यहाँ यह कहना शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी कि स्वर्गीय श्री ठाकुर रामनन्दन सिंह के आकस्मिक निधन से तथा डाक्टर साहेब के सार्वजनिक जीवन से विरत होने के कारण सम्पूर्ण अनुमंडल नेतृत्व विहीन-सा हो गया है।

आज तो उसी व्यक्ति की पूजा होती है, उसी की जयंती एवं वर्षगांठ मनाई जाती हैं, जो येनकेन प्रकारेण सत्ता को हस्तगत कर शक्तिशाली एवं प्रभावशाली बन बैठा है और दूसरी ओर अपने सम्पूर्ण जीवन के कण-कण को राष्ट्र हित के लिए आहुति देने वाले उन देश-भक्तों के प्रति उचित सत्कार एवं सम्मान दर्शाने का भी इन शासन-प्रेमियों को अवकाश नहीं मिल पाता है। अतएव हमारा यह पुनीत कर्त्तव्य होता है कि हम वैसे वीर सपूतों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का पता लगाकर उन्हें प्रकाश में लावें और उनके पद-चिन्हों पर चलने का प्रयास करें।

शिल्प और कला

प्रो० मदन मोहन प्रसाद वर्मा 'पूर्णेन्दु', एम० ए०, रि० स्का०
[हिन्दी-विभाग]

शिल्प की आन्तरिक परिभाषा के संबंध में प्रश्न अभी भी हैं। कुछ चिन्तकों की दृष्टि में शिल्प साधारण प्रभाव या अभिव्यक्ति से पृथक् है, कुछ की दृष्टि में यह कला की संपूर्णता का व्यापक सिद्धान्त है। प्रथम विचार यान्त्रिक शिल्प कहा जा सकता है, दूसरा शिल्पगत सिद्धान्त माना जा सकता है।

यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार का विवाद सौन्दर्यशास्त्र का विषय है। अन्तर यह है कि सौन्दर्यशास्त्र मानवीय सौन्दर्य-धारणा का आध्यात्मिक विवाद है और शिल्प-सिद्धान्त कलाकृति में सौन्दर्य या मानवीय रुचि उपलब्ध करने का प्रयत्न है। एक दर्शन है, दूसरा व्यावहारिक विज्ञान है, जिसका आधार निरीक्षण और तर्क है। एक का संबंध परिणामगत विवाद से है, दूसरा अव्याख्येय परिणामों की उपलब्धियों से सम्बद्ध है। सौन्दर्य-सृजन में मनुष्य की रुचि को किस माध्यम से प्रभावित करे, दूसरा विश्लेषण विशेष सीमा तक आधुनिक विज्ञान ने किया है। हेनरी बर्गसाँ ने आधुनिक मनोविज्ञान के सहारे प्राचीन दार्शनिक नकारात्मक धारणाओं पर सफल प्रहार किया है।

इस प्रकार अनेक दार्शनिक सौन्दर्यिक धारणाएँ इस पद्धति से ध्वस्त हुईं। आधुनिक कलाकार के लिए शरीर-रचना-शास्त्र (anatomy) के नियमों का ज्ञान ही अनिवार्य नहीं है, वरन् प्रकाश-तरंगों या अन्य अनेक रंगों द्वारा उत्पन्न मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं तथा अपनी रंगसाजी की रासायनिक क्रियाओं और कैमरा व चलचित्रों द्वारा उत्पन्न गतियों का विश्लेषण जानना भी अनिवार्य है। आधुनिक वैज्ञानिक विकास के विभिन्न पहलुओं के साथ तादात्म्य रखना भी आवश्यक है। फलतः कलाकार की यह प्राचीन धारणा मिटती जा रही है कि संवेदनशील कलाकार ऐसा प्राणी है, जो अपनी अंतर्ध्वनियों के सहारे जीवन जीता है जो प्रायः दिव्य-ज्योति से परिचालित है और अनुयायियों के लिए अदृश्य सपनों का संकेत दिया करता है। आज का कलाकार वैज्ञानिक की भाँति दुःसह प्रक्रियाओं से गुजरकर तर्कपूर्ण प्रत्यक्षीकरण का कलाकार है। अवचेतन के माध्यम ने अंतर्ध्वनियों की व्याख्यायें प्रस्तुत की है और आज का मनुष्य दृष्टि में विश्वास खो बैठा है जो दिव्य दृष्टि उसके पुरखों को संचालित की। करती थी, क्योंकि वह अनुभव करने लगा है कि सत्य की यह आत्मिक या तात्कालिक अनुभूति विशृंखल मृगतृष्णायें हैं जो वैज्ञानिक तर्कों के प्रकाश में सत्य या असत्य कुछ भी सिद्ध हो सकती हैं। कलाकार प्रथमतः

प्रत्येक दृष्टि से आज का मनुष्य है और अपने युग की रूचि को प्रभावित करना उसका कर्त्तव्य है। विज्ञान के चमत्कारी विकास से प्रभावित, यद्यपि आधुनिक कलाकार इस विचार के प्रति अधिक चेतनाशील है, साथ ही प्राचीन चिन्तकों ने भी ऐसे विचारों को व्यक्त किया है। ल्योनार्ड विंसी ने वास्तविक श्रम पर सदैव ध्यान दिया है।

रोबिन की दृष्टि में अध्ययन का महत्वपूर्ण स्थान कुछ भी नहीं ले सकता। जीवन के रहस्य इसी के आधार पर स्पष्ट होते हैं। टर्नर ने अपनी सफलता का आधार केवल श्रम ही बताया और टिनले के शब्दों में सफलता का रहस्य उसकी निरंतर साधना है। इस प्रकार के अनेकों उदाहरण उद्धृत किए जा सकते हैं। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि पाश्चात्य और पौर्वात्य देशों में यह धारणा व्याप्त है कि चित्रकार के लिए दस हजार से अधिक चित्रों का निर्माण आवश्यक है। जो शुद्ध कलाकार हैं, उन्होंने अपनी कला पर विचार करते समय श्रम-साधना पर जोर डाला है, किन्तु जो स्वयं कलाकर नहीं हैं, फिर भी कलाकृतियों की आलोचना में तल्लीन रहते हैं, वे इसे (कला को) ईश्वरीय देन मानते हैं। इन आलोचकों के कारण 'ईश्वर-प्रदत्त' प्रतिभा की धारणा बहुत दिनों तक बनी रही। फलतः साधना का मर्म छूट गया। इसलिये कला-शिल्प की प्रक्रियाओं पर विचार करना आवश्यक है, जिनका व्यवहार कला-सर्जन में पाया जाता है।

किसी भी कला या आविष्कार की मौलिक धारणा प्रायः उपदेशात्मक होती है। इस प्रकार की संभावना अकस्मात् ही तथ्यों के अनुसंधान के क्रम में उत्पन्न हो जाती है। मस्तिष्क उन प्रवृत्तियों को ग्रहण करता है, जिनके एकत्रित विचार अनिश्चित परिणामों की ओर संकेत करते हैं और कलाकर कल्पना के सहारे उसके संभावित निष्कर्ष के आधार पर कलाकृति को आकार देता है। टामस एडिसन ने जब विजली के तारों से शून्य में प्रकाश उत्पन्न किया होगा तो निश्चय ही ऐसी वैचारिक प्रक्रिया से गुजरा होगा और अकस्मात् की उसकी यथार्थ कल्पना ने इन प्रकाश-ग्राहक बल्वों को गलियों में प्रयुक्त करने की प्रेरणा दी होगी। विद्युत्-प्रकाश के सामान्य नियमों के निर्धारण में उसका मस्तिष्क वर्षों उलझा रहा होगा और चिन्तन के सूत्रों के सहारे उसने इस सिद्धान्त को विकसित किया होगा। चित्रकार, कलकार अथवा वैज्ञानिक का प्रथम प्रयास अत्यन्त अस्पष्ट रेखा-चित्रों में उद्भासित होता है। उसके चिन्तन-कण उसके चारों ओर घूर्णित होते रहते हैं और मस्तिष्क में सामान्य योजना के चित्र स्पष्ट होते जाते हैं। उसके पश्चात् ही उसके विस्तृत विस्तार को रेखांकित करने का प्रयत्न करता है। बाहों को इस प्रकार उठाना क्या उसकी कलाकृति में गति उत्पन्न करेगा? इस प्रकार की भुजा-भंगिमा चित्र में स्वाभाविक तो होगी? इस स्थान पर छाया का गहरा होना आवश्यक है अथवा उसे धूमिल-प्रकाश से वेष्ठित करना अधिक श्रेयस्कर होगा? किस प्रकार की सतह इस प्रकाश के प्रतिच्छायित होने के लिये आवश्यक है और इस प्रकार के अनेकानेक प्रश्न उसके मस्तिष्क में उठेंगे, जिनका समाधान तर्कपूर्ण होना अनिवार्य है। इन प्रश्नों के सामाधान-क्षणों में असंख्य अधूरी-पूरी, निरर्थक रेखायें खींचेगा, जिस प्रकार प्रयोगशाला में वैज्ञानिक प्रयोग के क्रम में करता है और तभी कलाकार अथवा चित्रकार की कलाकृति सुचिंतित और सौष्ठवपूर्ण हो पाती है।

प्रत्येक सजग कलाकार के सम्मुख अपनी कलाकृति में व्यवहृत होने वाली वस्तुओं के सम्यक् उपयोग का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। पानी मिला रंग इस प्रकार प्रयुक्त न हो कि वह तैल का भ्रम उत्पन्न करे अथवा पीतल की अभिव्यक्ति इतनी गलत न हो कि काँसा प्रतीत होने लगे। ऐसा इसलिए संभव होता है कि जिन्होंने कला के प्रति सजगता से विचार नहीं किया कि वे उपर्युक्त वस्तुओं की बेमेल सम्बद्धता को महत्त्व देने लगते हैं। इसके सम्बन्ध में एक प्रकार की विनष्टकारी आश्चर्य-भावना व्याप्त हो जाती है, जब उन वस्तुओं का वास्तविक प्रमाण नहीं मिलता, ठीक जैसे धातु-टेबुल की स्पर्श-संवेदना। किसी ने काठ की ऊष्णता का चेतन अनुभव नहीं किया होगा, यद्यपि उसका अर्द्धचेतन मन इसका अनुभव कर लेता है। इस प्रकार का आश्चर्य चाहे वह स्पर्श या दृष्टि का हो, भ्रम उत्पन्न करने वाला होता है और कला के प्रभाव को— जो कलाकृति का महत्त्वपूर्ण श्रेय होता है—विनष्ट कर देता है।

ऐसा क्यों होता है ? इसलिए कि कला की रचना प्रक्रिया में सम्बद्ध संवेदना, परिपार्श्व, माध्यम एवं एक प्रकार की चेष्टा शिल्प-विधि के आवश्यक अंग हैं। प्रकाशेच्छा, मिमिलिषा, पुपूर्षा, कला की स्वभावगत प्रवृत्तियाँ हैं और उसकी मौलिक प्रेरणायें आनन्द वेदना, सत्य, आदर्श और सौन्दर्य एक तरह से सर्वमान्य हैं। अनुभूति का पूर्णान्द जब संवेग की तरंगों में विस्तारित होने लगता है तो काठ, पत्थर, रेख-रंग वर्ण— सभी एक विशेष विधान के संकेत से मूर्त हो उठते हैं। सौन्दर्य की मूक रागिनी चित्र बनकर गाती है। दूसरे धूल कठिन प्रस्तर रेखाओं की भाषा में मुखर हो उठते हैं और वर्णों की सीमा छन्द ध्वनि, अलंकार और रस-संवेग की भंगी में गतिशील होकर जाती है। इसी तरह वेदना अनुभूति को, सत्य अस्तित्व को, आदर्श दर्शन को, सौन्दर्य आकर्षण एवं आह्लाद को माध्यम देते हैं। माध्यम का यह विधान ही कला का शिल्प कहलाता है।

चित्रकला का इतिहास उस तथ्य का साक्षी है कि शिल्प आवेगों या भाव-रस से ऊपर नहीं उठा। राजस्थानी शैली, कांगड़ा शैली, मुगल शैली, या पहाड़ी शैली के चित्र का शिल्प एक ढंग या विधान का ही द्योतक है, भाव या रस से पृथक रेखांकित होने वाला तत्व नहीं। उत्कृष्ट शिल्प आत्मविभोरता का संवाहक होता है। जहाँ शिल्प अपने इस स्वाभाविक स्तर को छोड़ता है, वहाँ वह एक अर्थ हीन विन्यास का नियप्राण प्रयास बन कर रह जाता है। कर्तृत्व कल्पना, अनुभूति ही शिल्पत्व के आधार हैं। 'शिल्प' शब्द उत्पत्ति की दृष्टि से शिला से सम्बन्धित है— अनगढ़ बेडौल वस्तु कलाकार की कल्पना, अनुभूति एवं कर्तृत्व के सहारे कट-छट कर एक विशेष अर्थ भंगी की प्रतिमा बन जाती है। यह स्पष्ट करना व्यर्थ है कि शिल्प भावबोध को आकार देने का ही प्रयत्न है। चित्र, मूर्ति और वास्तुकलायें शिल्पगत आकार के कारण ही कृतियों को अपने में समेटने की क्षमता पाती हैं। काव्य और संगीत के शिल्पगत उपकरण वर्ग, शब्द, अप्रस्तुत, उक्ति, चित्रण, सुर, आलाप, मूर्च्छना आदि हैं। कवि और संगीतकार इन उपकरणों का उपयोग कविता अथवा संगीत को अधिक से अधिक मूर्त एवं प्रेषणीय बनाने के हेतु ही करता है। इन उपकरणों के प्रयोग में जब भी एकउनिष्ठता आयी है, ललित कलायें जीवन से दूर, मर्म से दूर, रसाभिव्यक्ति से दूर जाकर, चमत्कार-प्रदर्शन भर रह गयी हैं।

सारांश यह कि काव्य, चित्र, संगीत तथा अन्य शिल्पों का अपने अपने उपकरणों के आधार पर,

अपना अपना शिल्प होता है जिसका प्रयोजन रसानन्द की सृष्टि है। कांट-छांट कारीगरी के द्वारा कलाओं में अपेक्षित रस-दशा का बोध कराना ही शिल्प का कार्य-व्यापार है। अतः कह सकते हैं कि ध्वनि माधुर्य अभिप्राय, अर्थ, स्थिति, गति और लय को सहेजने-वाला, उन्हें निश्चत रूप देने वाला माध्यम-विधान ही शिल्प है।

[आधारः सौंदर्य-शास्त्र, भारतीय शिल्प शास्त्र, औक्सफोड डिक्सनरी]

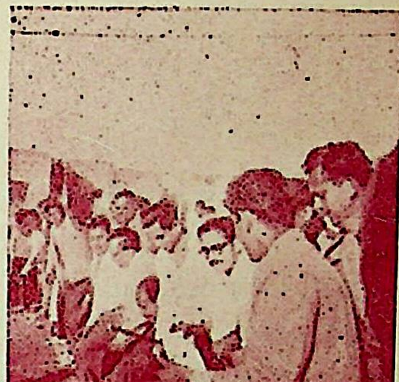
एस्थेटिक्स ऐज साइन्स आफ एक्सप्रेसन)

हर चीज में संगीत

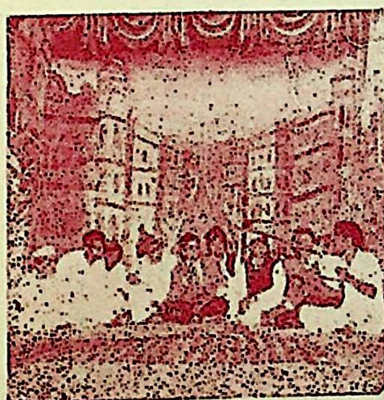
एक जन्मजात गायक के लिये हर चीज में संगीत है। हर चीज—जिसमें कम्पन है, गति है, हिलडुल है, धड़कन है! गरमी के चहकते दिन, हवा में शोर मचाती रातें, चिनगारी की चटख, तारों की झुक-झुक, पंछियों का कलरव, कीड़ों की रुन-झुन, पेड़ों के मर्मर, प्यारी या थकानेवाली गुम-सुम अँगीठी के नजदीक की चुलबुलें किवाड़ की खट-खट या रात की निस्तब्धता में शिराओं में दौड़नेवाली रक्तधारा-हर चीज में गीत-ही-संगीत है। हाँ, उसे सुनने के लिए कान चाहिये।

—रोम्याँ रोलाँ

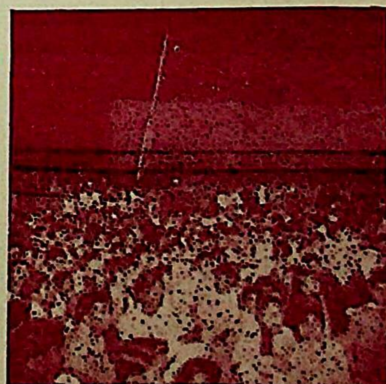




वार्षिक क्रीडोत्सव के अवसर पर स्टाफ रेस की तैयारी



'सरगम' परिषद के सांस्कृतिक कार्यक्रम का एक दृश्य।



'सरगम' परिषद के सांस्कृतिक कार्यक्रम में दर्शकों की एक झलक

तुलसी की भक्ति भावना

प्रो० रामपदारथ सिंह
[गणित-विभाग]

तुलसी की भक्ति राम-भक्ति है। उनके आराध्य हैं मर्यादा पुरुषोत्तम राम। इन्होंने राम को साकार रुप में ग्रहण किया। उनका राम चरित मानस भक्ति काव्य है। उनकी भक्ति के अवलंब हैं राम। जिनके रुप और गुण की कथा-कहानी ही तुलसी का एकमात्र मन्तव्य है। भक्ति ही भगवान के निकट पहुँचाने का एकमात्र सोपान है। यही कारण है कि तुलसी ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को महत्व दिया। राम की भक्ति में वह अपने जीवन का, अपनी साधना का उत्कर्ष समझते थे।

तुलसी दास मध्य युग के भक्त थे। इस युग के भक्तों का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ भागवत पुराण था, परन्तु अन्यान्य पुराणों को भी उन्होंने प्रमाण रूप से स्वीकार किया था। भागवत पुराण के अनुसार तुलसी के राम, स्वयं भगवान का रूप हैं। उन्होंने धर्म की हानि और राक्षसों की वृद्धि के कारण संसार-पीड़ा को दूर करने के लिए मनुज रूप में अवतार लिया है। तुलसी दास ब्रह्म के दो रूप मानते हैं—निर्गुण और सगुण। उनकी सम्मति में निर्गुण रुप की अपेक्षा सगुण रुप दुर्लभ है। वह कहते हैं :—

"निर्गुण रुप सुलभ अति, सगुण जान नहिं कोई"।

तुलसी दास ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रुप में कोई भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि जो भगवान निर्गुण हैं, वही भक्त के प्रेम वश सगुण रुप धारण करते हैं। भगवान के वास्तविक रूप को समझने के लिये उनके दोनों रुपों की उपासना आवश्यक है। इस प्रकार उन्होंने अपनी भक्ति में दोनों रूपों का महत्व दिखाया। सगुण उपासना को लोक धर्म के अनुकूल बताया है।

वह कहते हैं—

"अगुनहि, सगुनहिं नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि, पुरान, बुध, वेदा॥
अगुन, अरुप, अलख, अज जोई।
भगत-प्रेम-वस सगुण सो होई॥"

× × ×

भगवान के इन दोनों रूपों की उपासना के दो मार्ग हैं—ज्ञान और भक्ति। तुलसी की सम्मति में ज्ञान मार्ग कृपाण की धारा है। उस पर से गिरते देर नहीं लगती। उसे यदि किसी प्रकार पार किया जा सके तो निश्चय ही कैवल्य पद प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु भक्ति मार्ग का अनुसरण करने से वह कैवल्य पद बिना इच्छा के प्राप्त हो जाता है। यह भक्ति भगवान की कृपा से प्राप्त होती है। अब प्रश्न यह है कि भगवान की कृपा किस प्रकार प्राप्त की जाय? इसके लिये दो उपायों का विधान है—वैधी भक्ति और रागात्मक भक्ति। कर्त्तव्य-बुद्धि

से जो नियम स्थिर किये जाते हैं और उन नियमों के अनुसार जो उपासना की जाती है उसे वैधी भक्ति कहते हैं। इसके पाँच अंग होते हैं—१. उपासक, २. उपास्य, ३. पूजा द्रव्य, ४. पूजाविधि और ५. मंत्र-जप, मंद श्रद्धा वालों के लिये इस प्रकार की भक्ति अत्यन्त उपयुक्त होती है। दूसरे प्रकार की भक्ति है—रागात्मक। स्वाभाविक रूप से जब भगवान के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है तब वही भक्ति रागात्मक भक्ति कहलाती है।

वधी भक्ति का चरम लक्ष्य रागात्मक भक्ति ही है। रागात्मक और वैधी भक्ति के साधक शरीर, मन, आत्मा, प्रकृति और समाजगत अनुशीलनों के द्वारा भगवान का भजन करते हैं पर भक्त के हृदय में रागात्मक वृत्ति का उदय क्रमानुसार—१. श्रद्धा, २. साधु-संग, ३. भजन-क्रिया, ४. अनर्थ निवृति, ५. निष्ठा, ६. रुचि, ७. आसक्ति, ८. भाव, ९. प्रेम द्वारा होता है। प्रेमोदय होने पर भक्तों में पाँच प्रकार के स्वभाव हो सकते हैं—१. शान्त, २. दास्य, ३. सख्य, ४. वात्सल्य और ५. मधुर। भक्ति की इस व्याख्यानुसार तुलसी दास की भक्ति रागात्मक है और दास्य स्वभाव से उन्होंने राम की भक्ति की है। उनका कहना है कि सेवक-सेव्य भावविना संसार तरना असंभव है।

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।"

उत्तर कांड में राम कहते हैं—

"पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहिं पाहीं।
मोहि सेवक समप्रिय कोउ नाहीं।"

महात्मा तुलसीदास के इस दृष्टिकोण ने उनके राम-परक साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया है। दास्य भाव में ऐश्वर्य-बोध का होना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव भक्त को भगवान के तीन रूपों पर अधिक जोर देना पड़ता है। भगवान के ये तीन रूप हैं— १. क्षमावान रूप, २. शरणागत-वत्सल रूप और ३. करुणायतन रूप। इन रूपों के द्वारा भगवान बड़े से बड़े पातकों को क्षमा कर देते हैं। उनकी शरण में जाने पर भक्त कृत-कृत्य हो जाता है और उसके सभी परिताप नष्ट हो जाते हैं। तुलसीदास ने भगवान को इन तीनों रूपों का बार-बार उल्लेख किया है।

राम भक्ति के लिए किसी प्रकार के कर्मकाण्ड की योजना अपेक्षित नहीं। भगवान केवल प्रीति चाहते हैं—

"बलि पूजा चाहत नहीं चाहै एकै प्रीति।"

इसके अतिरिक्त तुलसी ने भक्ति के साधन भी बतलाए हैं; वे हैं— १. भजन (नाम स्मरण), २. शरणागत भाव, ३. चरित्र श्रवण, मनन, कीर्त्तन (यशगान), ४. सत्संग, ५- संतस्वभाव प्राप्ति का प्रयत्न, ६. राम के स्वरूप का ध्यान, ७. राम से सम्बन्धित गंगा, चित्रकूट आदि तीर्थों का सेवन, ८. ब्राह्मण सेवा, ९. शिवभक्ति, १०. हनुमान भक्ति।

तुलसी की भक्ति भावना में 'विनय' भक्ति की सातों भूमिकायें, दीनता, मानमर्षता, भय दर्शाना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य, विचारण आदि का समन्वय पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी की भक्ति-पद्धति, सांसारिक विषय-वासना से मुक्त कराती है और ईश्वर के निकट पहुँचाती है। वास्तव में तुलसी की भक्ति सर्व-सुलभ एवं सर्वाङ्ग पूर्ण है। इसलिए तो तुलसी की भक्ति की वेगमती धारा अनंत छोटी-मोटी विरल धाराओं के संयोग से इतनी सलिलवती हुई, जिसे पूरा राष्ट्रीय जातीय-जीवन प्लावित हुआ।

तुलसी की भक्ति भावना श्रुति-सम्मत भी है। भक्ति की जो परम्परागत भावना वेदों, उपनिषदों, पुराणों और अन्य धार्मिक ग्रन्थों द्वारा पूर्ण परिमार्जित प्रस्फुटित और संवर्द्धित होती आ रही थी। वही तुलसी की हृदय-भूमि का स्पर्श पाकर और अधिक स्पष्ट और प्रशस्त हो सकी।

इनकी भक्ति साधना में ज्ञान का अंश विशेषकर निगम-साहित्य से, ब्रह्माचार का अंश विशेषकर आगम-साहित्य से और भाव का अंश विशेषकर पुराण-साहित्य तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों से लिया गया है। इसलिए मानस के प्रारम्भ में ही इन्होंने "नाना पुराण निगमागम सम्मतं यत् रामयखे निगदितं क्वचिद-न्यतोऽपि।" की बातें कही हैं। इनकी श्रुति-सम्मत भक्ति-भावना की विशेषता में निम्नांकित बातें कही जा सकती हैं।—१. श्रुति अधिकांशतः आप्त वाक्य हैं। ऐसे त्यागियों, तपस्वियों और धर्मात्माओं की बातें ,हैं जिन्होंने सारा जीवन ही इन्हीं तत्वों की चिन्तना में बिताया है और जिनका उन्होंने न केवल ज्ञान ही पाया है बल्कि अनुभूति भी की है।

२. उनकी दूसरी विशेषता भी है। भारतीयों के लिए वही भक्ति-पथ मान्य होगा जिसका सम्बन्ध प्राचीन आर्य-संस्कृति और भाषा से है। तुलसी की श्रुति-सम्मत भावना ऐसे ही स्वरुप को सामने रखती है, क्योंकि आर्य-भावना आर्य संस्कृति और आर्य-भाषा का प्राचीनतम कोष ही "आगम-निगम पुराण" हैं। जो धर्म अपनी संस्कृति और आर्य भाषा से अलग होकर फूलता-फलता है वह अपने देशवासियों की नसों में आनन्द, उत्साह और प्रेरणा का संचार नहीं कर पाता। हमें देखने को मिलता है कि तुलसी की भक्ति-मणि से माया पर वश-संतप्त प्राणियों को मुक्ति का मार्ग मिला, मन प्रांगण का अंधकार मिट गया।

अंत में तुलसी दास जी ने भी विरति विवेक के स्वर्ण-सम्पुट में अगम-निगम पुराण सम्मत इसी भक्ति-भावना को सुरक्षित कर जनता के बीच उपस्थित कर दिया है।

"जाते वेगि द्रवह मैं भाई।
सो सम भगति भगत सुखदायी।"

यही इनकी भक्ति भावना की नैसर्गिक रूप-रेखा है।

इसी सिद्धान्त के अन्दर भक्ति के व्यापक, अति व्यापक और सर्व साधारण इन तीनों रूपों की मार्मिक अभिव्यक्ति हो जाती।

तुलसी की दृष्टि में सब समस्याओं का हल का सर्वोत्तम साधन है। भक्ति जिसे तर्क से दूर रह कर केवल विश्वास और आस्था के बलपर अपनाया जा सकता है। इसलिये तो मानस में तुलसी ने स्वयं भगवान द्वारा कथित भक्ति के साधनों में शबरी की नव भक्ति और लक्ष्मण के भक्ति-योग को अधिक प्रिय, उपयोगी और सुलभ बताया है। ये दोनों प्रकार के भक्ति के साधन क्रमशः भागवत और अध्यात्म रामायण से लिये गये हैं। भागवत से उदाहरण लीजिए—

"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणम् पाद सेवनम्
अर्चनम् वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्"

\+ \+ \+

यह नवधा भक्ति तुलसीदास जी को अत्यन्त प्रिय थी।

भक्ति की रूप-रेखा उपस्थित करने के बाद तुलसी ने भक्तों के गुण विशेष की सूची भी उपस्थित की है।

यद्यपि भक्ति और भक्तों की विशेषताओं को तालिका वद्ध करना नितान्त असम्भव है। तथापि उनकी परख के लिए उनके प्रसिद्ध गुणों का संकलन करना अनुचित न होगा; क्योंकि "संग्रह त्याग न विनु पहिचाने।"

तुलसी ने अपनी भक्ति भावना को 'विरति-विवेक' से संयुक्त कर इसे सदा के लिए प्रांजल और विकार शून्य बना दिया है। परन्तु इतना आवश्यक है कि तुलसी की भक्ति भावना में विरति विवेक, वैष्णव सम्प्रदायों के संशोधन के लिए और श्रुति सम्मत अन्य सम्प्रदाओं के परिमार्जन के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं।

सूफियों की काव्य शैली को तो इन्होंने अपनाया ही है। 'हरि-भक्ति' पद के द्वारा इन्होंने कृष्ण भक्ति भावना को भी अपनी भक्ति-पद्धति की सीमा में समेट लिया है। इस प्रकार इनके भक्ति-प्रवाह में इस समय के सभी प्रचलित भक्ति स्रोतों का दिग्-दर्शन हो जाता है। तुलसी के श्रुति-सम्मत हरि भक्ति पथ संयुक्त 'विरति विवेक' का यही रहस्य है और यही इनकी भक्ति की परिपुष्ट परिभाषा भी है।

विनय पत्रिका और मानस प्रधानतः इनकी भक्ति भावना और कला मर्मज्ञता का अद्भुत मिसाल है। ये ग्रन्थ-रत्न भक्तों और सहृदयों के कंठ के पुष्पहार हैं, जिनमें भक्ति-भावना का सौरभ है।

भक्ति का मूल तत्व है महत्त्व की अनुभूति। परन्तु उसके साथ ही दैन्य अर्थात् अपने लघुत्व की अनुभूति का उदय भी आवश्यक है। भक्तों को जैसा आनन्द अपने प्रभु का महत्व वर्णन करने में मिलता है, वैसा वह अपनी लघुता एवं तुच्छता का भी वर्णन करने में भी पाता है। भक्त की इस अनुभूति को गोस्वामी जी ने अनुपम ढंग से वर्णन किया है—

"राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन, छोटो"
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो?"

"ऐसी उच्च मनोभूमि की प्राप्ति, जिसमें अपने दोषों को झुक-झुक कर देखने की ही नहीं, उठा-उठा कर दिखाने की भी प्रवृत्ति होती है।" अन्यत्र दुर्लभ है।

तुलसी की यह भक्ति लोक-बाह्य नहीं है, वह लोक-सम्मत और लोकानुसारिणी है। उसमें जीवन निर्माण के लिए समुन्नत एवं उच्च आदर्श है। उसके अनुसार चलकर भक्त अपने आचरण को पुनीत बनाता है। संतोष, परहित-चिन्तन, अनुद्वेगकर सत्य, मधुर संलाप, सुख-दुःख में समत्व-बुद्धि, राग-द्वेष हीनता, मान-हीनता आदि ऐसे नैतिक गुण हैं, जिन्हें तुलसी जीवन के लिए उपादेय मानते हैं। यह तुलसी की भक्ति की अपनी विशेषता है।

अन्ततोगत्वा यह निर्विवाद है कि महाकवि तुलसी दास जी की अतीव लोक प्रियता का प्रथम और प्रमुख आधार तो इनकी सर्वांगपूर्ण भक्ति भावना ही है।

रूप एक—परछाइयाँ दो

प्रो० वीरेन्द्रनाथ द्विवेदी एम० ए०

[हिन्दी-विभाग]

मैं धरा की गोद में पैदा हुआ कमजोर मानव हूँ
कि जिसमें है न कुछ हसरत भरी मुस्कान,
पलता है न इठलाता हुआ अरमान
दिखलाई न पड़ता है घिरा जो बादलों की ओट
मेरा मन्द भाग्याकाश।
मदिर अँगड़ाइयों का मदभरा बेहोश चितवन,
खामोश मेरी चेतना का स्नेह सिंचित स्वर—
आता है न मुरझाती हुई इस जिन्दगी का
स्वर गले के पार।
देखे कौन इसकी ओर ले तरलित सुधा की ज्योति ?
जग-मग हो उठे उर-अंध सुस्मित स्वर्ण किरणों से !
यहाँ तो स्वार्थ-कर्दम खाइयों में जा रहे नित पग—
निकाले कौन इनको प्रेम की समरस धरा पर ?
तिरस्कृत हूँ, उपेक्षित और हूँ निरपेक्ष
कैसे मानलूँ इस जिन्दगी को जिन्दगी ?
मैं जिन्दगी की वाटिका का एक सूखा फूल,
जिसकी धड़कनें निस्पंद सौरभ-हीन
सजीला रंग अब बदरंग होकर सिसकियाँ भरता—
जिसमें झाँकती है आज भी मेरी जवानी मूक तड़पन में।
पवन का वेग ऐंठे जा रहा व्यक्तित्व जिसका
और पहुँचा भी न जो भगवान के शिर तक
भला इठलाय वह कैसे ?
न हमदर्दी, न सस्नेही नजर पड़ती किसीकी
विरस, एकान्त, नीरस जिन्दगी
नित छटपटाती, आह भरती है।
कैसे मान लूँ इस जिन्दगी को जिन्दगी ?



सीता की अवतरण भूमि—सीतामढ़ी

प्रो० सत्यनारायण प्रसाद
एम. ए. (द्वय), साहित्यरत्न

भगवान राम के धाम अयोध्या को कौन नहीं जानता ? परन्तु इसके विपरीत महाशक्ति सीता की प्राकट्य-स्थली वर्तमान सीतामढ़ी को बहुत कम ही जानते हैं। यहाँ तक पहुँचने के लिए आवागमन के मार्ग भी सुगम नहीं हैं और न राज्य सरकार ने अपने पर्यटन नक्शे में इसे स्थान ही दिया है। 'सीतामढ़ी में सीता-मैया के जन्मभूमि होने के गौरव के योग्य कोई स्मारक नहीं देखकर दुख होता है। (बेनीपुरी) सीतामढ़ी के जीर्णोद्धार के लिए जो भी योजनाएँ बनी हैं, वे अभीतक उचित नेतृत्व एवं आवश्यक अर्थ के अभाव में कार्यान्वित न हो सकी हैं। वैशाली के उद्धारक प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जगदीशचन्द्र माथुर के तिरहुत प्रमण्डल के आयुक्त बनकर आने से इस ओर कुछ आशा बँधी थी लेकिन उनका कार्यकाल अल्प होने से कुछ प्रगति न हो सकी। श्री लक्ष्मण किला, अयोध्या के महंत स्वामी श्री सीताराम शरण जी महाराज के संयोजकत्व में १९६४ में जानकी जयन्ती के शुभ अवसर पर अखिल भारतीय दार्शनिक सम्मेलन के दूसरे महाधिवेशन ने पुनः इन प्रश्नों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। आज जब हमारी राष्ट्रीय सरकार ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थानों के पुनरुद्धार की ओर ध्यान दे रही है, खेद है कि सीता की प्राकट्य-स्थली अभी भी उपेक्षित ही है। इस महत्वपूर्ण स्थान के विकास की ओर शीघ्र ध्यान देना अपेक्षित है।

ऋग्वेद, वृहद् विष्णु-पुराण तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में सीतामढ़ी धाम की महिमा सभी तीर्थों में श्रेष्ठ मानी गयी है। मिथिला की परम पावन पुण्यस्थलियों में इसका एक गौरव पूर्ण स्थान है। राजर्षि जनक की यज्ञस्थली होने एवं महा शक्ति सीता के प्रकट करने का सौभाग्य इसी भूमि को प्राप्त है। पुराणों में इन राज्य का विस्तार पूर्व में कौशिकी (कोशी), दक्षिण में गंगा; पश्चिम में शालग्रामी (नारायणी) और उत्तर में देवतुल्य हिमालय तक वर्णित है। मिथिला की प्रसिद्धि केवल वेद विद्या, प्रकृति कोमलता, अनुपम उर्वरता और राजा निमि से संवद्ध होने के कारण ही नहीं बल्कि इसके लोकोत्तर शौर्य-वीर्य से भी है। महाशक्ति का अवतरण ऐसे ही शक्तिशाली क्षेत्रों में होता है। उस युग के भारत के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति राजर्षि जनक की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि भगवान कृष्ण ने भी गीता में उन्हें निष्काम कर्म के आदर्श स्वरूप उपस्थित किया है। इस मिथिला ने ही विश्व के सम्मुख आदर्श नारी सीता को उपस्थित किया जो अपनी गुण-गरिमा के कारण रमणियों में अग्रगण्य हो आज समग्र भारत में जगज्जननी के

रूप में पूजित हो रही है। इसी राज्य में वर्त्तमान मुजफ्फरपुर जिले के दूर स्थित अनुमण्डल सीतामढ़ी को इस आदर्श नारी की जन्म भूमि होने का गौरव प्राप्त है। सीता की जन्म-भूमि होने के कारण ही यह नगर सीतामढ़ी के नाम से विख्यात हुआ जो सीतामारी, सीतामरिही, सीतामरही आदि अनेक अशुद्ध स्थितियों से गुजरता हुआ कालान्तर में सीतामढ़ी हो गया। दार्शनिक सम्मेलन के अवसर पर विद्वानों एवं सन्तो ने एकमत से पुनः सरकार से अनुरोध किया कि इसका नाम सीतामही कर दिया जाय। पुराणों एवं प्राच्य इतिहासों में इसकी ख्याति सुलक्षणा-पुरी या सुलक्षणी ग्राम के नाम से है, जिसकी स्थिति शुभ्र सलिला लक्ष्मणा (वर्त्तमान लखनदेई) नदी के तट पर बताई जाती है।

यह प्राचीन पुरी महाराज मिथिलेश की राजधानी जनकपुर (जो आजकल नेपाल में है) के पश्चिमी गोपुर (फाटक) पर अवस्थित थी ! जनकपुर यहाँ से कोई बारह-तेरह कोश ईशान कोण में अपने पुरातन चिह्नों को लेकर अभी भी दर्शनीय है ! जनकपुर से बारह मील पर 'धुनुखा' है जहाँ धनुर्यज्ञ हुआ था और कुछ ही दूर पर इतिहास प्रसिद्ध गिरिजा स्थान है जहाँ जनक किशोरी ने जननी सुनयना की आज्ञा से गिरिजा पूजन किया था। महाराज जनक के दुर्ग से पश्चिम बारह कोश की दूरी पर लक्ष्मणा नदी के तट पर यज्ञ भूमि थी। सीतमढ़ी के सीमावर्ती अनेक ग्रामों के नाम करण से यह स्पष्ट है कि राजर्षि जनक की यज्ञस्थली यहीं थी। उदाहरणार्थ—अथरी-अथर्व-वेद के ज्ञाता ब्राह्मणों की निवास भूमि, रीगा—ऋग्वेद की ऋचाओं के गायक ब्राह्मणों की निवास भूमि, सामपुर—सामवेद के गायकों की भूमि, जजुआर यजुर्वेद के ज्ञाताओं की भूमि, मानिक चौक— चारो वेदों के ज्ञाताओं (विद्यावाचस्पति पंडित श्री मधुसूदन झा) की पवित्र भूमि, सुतिहारा (श्रुतिधारा) वेद ज्ञान की धारा सी बहाने वाले विद्वान् श्रेणियों की भूमि, बाजपट्टी— बाज पद्धिति के ज्ञाताओं की भूमि, राजोपट्टी— राजसूय पद्धति के ज्ञाताओं की भूमि, देकुली (देवकुली)— देवताओं की दिव्य शक्ति से भरी भूमि, बभनगामा— ब्राह्मणों को उपहार में प्राप्त ग्राम, चक—चक्र ऋषि का आश्रम, कमतौल— महर्षि कपिल का निवास-स्थान, खरका— खड्ग ऋषि का स्थान, पुनौरा— महर्षि पुण्डरीक का आश्रम और भवदेपुर (भव्य देव पुर)— भव्य देवों की भूमि। प्राचीन काल में इस पुण्य-भूमि के चारो तरफ ऋषि-मुनियों के अनेक आश्रम थे। न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि का आश्रम कमतौल स्टेशन के पास 'अहियारी' (अहल्या स्थान) ग्राम में था। शुक्ल यजुर्वेद के द्रष्टा ऋषि याज्ञवल्क्य भी पास ही रहते थे। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि का आश्रम भी यहाँ से १६७ किलो-मीटर पर भारत नेपाल सीमा पर स्थित बगहा थाना के अन्तर्गत है जहाँ सीता निर्वासित होने के बाद रहती थी और जहाँ कवि ने रामायण की रचना की।

कतिपय पुराणों एवं रामायण में सीतावतरण का कारण दुर्दान्त रावण का अत्याचार कहा गया है। निरपराध तपोधन ऋषियों से कर के रूप में लिए गये रक्त से जिसे अपने विनाश के भय से रावण ने सुदूर हिमालय की उपत्यका के पास पावन प्रदेश मिथिला में गाड़ा था—लोकमाता प्रकट हुईं। वही आगे चलकर अत्याचारी रावण के विनाश का प्रमुख कारण सिद्ध हुई। रावण का राज्य दक्षिण भारत से लेकर मगध तक विस्तृत था। दक्षिण भारत में पंचवटी (नासिक) और उत्तर भारत में व्याघ्रसर (बक्सर)

उसके प्रख्यात उपनिवेश थे। महाबली राक्षस खर-दूषण, त्रिशिरा, ताड़का, मारीच और सुबाहु इन्हीं प्रदेशों के प्रचंड शासक थे। जिनकी रोचक गाथा रामायण में विस्तार से वर्णित है। सर्वत्र लूट-मार, परस्त्री हरण, और धर्म-विध्वंश करना ही इन मायावी राक्षसों के दैनिक कर्म थे। फिर रावण (रुलानेवाला) के अत्याचारों का अनुमान सहज में लगाया जा सकता है।

राज्य में एक बार भीषण अकाल पड़ा। दुर्भिक्ष और दानवों के कुकृत्यों से वसुन्धरा द्रवित हो गई। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची हुई थी। निरीह प्राणियों और निर्दोष संतों के रक्त से घड़े भर रहे थे। बारह वर्ष के दीर्घकालीन अवर्षण के कारण भूमि वंजर हो गई थी। तभी विद्वद्मंडली के सत्परामर्श से यज्ञारम्भ हुआ और महाराज जनक ने लोक कष्ट निवारणार्थ लक्ष्मणानदी के तटपर पुण्यारण्य वर्त्तमान पुनौरा के पास में स्वंय स्वर्ण का हल ग्रहण कर भूमि शोधन का मंगल अभियान शुरू किया। हल के अग्रभाग सिरा (या सिराउर) से भग्न घड़े से वैशाख शुक्ल नवमी को सर्वश्रेय-स्करीसीता प्रकट हुईं। सीतामढ़ी से डेढ़मील उत्तर हलेश्वर-स्थान (वर्तमान वौरियागीर मिशानी) है जहाँ से विदेह राज ने हलकर्षण प्रारंभ किया था। यहाँ एक शिव मन्दिर है और वसंत पंचमी को मेला लगता है। सीता की अवतरण-भूमि के संबंध में कुछ विवाद है। कुछ लोग पुनौरा के कुण्ड को ही जानकी क्षेत्र मानते हैं। परन्तु इसकी किसी प्रकार पुष्टि नहीं होती। प्राचीन सिद्ध-संतों तथा आचार्यों के कथनानुसार वर्तमान सीतामढ़ी के जानकी मन्दिर से सटे दक्षिण भाग में स्थित श्री ऊर्विजा कुण्ड से ही उनकी उत्पत्ति प्रमाणित होती है। प्रमाणों से निर्विवाद है कि सीता की जन्मभूमि सीतामढ़ी ही है। कहते हैं, सीता के प्रकट होते ही काफी वर्षा हुई और पृथ्वी अन्न-जल से परिपूर्ण हो गई। रावण के पाप का भरा घड़ा सदा के लिए चूर-चूर हो गया। पुनः पृथ्वी सुजलां-सुफलां शस्यश्यामला बन गई। संभव है, ऐसे ही दिव्य गुण विशिष्ट सुलक्षणा सीता के प्रादुर्भाव के कारण ही सीतामढ़ी का नाम सुलक्षणापुरी रखा गया हो और उसी समय से जनक का नाम 'सीरध्वज' (जिसकी ध्वजा में सीर अर्थात् हल का चिन्ह हो) पड़ गया हो।

अन्य भारतीय भाषाओं एवं विदेशों में प्रचलित रामकथाओं में सीता की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। आधुनिक साहित्य-कारों ने मिट्टी से बच्ची पैदा होने की बात पर शंका प्रकट कर अन्य व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। डा० रामस्वार्थ चौधरी 'अभिनव' ने अपने नाटक 'धरती की बेटी' में बताया है कि वैशाख शुक्ल नवमी को अश्लेषा नक्षत्र में राजा सीरध्वज की एक रानी को एक कन्या हुई थी। अशुभ लग्न-नक्षत्र में कन्या जन्म के कारण अनिष्ट की आशंका से उसे बहिष्कृत कर दिया गया। अमंगल के भय से राजा को इसकी सूचना भी नहीं दी गई। एक दम्पति ने उसे पाया लेकिन दुर्भिक्ष पीड़ित होने के कारण पुनः भूमि पर ही छोड़ दिया। राजा जनक ने हल चलाते हुए उसी बच्ची को पाया। प्रसिद्ध साहित्याकार श्री रामवृक्ष 'बेनीपुरी' ने अपने स्वोक्तिरूपक 'सीता की माँ' में एक कंगालिन को किसी अज्ञात देवता के वरदान-स्वरुप कन्या-प्राप्ति का उल्लेख किया है। परन्तु दुर्भिक्ष के कारण उसकी छाती का क्षीर-स्रोत सूख गया था। फिर भी वह मातृत्व से

बावली हो उसे बचाये रखने के लिए दोने में लिपट घास-फूस से ढँक धरतीपर छोड़ बबूल के पेड़ के काँटे से शरीर से रक्त बहा रही थी कि राजा जनक के हलका फाल उधर ही पहुँच गया और राजाने उसे अपना लिया।

सीतामढ़ी की भूमि अपूर्व उर्वरता और शस्य-सम्पत्तियों के कारण विख्यात है। इस प्रसंग में प्रसिद्ध है कि सीता विवाहित होकर जनकपुर से विदा होते हुए इस विचार से आंचल (खोंइछा) से कुल दूब-धान बिखेरती गयी कि कहीं मेरी मातृभूमि धान्यशून्य न हो जाय। फलतः जहाँ-जहाँ ये धान गिरे, वहाँ बिना परिश्रम के अपेक्षाकृत अधिक धान की उपज होती है। यहाँ के कृषकों में ऐसा विश्वास तो है ही, और बेटियों के विदाई काल में उनके आँचल में केवल धान और दूर्वादल देने की प्राचीन प्रथा उनके प्रकृतिजात धान्य-प्रेम का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। यहाँ की उर्वरता यहाँ के कई ग्रामों के नाम से सिद्ध होती है— जैसे, अन्हारी (अन्न धारी), अन्डहरा (अन्नधरा) आदि। पार्श्ववर्ती स्थानों में पंथपाकड़ (पंथपर्कटी) है जहाँ जनश्रुति के अनुसार जनकपुर से विदा होकर महारानी जानकी की पालकी इसी विशाल पाकड़ के पेड़ के नीचे रखी गयी थी और बारात ने यहीं विश्राम किया था।

सीतामढ़ी के श्री जानकी मन्दिर में प्रतिष्ठित श्री सीताराम, लक्ष्मण, हनुमान-शिव पार्वती, गणेश आदि देवताओं की मूर्तियाँ आज से कोई दो सौ वर्ष पूर्व मन्दिर से सटे श्री ऊर्विजाकुंड से उद्धृत हुई कही जाती हैं। श्री सीताराम की मूर्तियाँ काले पत्थर की बनी अत्यन्य सुन्दर हैं। सीता की कृष्ण मूर्ति यहीं देखने में आती है। कहा जाता है कि पहले यह स्थान बन्यप्राय था। भगवान की प्रेरणा से सर्वप्रथम महात्मा हीराराम दास जी नाम के किसी सिद्ध संत ने ध्यान-योग से इन मूर्त्तियों का कुंड से उद्धार कर उनकी प्रतिष्ठाकी। तभी से यह नगर धीरे-धीरे बस चला। महात्मा हीराराम दास जी की पीढ़ियों में कई महंत हुए, जिनके समाधि-मन्दिर श्री जानकी मंदिर के पास ही निर्मित हैं।

सीतामढ़ी को सिद्ध पीठ मानकर अनेक सिद्ध संत महात्मा यहाँ निवास करते आये हैं। यहाँ के परम सिद्ध बाबा अयोध्या के सिद्ध संत श्री स्वामी युगलानन्द शरण जी की प्रबल प्रेरणा से पधारे थे। उन्होंने श्री जानकी मन्दिर में माता की सेवाकर कई बार श्री ऊर्विजाकुंड में रात्रिस्नान के समय श्री सीता का उनकी असंख्यशक्ति सखियों के साथ प्रत्यक्ष दर्शन किया था। उनका अटूट विश्वास था कि भगवन्नाम के जापकों को उनकी दिव्य झांकी अवश्य मिला करती है। लखनदेई के तट पर स्थित बड़ी कुटी में प्रतिष्ठित श्री १०८ सिद्ध बाबा की आशीर्वाद की मुद्रा में निर्मित मूर्त्ति अत्यन्त भव्य है।

इस पुण्यभूमि के महिमा-गायकों में परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी सियालाल शरण जी महाराज के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बीसवीं शताब्दी में सखी सम्प्रदाय की तत्सुखी शाखा के ये बहुत प्रभावशाली संत रहे हैं। ये 'प्रेमलता' उपनाम साधन-भजन और काव्य-रचना करते थे। इनके लिखे ३३ ग्रन्थ हैं जो अधिकांश अप्रकाशित हैं। इनकी रचनाओं में कुछ तो सिद्धांत-व्यापक ग्रन्थ हैं, कुछ उपदेश परक हैं और कुछ में राम-जानकी के विहार और अष्टयाम लीला के पद हैं। सिद्धबाबा के आदेशानुसार यहाँ रहकर आपकी तपः साधना ही, नहीं, साहित्य-साधना भी सफल हुई थी। आपका

साकेतवास १९४१ में हुआ। लखनदेई के पुनीत तट पर 'सद्गुरु निवास' (पीली कुटिया) आपके गौरव के सुन्दर स्मारक के रूप में आज भी विद्यमान है।

सीतामढ़ी में बराबर धार्मिक उत्सव एवं कीर्त्तन आदि होते ही रहते हैं। यहाँ प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ल नवमी को राम जन्मोत्सव के अवसर पर 'रामनवमी' और मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी को सीताराम विवाहोत्सव के अवसर पर 'विवाहपंचमी' को मवेशियों का विशाल मेला लगता है। वैशाख शुक्ल नवमी को जानकी जी का आविर्भावोत्सव मनाया जाता है जिसे जानकी-नवमी कहते हैं। सीतामढ़ी धाम में आयोजित इन धार्मिकोत्सव में भाग लेने अनेक श्रद्धालु लोग पहुँचते हैं।

सीतामढ़ी के पास और भी अनेक दर्शनीय स्थल हैं जिनकी फिर कभी चर्चा होगी।

मृत्यु के द्वारा जीवन का जो विधान है, इसे स्वीकार करना होगा, तभी हम अमर जीवन के पथ का अनुसंधान कर सकते हैं। हमें अपनी आँखें खोलकर—अर्जुन की अपेक्षा कम व्यथित दृष्टि से ईश्वर के काल रूप का दर्शन करना होगा और इस विश्व-संहार को अस्वीकार करने, इससे घृणा करने या इससे भय खाकर भागने की वृत्ति को छोड़ देना होगा।

—श्री अरविन्द

मिथिलेश

प्रो० लक्ष्मण उपाध्याय, शास्त्री,
एम० ए० (द्वय), आचार्य (द्वय), रिसर्च स्कॉलर
[अध्यक्ष, संस्कृत विभाग]

अथ से इति तक कर्मठता का
प्रेरक है जिसका उपदेश।
जाने के भी बाद जगत से
जीवित है मेरा मिथिलेश॥

कर्मठ देख जनक को शिव ने
दिया दिव्य शर धनुष पुनीत।
प्रजा-भक्त, नृप-गृह में आई
मोद सहित मैथिली विनीत॥

अनासक्त रस-भोगी राजा
जनक जनक सा सहकर ताप।
कर्मठता की कर्म-कला की
छोड़ गए जग में दृढ़ छाप॥

जामाता मिल गए जनक को
कर्म-वीर, वर लक्ष्मण राम।
हुआ प्रचारित पूज्य पुरुष में
प्रण-पीयूष, कर्म निष्काम॥

प्रणति समर्पित कर्मठ नृप को
कर्मचारि-गण तेरे धन्य।
मानवता का प्रबल प्रचारक
हुआ न तुम सा राजा अन्य॥

[अप्रकाशित खण्ड काव्य 'मिथिलेश' का एक अंश]

ये विचित्र पेड़

श्री रमा शंकर प्रसाद सिन्हा, बी० एस० सी०
(वनस्पति शास्त्र विभाग)

विचित्रताओं ने पेड़ों को भी नहीं छोड़ा है और इस पृथ्वी पर ऐसे-ऐसे विचित्र पेड़ पाये जाते हैं कि उनका वर्णन पढ़कर हम एकाएक विश्वास नहीं कर सकते। ऐसे पेड़ों की संख्या बहुत ही कम पाई जाती है और वह पृथ्वी के सभी भागों में मिलते हैं। प्रस्तुत लेख में कुछ ऐसे ही विचित्र पेड़ों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

मानवरूपी पेड़

मिशिगन प्रदेश अमेरिका के निवासी हालों नामक एक व्यक्ति के बागीचे में एक विचित्र तरह के पेड़ का ठूँठ खड़ा है, जिसे देखकर मानव की आकृति का बोध होता है। मनुष्य की तरह इस पेड़ के भी हाथ-पैर और सिर हैं, यहाँ तक कि उसके सिर पर और एक टोपी और दाहिने हाथ में एक छड़ी है। प्रकृति द्वारा पोषित इस पेड़ ने अपने आप ही इन्सान जैसा रूप ग्रहण कर लिया है।

पाँच सौ साल पुराना बौना पेड़

देवदार और फर जैसे बड़े पेड़ों को अत्यन्त छोटे रूप में उगाने की कला में जपानी संसार में मशहूर हैं। वहाँ के बागीचों में छोटे-मोटे गमले में इन जातियों के ऐसे पेड़ देखे जा सकते हैं जो सैकड़ों वर्ष पुराने होने पर भी २-३ फुट से ज्यादा बढ़ नहीं पाए। जापान के राजकीय उद्यान में एक विशेष प्रकार के बेर का पेड़ लगा है, जो पाँच सौ वर्ष पुराना होने पर भी सिर्फ ३ फीट ऊँचा है।

दिशा-सूचक पेड़

आस्ट्रेलिया में पाए जाने वाले एक विशेष प्रकार के पेड़ की पत्तियाँ हमेशा उत्तर और दक्षिण की ओर रहती हैं। इन पत्तियों की पीठ के एक ओर पूर्व और दूसरी ओर पश्चिम दिशा रहती है। अँधेरी रात में भी पत्तियों को हाथ से छूकर देखने से अनायास ही दिशाओं का ज्ञान हो जाता है।

दूध देने वाला पेड़

दक्षिण अमेरिका के घने जंगलों में एक विशेष तरह का पेड़ पाया जाता है जिसके तने में छोटा-सा छेद कर देने से दूध की तरह सफेद तरल पदार्थ निकलने लगता है। पीने में यह तरल-पदार्थ दूध की तरह मीठा और पौष्टिक होता है। इसलिए वहाँ के जंगल-निवासी इसे बड़े चाव से पीते हैं। सुबह उठकर ये लोग अपने-अपने लोटे आदि लेकर वृक्ष के पास पहुँच जाते हैं और तने में छोटा-सा सुराख करके लोटे आदि को तरल पदार्थ से भर लेते हैं।

पानी बरसाने वाला पेड़

ब्राजील देश के कई भागों में ऐसे वृक्ष पाये जाते हैं, जिनकी पत्तियों से रात होते ही पानी चूने

लगता है। कभी-कभी तो पानी इतना निकलता है कि उनके नीचे नाले बहने लगते है। गर्मी के मौसम में जब चारों ओर के नदी-तालाब और कुयें सूख जाते हैं तो ये वृक्ष मजे में पानी बरसाया करते हैं। लोगों का अनुमान है कि एक वृक्ष से प्रति दिन कम से कम एक गैलन पानी बरसता है। फैरो द्वीप में भी इस प्रकार के वृक्ष पाये जाते हैं।

आग उगलने वाला पेड़

जापान के घने जंगलों में एक बहुत ही विचित्र प्रकार का वृक्ष पाया जाता है जो सूर्यास्त होते ही अपनी चोटी से धुँआ छोड़ने लगता है। इससे ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वृक्ष के ऊपरी भाग में आग लग गई हो, या कोई ज्वालामुखी आग उगल रहा हो। पेड़ के आस-पास धुयें के बादल छाये रहते हैं।

सबसे ऊँचा पेड़

अमेरिका के कैलीफोर्निया प्रदेश में बड़े-बड़े डगलस फर नामक वृक्ष पाए जाते हैं, जिनकी ऊँचाई ३०० से लेकर ५०० फुट तक होती है। इसकी चोटी तक पहुँचने के लिए कम से कम २० मंजिल ऊँचे मकान् की छत तक चढ़ना होगा। एक डगलस फर के तने की व्यास ५० फुट से ज्यादा होता है। इस के अन्दर से रास्ता बना दिया गया है जिस होकर मोटरें गुजरती हैं। सुना जाता है कि एक-एक पेड़ की उम्र ४-५ हजार वर्ष होती है।

कीड़े-मकोड़े भक्षी पेड़

लंका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा भारत के बंगाल और आसाम के दलदली भागों में कुछ खाश जाति की झाड़ियाँ प्रायः ४ फीट ऊँची होती हैं और इनके अग्र भाग में घड़े की तरह एक बड़ी-सी रचना लटकती रहती है। इसलिए इस वृक्ष को "घट पर्णी" कहते हैं। अंग्रेजी में इसे Pitcher Plant कहते हैं। यह ट्रेप अन्दर से खोखला रहता है तथा इसके भीतर छोटे-छोटे काँटे निकले रहते हैं। इसके ऊपर ढक्कन लगा रहता है। ढक्कन पर कुछ मीठा तरल पदार्थ लगा रहता है, जिसे खाने के लालच में कीड़े-मकोड़े आकर इस पदार्थ में फँसकर प्राण गँवा देते हैं। इन छोटे जानवरों के बैठने से ढक्कन खुल जाता है और वे फिसलकर ट्रेप के भीतर पहुँच जाते हैं जिसे ये पौधे खा जाते हैं।

मनुष्य भक्षी पेड़

अफ्रीका के घने और विशाल जंगलो में कहीं-कहीं मानव भक्षी पेड़ मिलते हैं जो मनुष्यों और जंगली प्रणियों को अपना शिकार बनाते हैं। कहा जाता है कि एक मानव भक्षी पेड़ की उँचाई ३० फुट तक होती है। इस विशाल और भयानक लगनेवाले वृक्ष की अनेक शाखाओं के अगले हिस्सों में थाली के आकार के बड़े-बड़े फूल लगे रहते हैं। ये शाखायें १-२ फुट लम्बे काँटों से युक्त रहती हैं।

जब भी कोई जानवर या इन्सान असावधान होकर इस पेड़ के पास से निकलता है। तब पेड़ की काँटेदार शाखायें अपने शिकार को चारों ओर से घेर लेती हैं। काँटे शरीर में घुसकर रक्त चूस लेते हैं और बाहर निकल आते हैं। तब पेड़ की शाखायें निर्जीव शरीर को छोड़ देती हैं। इस तरह पेड़ के नीचे कंकालों का ढेर लग जाता है।

क्रोधी पेड़

उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग में सेरा-नेवाडा नामक पर्वतमाला है। उसमें एक ऐसा वृक्ष पाया गया है जो हवा चलते ही बहुत ही कंपित होता है। उसके पत्तों में ऐसी विकट खड़-खड़ाहट शुरु होती है, मानो वे बहुत ही चिढ़ गए हों और अपने चारों ओर के वायुमंडल को गरज-गरज कर भय भीत कर रहे हों।

डंक मारने वाला पेड़

यह खास कर पूर्वी भारत में पाया जाता है। इसे विच्छू घास के नाम से पुकारते हैं। इस घास के तने और शाखाओं और पत्तियों पर काँटे जैसे बाल (Stinging hairs) पाये जाते हैं। पत्तियों पर पाये जाने वाले घास कोमल और पतले होते हैं। इन्ही बालों से यह पौधा डंक मारता है। जब कोई प्राणी उसके नजदीक जाता है तो वह डंक मारता है। जिसके फलस्वरूप विष उस प्राणी के अन्दर चला जाता है और जलन पैदा शुरू कर देता है। कभी-कभी तो ज्वर भी हो जाता है।

लेकिन आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस विच्छू घास के बगल में ही एक ऐसा पौधा पाया जाता है जिसकी पत्तियों के रस को तुरंत त्वचा पर लगा देने से जलन तथा दर्द कुछ ही देर में समाप्त हो जाता है। इस पौधे को जंगली पालक कहते हैं।

लजाने वाला पेड़

यह पेड़ खासकर जंगलों में पाया जाता है लेकिन कोई मनुष्य इसे अपने बगीचे में भी लगाते हैं। इस पौधे का नाम लाजवन्ती है। इसकी पत्तियाँ छोटी-छोटी होती हैं तथा उचाँई में करीब १ फुट तक होती है। जब कोई मनुष्य इस पौधे की पत्ती को छू देता है तो वह पत्ती मुरझा जाती है जैसे मालूम पड़ता है कि वह लजा गई है। लेकिन १०-१५ मिनट के बाद फिर पहले की भाँति हो जाता है।



प्राणियों और पौधों में मौलिक भेद

श्री अनिल कुमार वर्मा,
[डीमौ न्स्ट्रेटर जीवशास्त्र-विभाग]

जिस प्रकार हमलोग या अन्य जानवर जीवित प्राणी हैं, उसी प्रकार पौधे भी हैं। किन्तु पौधों की दुनिया जानवरों की दुनिया से बहुत भिन्न है।

हमलोग प्राणीशास्त्र की दृष्टि से जानवर की श्रेणी में आते हैं। जानवर और पौधों में अनेक समानताएँ हैं—दोनों के शरीर प्ररस (Protoplasm) से बने होते हैं, जो जीवन का आधार है। दोनों को भोजन की आवश्यकता होती है; दोनों बढ़ते हैं, दोनों साँस लेते हैं; दोनों में प्रजनन (Reproduction) होता है, जिसके फलस्वरूप जानवरों में बच्चे और पौधों में बीज बनते हैं; दोनों दूषित पदार्थ त्याग करते हैं, दोनों में गति (Movement) और उत्तेजना (Irritability) इत्यादि होती है। लेकिन फिर भी दोनों में मौलिक भेद है जो निम्नलिखित है।

जानवरों और पौधों, दोनों को भोजन की आवश्यकता होती है और दोनों के भोजन में कार्बोहाईड्रेट, प्रोटीन, वसा, लवण, विटामिन्स इत्यादि होते हैं। ये पौधे सभी विभिन्न प्रकार के भोजन खुद बनाते हैं, लेकिन जानवर इन्हें नहीं बना सकते हैं। इसका एकमात्र कारण हरे रंग का एक पदार्थ क्लोरोफिल (Chlorophyll) हैं। पौधों के पत्तों में या नये तनों (Sten) में क्लोरोफिल होता है जो किसी भी जानवर के शरीर में नहीं पाया जाता। इसी कारण से पौधे हरे-भरे दीख पड़ते हैं। क्लोरोफिल की मदद से सूर्य की रोशनी में जमीन से लिया गया पानी और हवा से ली गयी कार्बनडायक्साईड (Co_2) गैस मिलकर कार्बोहाईड्रेट बनता है। कार्बोहाईड्रेट से और दूसरे-दूसरे यौगिकों (Compounds) के मिलने से प्रोटीन और वसा भोज्य पदार्थ बनते हैं। जानवर अपने लिए ये सभी भोज्यपदार्थ खुद नहीं बना सकते। सच तो यह है कि हमलोग और अन्य सभी जानवर अपने भोजन के लिए पौधों पर ही बिल्कुल निर्भर हैं। हमलोग भोजन के मामले में स्वतंत्र नहीं है बल्कि पौधों के अधीन हैं और उनका आधिपत्य स्वीकार करते हैं। हाँ, अब कुछ भोज्यपदार्थ का संश्लेषण (Synthesis) रसायनिक विधि द्वारा प्रयोगशाला में शुरू हुआ है, लेकिन ये संश्लेषित भोज्यपदार्थ अभी नहीं के बराबर हैं और ऐसा लगता है कि आनेवाले हजारों, लाखों या करोड़ों वर्षों तक हमलोगों को भोजन के लिए पौधों की दुनिया के अधीन रहना होगा।

हमलोग या और दूसरे-दूसरे जानवर प्रोटीन की जरूरत दाल वाले पौधों के आलावा जानवरों का मास खाकर पूरी करते हैं। इन जानवरों में प्रोटीन पौधों से ही आता है ये खुद प्रोटीन

नहीं बनाते। इस तरह हमलोग या दूसरे-दूसरे माँस खाने वाले जानवर प्रोटीन के लिए घुमा-फिराकर पौधों पर ही निर्भर हैं।

कुछ पौधे ऐसे होते हैं, जिसमें क्लोरोफिल नहीं होता है और वे भोजन खुद नहीं बना सकते हैं। वे हरे पौधों द्वारा बनाये गये भोजन से अपनी जरूरत उसी तरह पूरी करते है जिस तरह हमलोग।

जानवर जिन्दगी भर लम्बाई या उँचाई में बढ़ते नहीं रहते। लेकिन पौधे जबतक जीवित रहते है तब तक बढ़ते रहते हैं। जैसे—पीपल, बरगद आदि। पौधे जड़ और तने के छोर पर ही सिर्फ बढ़ते है, लेकिन जानवरों का हर हिस्सा बढ़ता है।

सभी जीवों यानी जानवरों और पौधों के शरीर कोशाओं (Cells) से बने हुए हैं। कोशा-शरीर की बनावट की इकाई (Unit) समझी जाती है। पौधों की कोशाएँ सेलूलोज (Cellulose) की बनी दीवार से घिरी रहती है जिसे कोशाभित्ति (Cellwall) कहते हैं, लेकिन जानवरों में ये नहीं होती है। यही कारण है कि जानवर के शरीर में सेलूलोज नहीं पाया जाता है।

प्रायः पोधे स्थिर नजर आते हैं और जानवर चलते-फिरते हैं। पौधे मिट्टी से पानी और पानी में घुले हुए खनिज पदार्थ लेते हैं, लेकिन जानवर भोजन की तलाश में या उत्तेजना में आकर एक जगह से दूसरी-जगह दौड़ते-फिरते हैं। अपवाद में कुछ निम्न वर्ग के पानी में पाये जाने वाले ऐसे पौधे हैं, जो फ्लैजेला (Flagella) की मदद से पानी में तैरते हैं और एक जगह से दूसरी जगह जाते है, जैसे "यूलेग्ना (Eulegna), क्लमाय डोमनस (Chlamydomonas) आदि कुछ ऐसे जानवर अपवाद में हैं, जो चलते-फिरते हैं और एक जगह स्थिर रहते हैं, जैसे—मूँगा (Coral), स्पन्ज (Sponge) आदि जो समुद्र के किनारे स्थिर रहते हैं!

पौधों और जानवरों में मलमूत्र या दूषित पदार्थ त्याग करने के तरीके में बहुत बड़ा फर्क है। जानवरों में दोनों के लिए अलग-अलग अंग हैं जिन्हें उत्सर्जी अंग (Excretory organs) कहते हैं। लेकिन पेड़-पौधों के अन्दर से दूषित या बेकार पदार्थ हमेशा बीच-बीच में नहीं निकलते रहते बल्कि ये कोशाओं की रस धानियों (Vacuoles) में जमा होते जाते हैं। तने का सबसे बाहरी हिस्सा अर्थात् छाल और पत्ते पुराने होने पर समय-समय पर झड़ते रहते हैं। और इन्हीं के साथ इनकी कोशाओं की रसधानियों में जमा हुए दूषित पदार्थ भी बाहर निकल जाते हैं।

निम्न श्रेणी के पौधों और जानवरों को छोड़कर शेष पौधों और जानवरों में कुछ भेद स्पष्ट दीख पड़ते हैं, निम्नलिखित हैं :—

जानवरों में नाक, कान, आँख इत्यादि चेतना इन्द्रियों (Sensory organs) के अलावा मस्तिष्क (Brain) रहता है जिससे इनमें सोचने-विचारने की शक्ति रहती है, लेकिन पौधों में चेतना की इन्द्रियाँ और मस्तिष्क नहीं रहते हैं।

पौधे जिन्दगी भर बढ़ते रहते हैं जिसका नतीजा होता है कि हर साल नयी-नयी शाखाएँ और पत्ते निकलते हैं और पौधों का रूप हर साल कुछ-न-कुछ बदलता रहता है, इसीलिए पौधों का रूप बहुत कुछ अनिश्चित रहता है। लेकिन जानवरों के शरीर का बढ़ना कुछ साल बाद बन्द हो जाता है और तब

इनके शरीर में परिवर्त्तन होना बन्द हो जाता है। यही कारण है कि जानवरो के शरीर का रूप पौधों के वनिस्पत अधिक निश्चित होता है।

जानवरों के शरीर में सिर, धड़, हाथ, पैर इत्यादि हिस्से रहते हैं, लेनिक पौधों में जड़, तना, पतियाँ, फूल-फल इत्यादि। जानवरों में कुछ महत्वपूर्ण अंग और भी हैं जैसे—हृदय (Heart), फेफड़े (Lungs) यकृत (Liver), वृक्क (Kidney) इत्यादि। इसलिए पौधों से जानवरों के शरीर की बनावट अधिक जटिल (Complex) होती है।

जानवरों के शरीर के अन्दर रक्त संचालन होता है लेकिन पौधें के अन्दर रस (Sap) के द्वारा।

इन सभी के बावजूद दोनों में सबसे बड़ी मौलिक समानता यह है कि दोनों सजीव हैं और दोनों में जीवन के लक्षण वर्त्तमान हैं। धरती पर जीवन के विकास के सबसे शुरू में बहुत सरल जीव आये, जिनकी पहचान पौधा या जानवर दोनों में से किसी में भी नहीं हो सकती थी। इनमें क्रमशः विकास होता गया और ज़ीवन दो तरफ बँट गया, जिससे दो दुनियाँ बनी—एक पौधों को दुनियाँ जो (Plant Kingdom) और दूसरी जन्तुओं की दुनियाँ जो (Animal Kingdom) से आज प्रसिद्ध है।

युद्ध में जोस की रोशनी और ज्ञान की ज्योति आवश्यक है। हम चाहे जो भी काम करें, अपने स्वभाव को बर्बर नहीं होने दें। अपने जानी दुश्मन के प्रति भी हम अपना हृदय शुद्ध रखें। आध्यात्मिक जीवन का एक पहलू है आध्यात्मिक कामना एवं दूसरा, दैनिक जीवन में सत्य की खोज एवं अच्छे कार्य करने की प्रकृति। मानव जीवन को एक सूत्र में बाँधने की शक्ति धर्म है, तथा उसे अलग करने वाली अधर्म।

—डा० राधाकृष्णन्

विवशता

—एक दिवंगत आत्मा के प्रति

श्री सीताराम मुरादपुरी

ओ स्रष्टा, ओ सृजनहार,
इस एक अनोखी बगिया के, माली बनकर तुम थे आये।
मन में ले अरमान अनेकों
विविध रूप रंगों से इसको सजने को,
दे खून-पसीना इसको तुमने सींचा था।
था पास तुम्हारे,
अभिलाषाओं को पूरा करने का एक संकल्प अमिट
कि जिसके आगे नत हुई अनेकों बाधायें
सारी रूकावटें मुंह की खाकर लौट गयीं।
जिसने भी चाहा तुम्हें राह से विमुख करूँ,
बगिया के बाड़े से ही आकर लौट गये।
तुम नेता बन,
आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ,
कितने माली की ले कतार—
रक्षक बन कर,
अपने कंधों पर ले रक्षा का भार,
था तुमने दुलराया—
हर पौधों को, हर शाखों को,
कलियों से भरी टहनियों को,
फूलों से लदी लताओं को।
तेरा था अंतिम लक्ष्य—
कि, हर गली, मुहल्ला, हर टोला,
हर गांव, नगर, हर बस्ती का,
दुनिया का हर कोना-कोना

गमगमा उठे फूलों की मादक गंधों से।
तुमने चाहा, इतना ही यह गुलजार हमारा चमन रहे
हर शाम सुबह, हर मौसम में, हर फूलों की भरमार रहे।
और आज,
इन फूलों से, कलियों से,
पौधों से, शाखों से,
नाता सब तोड़ गये,
दूर बहुत दूर तुम चले गये,
अपनों को छोड़ गये।
चाह रहा एक बार फिर से तुम्हें पा जाऊँ
अपनी व्यथा का बस दर्द भरा गीत एक,
तुमको सुना पाऊँ,
दर्द भरे स्वर में ही अपनोंके बीच,
तुम्हें फिर से बुला पाऊँ,
ऐसा ही सोच कभी,
सुधियों के सरगम पर—
तानें जब भरता हूँ—
वाणी रुक जाती है!
ओ मेरे निर्मोही।
ऐसे आओगे नहीं
सपने में आ जाओ,
ऐसा ही सोच कभी,
सपने सँजोने को सोता हूँ
नींद नहीं आती है।
नींद नहीं आती है।



चना की आत्म-कथा

श्री सत्यनारायण सिंह
स्नातक कला हिन्दी प्रतिष्ठा (अन्तिम)

मानव जीवन आशा-निराशा, सुख-दुख एवं उत्थान-पतन के रेशों से निर्मित एक ऐसी कड़ी है जिसमें आशा के आगमन से ही हृदय में कल्पनाओं का एक रंगीन संसार बस जाता है और निराशा के आते ही समस्त अरमानों पर काली छाया फैलाकर उसे धूमिल बनाती दीख पड़ती है। इस तरह से सुख के आते ही मानव जीवन में आनन्द की एक लहर दौड़ पड़ती है और ओठों पर मधुर मुस्कान की हल्की रेखा खिंच आती है पुनः काल चक्रानुसार दुःख आता है और जन-जीवन में मुस्कुराहट की जगह उदासी का लेप चढ़ाकर उसके आनन्द-कानन में पतझर ला देता है। एक ऐसा भी समय आता है, जब मानव अपने को उन्नति की चरम सीमा पर पाकर तथा आशा और आकांक्षाओं को पल्लवित होते देखकर, फूला नहीं समाता तथा मन में गौरव का अनुभव कर बैठता है। जिसका फल यह होता है कि वह अपने निर्मल एवं उज्ज्वल मार्गों को भूलकर एक अत्यन्त कंटकित राहों का आरोही बन जाता है—जहाँ उसे पतन की गहरी खाइयों के सिवा उन्नति का कोई आधार नहीं बच जाता। परन्तु जो मानव सुख-दुःख की भावावेशमयी स्थिति में भी अपने को तटस्थ बनाये हुए सदैव अपने कर्त्तव्य को निभाता है, परिस्थितियों से जूझता है एवं यातनाओं को गले लगाते हुए सदैव अपने अमोल जीवन को दूसरों के लिए उत्सर्ग कर देना ही अपना अभीष्ट समझता है—सफलता प्राप्त करने का भागी बनता है। इतना ही नहीं, जगत् का जड़ पेड़-पौधा भी मानव जीवन का साम्य रखता है—वह भी हँसता रोता है एवं मानवीय क्रिया-कलापों में भाग लिया करता है।

माघ का महीना था। कड़ाके की ठंढ़क पड़ रही थी। सूर्यदेव बादलों के बीच अपने को छिपाये हुए थे। कभी प्रकट होते और कभी छिप जाते। कभी-कभी सूर्य देव बादलों के बीच भागते नजर आते और बादलों के छोटे-छोटे टुकड़े उनकी ही ओर दौड़ते जान पड़ते। ऐसा लगता था—सूर्यदेव बादल-बच्चों के साथ सस्नेह लुका-छिपी खेल रहे हों। हम चार साथी सड़क पकड़े हुए हवा खाने निकले जिनमें मोहन, सोहन, अरुण और मैं खुद भी था। टहलने के सिलसिले में ही मोहन की दृष्टि एक खेत की ओर गई; समूचे खेत में रंग-बिरंगे फूल खिले थे जिससे सारा खेत हरा, पीला और लाल रंगों की चादरों से सुशोभित लग रहा था। मोहन ने कहा—अरे भाई! मेरी बात अगर मानते हो तो जरा उस खेत की बहार तो देखो। आँखें खोलकर चलने का अर्थ यह नहीं कि प्रकृति के हर सौंदर्य को आप देख ही लेंगे। मैंने

भी कहा—कितना सुन्दर लग रहा है ? लगता है—वह खेत नहीं, चित्रशाला है। हमें वहाँ चलकर उस सौंदर्य का अवलोकन करना चाहिए। कहना क्या था कि सभी एक ही स्वर में बोल उठे—'चला ही जाए।'

हम सभी साथी एक मेड़ पर जा बैठे--जहाँ चना भगत को एक ऊँची जगह पर नाक टेढ़ी किए खड़ा पाया। बगल में ही अरहर महाराज, मटर मल, खेसारी दुबे, उड़द राय, गेहूँ पाण्डेय, जौ सेठ तथा धान महाजन को देखा। दूसरी ओर तीसी रानी, सरसों देवी तथा उसकी कई सहेलियाँ हरी एवं पीली ओढ़नी तथा साल ओढ़े बैठी थीं। इतने में हमलोगों ने एक अत्यन्त ही करुण एवं धीमी आवाज सुनी जो कि चना भगत की थी। चना भगत ने सभापति गेहूँ पाण्डेय तथा उपस्थित अनाज साथियों को संबोधित करते हुए कहा—मैं अपनी दशा आपलोगों के बीच क्या व्यक्त करूँ ? मेरे जीवन का प्रत्येक जन्म से लेकर मृत्यु तक दुख पूर्ण मार्गों से ही गुजरता है। चना भगत की आवाज कुछ रुद्ध सी हो गई और नाक कुछ फड़क उठी। वह आगे कुछ नहीं बोल सका केवल उसकी आँखों से आँसू ढुलकने लगे। 'मानव जब किसी चीज से अधिक प्रभावित हो जाता है, चाहे सुख या दुख से, तो ऐसी स्थिति में उसका मुख बन्द हो जाता है और आँखों से ही वाणी निकलने लग जाती है, जिस वाणी को सुना नहीं जा सकता, अनुभव किया जा सकता है। अरुण चना को रोते देखकर बोला अच्छा होता कि हमलोग इसकी पूरी कथा सुनकर ही लौटते। मैंने भी हामी भरी और सभी साथी अपने रुमाल के सहारे आड़ पर बैठ गए।

चना भगत ने बोलना शुरु किया—"सर्व प्रथम ही किसान हमें बाल बच्चों से वियुक्त कर खेतों में बिखेर देते हैं। रात्रि में जब अंधकार अपना प्रचण्ड रूप धारण करता है, तब चूहा राम को भी मेरे बच्चों को चुरा कर खाने का मौका मिल जाता है। फिर जब निशा का अवसान होता है और सूर्यदेव क्षैतिजतल से मुस्कुरा उठते हैं किसान लोग अपने दैनिक कार्यों में जुट जाते हैं। बड़ी निर्दयता के साथ एक-एक को पकड़कर जमीन के भीतर गाड़ देते हैं। कुछ दिन तक मिट्टी के अन्दर साँस लिए बिना भी जीवित रहता हूँ। परन्तु जब नहीं रहा जाता है, तब मेरा शरीर फूट जाता है और शरीर में विद्यमान सुख की मधुर लालसा लता रुप में अंकुरित हो उठती है। प्रकृति इन्हें प्यार देती है, ओसों से नहलाती है और पाल-पोसकर कुछ बड़ा बनाती है। पर कुछ न पूछो भाई। ज्योंहीं उसमें कुछ पत्ते लगते हैं कि ग्रामीण बालाएँ इठलाती हुई आती है और एक-एक कर सबों की गर्दन तोड़कर आँचल में बाँधती और घर ले जाती है। परन्तु क्या करता आशा का संबल लेकर जीता जाता हूँ। खेसारी दुबे ने चना की करुण और मर्माहत बातें सुन कर काफी दुख प्रकट किया जिससे चना भगत और अधिक बिलख-बिलख कर कहने लगा—जब वसंत आता है, प्रकृति नया शृंगार करती है। पौधों में हरे पत्ते निकलते हैं। टहनियों में नव कुसुम-कली फूटती है। भौंरें गाते हैं। तितलियाँ नाचती हैं और सुरभित गंधों से गुलसन महक उठते हैं। प्रकृति अपने देव की अभ्यर्थना हेतु सज-धज कर तैयार हो जाती है जिससे सारी वसुंधरा नये रंगों से रंजित दीखने लगती है। कोयल की काकली एवं पपीहे की पी कहाँ-पी कहाँ की रट सुनकर दिल में एक हल्की टीस पैदा होने लग जाती है। मैं

भी वसंत अनुभव करता हूँ। मुझमें भी नव-रस प्रवाहित होते हैं। टहनियों में कलियाँ निकल आती हैं एवं समीर के हल्के झोंकों से भी मदमस्त होकर पौधे झूम-झूम उठते हैं तथा नव यौवन के संचार के साथ ही टहनियों में दानों के गुच्छे लटक पड़ते हैं। हम सभी परिवार वाले परिवार की बढ़ती आबादी की सुखद कल्पना कर भावना-विभोर हो उठते हैं। परन्तु उसी समय शरारती बच्चों का गिरोह आता है और नोचना, उखाड़ना शुरु कर देता है। कुछ तो उखाड़कर कच्चे चबाना पसंद करते हैं और कितने उबाल कर। कितना भी तड़पूँ, कितना भी बिलखूँ और आहें भरूँ–पर किसकी कौन सुनता है—दूसरों की गर्दन मरोड़कर अपने उदर की पूर्ति ही लोग धर्म समझते हैं। चना भगत आगे की बात कहने से पूर्व ही चौंक पड़ा और बोला—उफ! क्या बताऊँ उस समय की बात जब मुझे जीवित ही जलाया जाता है। मैं जब छटपटा छटपटा कर अग्नि-लौ से बाहर भागना चाहता हूँ लोग एक नहीं सुनते और मुझे किसी तरह झुलसा ही डालते हैं। मैं छटपटाता, कराहता एवं चीत्कार भरता हुआ पक जाता हूँ। जिसे लोग चाव से खाते हैं। मेरे बच्चे का बिलखना अंधे मानव को सुनाई ही नहीं पड़ता। हाय रे मानव समाज! जो निःसहाय एवं निरपराधों को भी दंड देने से नहीं चूकता। मटर मल ने कहा—बन्धु! मेरी भी हालत कभी-कभी तुम्हारी जैसी ही हो जाया करती है। इसपर धान महाजन ने दोनों को सान्त्वना दी। फिर भी चना भगत बोलता ही रहा—जब उखाड़ने उजारने के बाद मैं कुछ परिवार वालों के साथ बच जाता हूँ तब किसान लोग पक्के दानों की प्राप्ति हेतु हमें एक रस्सी पर बाँध देते हैं जिससे मेरा शरीर का चमड़ा ही छिल जाता! फिर मुझे माथे पर लाद कर खलिहान में एकत्र करते हैं तथा आराम करने के लिए लाठी के सहारे फैला देते हैं। परन्तु कुछ न पूछिए मुझे चैत-बैशाख की चिल-चिलाती धूप में तपाकर कांटा के समान बन दिया जाता है और जिस पर बैलों को दौरी जोत दी जाती हैं। क्या बीतती है? मैं ही जानता हूँ। मैं कराहता हूँ, हाँफता हूँ, चीत्कार भरता हूँ फिर भी किसान लोग मुझे बलें को पीट-पीटकर कभी चित्त, कभी पट्ट रौंदवाते हैं और जब मैं कुचला जाता हूँ तथा दाना अलग हो जाता है तो किसान बालाएँ मुझे अपने सर पर उठा लेती हैं और बड़े आदर के साथ अपने घर लाती हैं।

उस समय, केवल उस समय मेरे जीवन में गौरव एवं आनन्द की घड़ी आती है। मैं साफ सुथरे कमरे में लाया जाता हूँ। वहाँ तक आते-आते मैं घमण्ड से फूल उठता हूँ इसलिए कि मुझे कष्ट के साथ ही सुख का भी दिन देखने को मिला। और वह भी बालाओं के माथे तक। जिसने सदा कष्ट देना ही अपना कर्त्तव्य समझा था। परन्तु मुझे इस क्षणिक आनन्द ने पुनः रुदन में डाल दिया। मुझे तुरत ही लेकर एक तंग कोठी में डाल दिया जहाँ मेरे परिवार वाले तो मिले लेकिन मैं किसी से क्या बोलता हवा के बगैर तो प्राण निकले जाते थे। किसान का इतना दुख देने से भी जब मन न भरा तब हमें कड़ी धूप में सुखाना प्रारम्भ किया फिर कराही में उबालना शुरू किया और अंत में चक्की में बुरी तरह पीसकर सत्तू के रूप में ला दिया। तब आप ही लोग बताएँ कि मैं क्या हूँ? मेरा जीवन कैसा है? तथा मुझे क्या होना चाहिए? इस पर तीसी रानी तथा सरसों देवी ने अपना नीला एवं पीला दुपट्टा काँधें पर रखतीं

हुई बोली—बेचारा जीवन भर यातनाओं को झेलता ही रहता है उफ! कैसा मानव समाज है, जो पालन करने वालों के साथ भी कष्ट देने से बाज नहीं आता? राई कुवाँरी ने भी हामी भरी और चना भगत को धैर्य से काम लेने को कहा। इस पर चना भगत ने कहा—बहनों। मैंने सदैव धैर्य से काम लिया और लिया करूँगा। मुझे तकलीफ तो जरूर मिलती है परन्तु मुझे इसका गम नहीं होता। खासकर उस समय जब मानव मात्र की भलाई, रक्षा एवं आनन्द का मैं साधन बनता हूँ। मुझे कष्ट सभी सुख जैसे लगने लगते हैं—जब मुझ एक के जलने-भुनने एवं झुलसने से अनेकों को लाभ पहुँचता है, आनन्द मिलता है। मुझे इससे बढ़कर कुछ चाहिए भी नहीं। इतना कहकर चना भगत ने माथा झुकाकर अपना बयान समाप्त किया।

धन्यवाद ज्ञापन करते हुए गेहूँ पाण्डेय ने कहा—चना भगत! तुम्हारे मर्मभेदी वाक्यों एवं करुण कहानी को सुनकर जितना दुख हुआ है उससे कहीं ज्यादा आनन्द और उल्लास तब हुआ जब तुमने यह कहा—'मैं निस्वार्थ सेवा का आनन्द प्राप्त कर अपने को धन्य मानता हूं। वस्तुतः इससे बड़ा सुख कोई है भी नहीं। मानव-मानव के उपकार का बदला अपकार से देता है किन्तु एक अनाज की कोटि में होकर भी अपकार का बदला आदर्श रूप में चुकाकर अपने को धन्य समझते हो। ऐसे मानव समाज को लानत है जो विघ्नों से ऊबकर अपने को कायरता के हाथों बेच डालते हैं। फिर सभापति महोदय ने अन्य अनाजों को भी चना भगत के समान धैर्यवान, साहसी, सहन शील एवं आदर्श सेवा का जीता-जागता नमूना देखने की आशा प्रकट कर सभा की कार्यवाही समाप्त की।

तीसी रानी, सरसों देवी एवं राई कुवाँरी ने अपना अपना साल, दुपट्टा एवं ओढ़नी कंधो से लहराती, लपलपाती अपनी राह लीं और हम चारों साथियों ने अपनी। मोहन ने कहा—आज तो बड़ा ही मजा रहा। पौधे भी सभा करते हैं तथा शिष्टाचार का नमूंना पेश करते हैं। मैंने कहा—हाँ मोहन। तुम्हें समझना चाहिए कि चना भगत का जीवन ही मानव कल्याण के लिए उत्सर्ग हो जाता है—चना मानव की सब भाँति सेवा करता है फिर बदले में कुछ नहीं लेता। अतः हमें भी चना भगत से शिक्षा, लेनी चाहिए कि मानव कल्याण के लिए, निःस्वार्थ सेवा के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।



क्या भारत अणुबम बनायेगा ?

सुश्री रेखा दास
स्नातक कला राजनीतिक विज्ञान प्रतिष्ठा (अन्तिम)

आज युद्ध के काले बादल विश्व क्षितिज पर सर्वत्र दिखाई पड़ रहे हैं। सारा संसार शक्ति की होड़ में लगा हुआ है। एक ओर जब छोटे-छोटे राष्ट्र अपनी प्रतिरक्षा में संलग्न हैं, तो दूसरी ओर साम्राज्यवादी भावनाओं से प्रेरित बड़े-बड़े मुल्क छोटे राज्यों को हड़पने अथवा उन पर अपना प्रभाव शक्ति जमाये रखने में प्रयत्नशील हैं। दुनिया के राष्ट्रों ने परस्पर एक दूसरे पर अपना विश्वास खो दिया है तथा प्रत्येक दूसरे को शंका की दृष्टि से देखने लगे हैं इस प्रकार युद्ध के भय के कारण संसार आज एक लाख बीस हजार मिलियन डालर युद्ध की सामग्रियों पर प्रतिवर्ष खर्च करता है। इसी प्रकार नाटो (NATO) मुल्क अकेले एक मिलियन डालर प्रत्येक दस मिन्टो पर युद्ध की तैयारियों पर व्यय करता है। दुनिया के कम विकसित देश भी युद्ध की तैयारियों में अपने को पीछे छोड़ना नहीं चाहते बल्कि उन मुल्कों का व्यय भीउस मद में वर्ष में ५ हजार से लेकर छः हजार मिलियन डालर होता है। साम्यवादी मुल्क रूस स्वयं प्रतिवर्ष दस हजार मिलियन रुबल्स प्रतिरक्षा पर व्यय करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी १९४६ से १९६२ तक युद्ध की तैयारियों में नौ लाख मिलियन डालर खर्च किया है। कितने देश तो उस मद में और भी अधिक खर्च करते हैं, किन्तु यदि उपर्युक्त आंकड़े को ही सही माना जाय तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि विश्व के आर्थिक विकास में जितनी पूँजी लगायी गयी हैं, उससे यह रकम लगभग आधी है जो सचमुच मानव समुदाय के लिए एक महान चिन्ता का विषय है।

भारत भी अपनी प्रतिरक्षा में रत दिखलाई पड़ता है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में उसने पचास हजार मिलियन रुपया प्रतिरक्षा पर खर्च करने का लक्ष्य रखा है। किन्तु वह रकम पर्याप्त नहीं है; क्योंकि चीनी आक्रमण तथा उसके द्वारा बम विस्फोट परीक्षण ने भारत के समक्ष एक नयी स्थिति पैदा कर दी है। अब प्रश्न यह है कि क्या भारत को भी अणु बम बनाना चाहिए और क्या उसके पास अणु आयुधों के निर्माण हेतु सभी साधन उपलब्ध हैं ? इस सम्बन्ध में यह बात कही जाती है कि विश्व में किसी भी राष्ट्र की प्रतिष्ठा उसकी अपनी शक्ति पर ही निर्भर करती है। शक्ति के आधार पर ही रूस तथा अमेरिका आज प्रभावशाली एवं शक्ति शाली माने जाते हैं। अतएव यदि भारत के पास भी अणु आयुध हो जाय तो उसकी भी प्रतिष्ठा बढ़ जायेगी तथा एशिया एवं अफ्रिका में शक्तिशाली राष्ट्र माना जाने लगेगा। उन आयुधों के निर्माण का परिणाम यह होगा कि भारत अपने हितों की रक्षा करने में भी

सक्षम होगा तथा उस पर किसी अन्य मुल्कों के द्वारा आक्रमण की संभावना कम रहेगी। इससे अन्य लाभ यह होगा कि भारत को चीन के मुकाबिले में अन्तरराष्ट्रीय संस्था में भी विशेष स्थान एवं सम्मान मिलेगा क्यों कि राष्ट्रों की यह नीति रहती है कि वह शक्तिशाली राष्ट्रों को विशेष सुविधा प्रदान करें। चीन के शक्तिशाली राष्ट्र होने के कारण ही फ्रांस तथा ईङ्गलैंड उससे दोस्ती का हाथ बढ़ा रहे हैं।

किन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि अणु अस्त्रों के निर्माण ने आज तक किसी भी राष्ट्र को युद्ध भय से मुक्ति प्रदान नहीं की है। रूस तथा अमेरिका के पास काफी अणुबम मौजूद हैं फिर भी वे मुल्क अपने को सुरक्षित नहीं अनुभव करते हैं। अणु शस्त्रों का लक्ष्य प्रहार करना है रक्षा करना नहीं। किन्तु यदि सोचा जाय कि हम प्रहार करेंगे तो शत्रु हम पर प्रहार नहीं करेगा तो ऐसा समझना गलत होगा और उससे भारत के हित की रक्षा कदापि नहीं हो सकती। जहाँ तक अणु बम बनाकर भारत का शक्तिशाली मुल्कों में गिनती होने तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में महत्वपूर्ण स्थान पाने के प्रश्न हैं वह भी आसान नहीं है क्योंकि युगोस्लाविया, स्वीडेन आदि देश भी तुरंत अणुअस्त्रों का निर्माण कर अणु क्लब के सदस्य हो जाना चाहेंगे।

अणु आयुधों के निर्माण सम्बन्धी भारत के सर्वाधिक जटिल प्रश्नों में से एक है और उस प्रश्न के अन्य कई पहलू हैं। प्रथम, आर्थिक पहलू के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यदि भारत अणु बम को बनाना प्रारंभ कर दे तो मुल्क पर कोई विशेष अर्थ भार नहीं पड़ेगा क्योंकि भारत में अणु शक्ति के स्रोतों, खनिज चीजों और भावी जल की कमी नहीं है। बल्कि यहाँ तीस हजार टन युरेनियम है तथा भारत का थोरियम का भंडार संसार के अन्य सभी देशों से बड़ा है। बमों के निर्माण पर खर्च की लागत का जहाँ तक सवाल है अन्य देशों से वह भी अपेक्षा कृत कम है। गत जिनेवा में संयुक्त राष्ट्र संघ ने परमाणु शक्ति के शांतिपूर्ण उपयोग के सम्बन्ध में जो तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया था उसमें राष्ट्र संघ में पढ़े गये एक लेख में बताया गया कि दस किलोटन अर्थात् १० हजार टन टी० एन० टी० (बारुद) के समान विस्फोट पर तीन लाख पचास हजार डालर अर्थात् १७ लाख ५० हजार रुपये की लागत आयेगी और हिरोशिमा पर जो बम गिराया गया था उसकी शक्ति इससे लगभग आधी थी। इस कथन की पुष्टि करते हुए श्री भाभा ने भी कहा है कि भारत १८ महीने के भीतर अणु बम बना सकता है क्योंकि उसके पास वे सारे साधन उपलब्ध हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता कि पचास परमाणु बमों पर दस करोड़ रु० और दो मेगाटन के पचास हाइड्रोजन बमों पर पन्द्रह करोड़ रुपये की लागत आयेगी।

समस्या का दूसरा पहलू तकनीकी और विशेषज्ञों का है। भारत में परमाणु विशेषज्ञों एवं अन्य वैज्ञानिकों का अभाव नहीं है क्योंकि एक ट्राम्बे प्रतिष्ठान में ही अभी करीब १६०० विशेषज्ञ अणु सम्बन्धी विविध कार्यों में संलग्न हैं। इसके अलावे बम्बई से ६२ मील दूर तारापुर में भी एक अणु शक्ति आयोग की स्थापना की जा रही है।

जहाँ से शीघ्र ही ३८० मेगा वाट बिजली उत्पन्न होगी और उसे आसानी के साथ अणु बमों के निर्माण में लगाया जा सकता है।

इस समय विश्व के विभिन्न भागों में काफी संख्या में परमाणु विद्युत्-गृह बनाये जा रहे हैं जिनकी अणु भट्ठियों (रियेक्टरों) के विद्युत् उत्पादन की क्षमता २००, २५० और ३०० मेगावाट प्रति रियेक्टर है और इससे अन्य बड़े विद्युत् गृह बनाने की योजना भी तैयार की जा रही है। फलस्वरुप पर आणु बिजली घरों से इतना प्लुटोनियम प्राप्त हो सकता है जिससे प्रतिवर्ष २० से लेकर ३५ अणु बम बनाये जा सकते हैं।

किन्तु अणु बमों के निर्माण कर देने अथवा उसके निर्माण पर खर्च की लागत कम होने से ही समस्या का समाधान नहीं हो पाता है। आज जो अस्त्र बनाये गये हैं वे कल पुराने साबित हो सकते हैं क्योंकि नये अस्त्रों एवं शस्त्रों के निर्माण की होड़ लगी हुई है। कितने तो ऐसे अस्त्र हैं जिनका कभी उपयोग भी नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि परमाणु बमों की सार्थकता बनाने से अधिक दुश्मनों पर गिराने के लिए प्रक्षेपास्त्र, राकेट और तीव्र गति से चलने वाले वायुयान बनाने में है। किन्तु क्या भारत के पास वे सभी साधन उपलब्ध हैं? आज भारत सुपर-सोनिक वायुयान के लिए कभी रूस से अनुरोध करता है तो कभी अमेरिका के सामने हाथ पसारता है किन्तु तभी आवश्यकता नुसार उसकी प्राप्ति नहीं हो सकी है। अणु आयुधों की तैयारी से सम्बन्धित राजनीतिक पहलू का भी कमी महत्वपूर्ण स्थान नहीं है अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का तकाजा है कि कोई भी राष्ट्र परमाणु बमों के निर्माण की होड़ में न पड़े। अभी संसार के लगभग ५० ऐसे देश हैं जिन्हें किसी न किसी रूप में अणु अस्त्रों के बनाने का ज्ञान अवश्य है। यदि सभी राष्ट्र इस होड़ में पड़ जायेंगे तो विश्व राजनीति का संतुलन ही बिगड़ जायेगा और पिछड़े तथा कम विकसित देशों पर अनावश्यक आर्थिक बोझ पड़ जायेगा अभी भारत के पास तीन अणु भट्ठियां हैं जिसमें जेरलीना की क्षमता बहुत कम है और उनमें से 'अप्सरा' की उत्पादन क्षमता सिर्फ एक मेगावाट है। कनाडा के सहयोग से निर्मित सी० आई० आर (कनाडा इण्डिया रियेक्टर) की उत्पादन क्षमता ४० मेगावाट है किन्तु कनाडा ने ऐसी पाबन्दी लगा दी है कि भारत उसका उपयोग रचनात्मक एवं विकास सम्बन्धी कार्यों में ही कर सकता है, विध्वंसात्मक कार्यों में नहीं। इस प्रकार भारत चाहते हुए भी कई राजनीतिक दृष्टियों से अणु बमों के निर्माण करने में सक्षम नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारी सदा से यह दुर्बल नीति रही है कि आवश्यकता से अधिक हमें किसी चीज का प्रचार करते रहे हैं। चीनी आक्रमण के पूर्व हमारे राष्ट्र के कर्णधार नेताओं का यह दावा था कि सैनिक तैयारियों में हम चीन से पीछे नहीं हैं किन्तु दुःख की बात है कि आज तक हम चीन द्वारा अधिकृत भूमि को वापस नहीं लौटा सके हैं। इसी प्रकार बराबर यह कहा जाता है कि भारत को अणु बम बनाने का शास्त्रीय ज्ञान है। किन्तु इसकी घोषणा करने से उसकी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ेगी। क्योंकि हरेक जानता है कि यह घोषणा नपुंसक पुरुष के ब्रह्मचारी होने की घोषणा के समान है।

विशेषज्ञों का कहना है कि अभी अमेरिका तथा रूस के पास बीस-बीस मेगाटन के लगभग १६ हजार बम हैं और यह उस एक बम को कलकत्ता अथवा बम्बई जैसे शहर पर गिरा दिया जाय तो सारा शहर जलकर खाक हो जायेगा ऐसी परिस्थिति में कोई भी अणु बमों से युक्त राष्ट्र किसी अन्य देश पर तभी बम गिराना चाहेगा जब वह दृढ़ संकल्प कर लेगा कि विश्व का सर्वनाश कर दिया जाय। लेकिन मानव समाज का संहार कोई नहीं चाहेगा।

इस समस्या का अन्तिम पहलू नैतिक है। भारत ने बराबर से अणु अस्त्रों के निर्माण, प्रयोग एवं उपयोग का निषेध तथा निःशस्त्री करण का समर्थन किया है रूस एवं अमेरिका तथा इंग्लैंड के द्वारा अणुबमों के टेस्ट परीक्षणों पर आंशिक प्रतिबन्ध जो समझौता १९६३ में हुआ था भारत ने उसका खुल कर समर्थन किया तथा समझौता पर हस्ताक्षर भी किया। विश्व में किसी भी देश की प्रतिष्ठा उसकी सैनिक शक्ति पर निर्भर नहीं करती है बल्कि उसे राष्ट्र की शुद्ध संस्कृति, ठोस आर्थिक स्थिति एवं नागरिकों के भीतर मनोबल एवं उच्च नैतिक चरित्र की स्थापना कर ही कायम की जा सकती है। विश्व की राजनीति में भारत सदा से तटस्थ राष्ट्र माना जाता रहा है। यदि तटस्थता की नीति का परित्याग कर वह अणु आयुधों के निर्माण में लग जाता है तो उसकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति धूल में मिल जायेगी। ऐसी परिस्थिति में भारत का यह नैतिक कर्त्तव्य होता है कि वह अणुबमों के निर्माण की बात नहीं सोचे। स्वतंत्र पार्टी एवं अन्य कई राजनीतिक दलों का कहना है कि भारत को चीन से बचाव के लिए अमेरिका के आणविक ढाल का संरक्षण प्राप्त करना चाहिए किन्तु यदि भारत वैसा करेगा तो उसे सैनिक संधियों के नियमों में आबद्ध होना पड़ेगा और फलस्वरूप उसे उन मुल्कों को अपने देश में सैनिक अड्डा भी देना पड़ेगा जो तटस्थता की नीति के विपरीत होगा। अणुबमों के विस्फोट का प्रभाव मानव समाज के स्वास्थ्य पर भी बुरा पड़ सकता है, अतएव शक्तियों को रचनात्मक कार्यों में ही लगाया जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान श्री बर्ट्रेंड रसाल ने कहा है फिलहाल संसार सात सौ अरब रुपये प्रतिवर्ष शस्त्रास्त्रों पर खर्च करता है। अर्थात प्रतिदिन लगभग २ अरब रुपये अथवा प्रति घंटे आठ करोड़ रुपये उस पर खर्च होते हैं। शास्त्राओं के निर्माण में कुल छः करोड़ व्यक्ति लगे हैं। उन्होंने बतलाया है कि एक ब्रिटिश विमान-वाहक जंगी जहाज ८६ ½ करोड़ रुपये का पड़ता है और ५३ करोड़ रुपये में विश्व के प्रत्यक व्यक्ति के लिए शुद्ध पीने के जल की व्यवस्था की जा सकती है। इसी रकम से नौ सौ देहाती अस्पताल भी चलाये जा सकते हैं। एक एटलस मिसाइल लगभग ४० करोड़ रु० का पड़ता है और उतनी ही पूँजी लगाकर ५०—७० हजार टन वार्षिक उत्पादन वाला नाइट्रोजन खाद का कारखाना खड़ा हो सकता है।"

इस प्रकार यदि भारत अणुबमों का निर्माण करना चाहेगा तो उसके अर्थतंत्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा क्योंकि भारत अभी अर्द्ध विकसित देश है। प्रत्येक वर्ष इसे खाद्य सामग्रियों के अभाव की पूर्त्ति के लिए लगभग डेढ़ अरब रुपये का गल्ला बाहर से मंगाना पड़ता है। औद्योगिक एवं यांत्रिक विकास के लिए भी इसे अभी अधिक अंशों में दूसरे मुल्कों पर ही

निर्भर करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में यदि भारत उन आयुद्धों के निर्माण एवं उपयोग में अपना साधन लगा देगा तो देश की आर्थिक स्थिति अस्त-व्यस्त हो जायेगी।

हिंसा का शमन हिंसा से संभव नहीं है—अग्नि से अग्नि नहीं बुझाई जा सकती है। बुद्ध, अशोक एवं गांधी का भारत सदा से शान्ति का पोषक रहा है अतएव विश्व की समस्याओं का समाधान परस्पर शांति सहयोग एवं सौहाद्र पूर्ण तरीके से ही होना चाहिए। भारत के सत्तारूढ़ राजनीतिक दल ने गत वर्ष गुन्टुर तथा दुर्गापुर के अपने अधिवेशनों में प्रस्ताव पारित कर अणुबमों के नहीं बनाने का जो निश्चय किया है वह सर्वथा न्यायोचित एवं युक्ति-संगत है अतएव हम सबों का पुनीत कर्त्तव्य होता है कि ऐसा वातावरण बनावें कि अणु शक्तियों का प्रयोग संहारात्मक न होकर मानव समुदाय के कल्याण हेतु सृजनात्मक हो।

देखो, भारत की सीमा पर रण का शंख बजा है,
चींटे सा ही दुश्मन के तन में भी पंख उगा,
मत सोचो, क्या करना होगा, बाकी नहीं समय है
सीमा की मिट्टी पर देखो, उमड़ा महा प्रलय है,
कसम तुम्हें है जन्म भूमि की, त्राता बुलाता है,
चलो एक हो, सीमा पर संग्राम बुलाता है।

—किरण

एक्स किरणें

श्री ब्रजकिशोर मिश्र
स्नातक 'विज्ञान' (द्वितीय खण्ड)

८ नवम्बर १८९५ की बात है कि जर्मनी के एक वैज्ञानिक रौंटजेन (W. K. Rontgen) अपनी प्रयोगशाला में नासपाती के आकार की एक कांच की नली में बहुत ही कम दाब (Pressure) की गैस में विद्युत धारा प्रवाहित कर रहे थे। उनकी प्रयोगशाला जूलियस मैक्समिलन विश्वविद्यालय बुर्जवर्ग में थी। पचास वर्ष के बूढ़े वैज्ञानिक को उस समय आश्चर्य हुआ जबकि उसने प्रयोगशाला की मेज पर रखे बेरियम प्लैटिनोसायनाइड नामक एक रासायनिक पदार्थ की प्लेट को अंधेरे में चमकते हुए पाया यद्यपि उसका पूरा प्रायोगिक उपकरण काले कपड़ों से ढका हुआ था ताकि उपकरण में से कोई भी प्रकाश का अंश कमरे में न आ सके। जैसे ही उसने विद्युत धारा बंद की वैसे ही प्लेट, चमकना बंद हो गया। इस प्रकार उसने कई बार इसबात को दुहरा कर देखा। हरबार ऐसाही हादसा हुआ। तब उसने यही निष्कर्ष निकाला कि अवश्य ही कोई ऐसी किरणें इस उपकरण से निकलती हैं जो प्लेट के रासायनिक पदार्थ में चमक उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार की किरणों का अभी तक पता नहीं चला था। अतः रौंटजेन ने इन किरणों का नाम एक्स-किरण (× – Rays) रखा। इन्हीं के सम्मान में इन किरणों को रौंटजेन किरणों के नाम से पुकारा जाने लगा। इस छोटी-सी खोज ने ही भौतिक विज्ञान में नवीन शाखा को जन्म दिया। तब से ५ साल पहले अमेरिकन वैज्ञानिक डा० गुडस्पीड ने इसी प्रकार के उपकरण द्वारा फोटो ग्राफ लिया था लेकिन इस तथ्यपर प्रकाश न डाल सकने के कारण सेहरा रौंटजेन के ही सिर पर रहा। आगे चल कर इसके द्वारा यूरेनियम विस्फोट तथा अन्य अनेक घटनाओं का जन्म हुआ।

थामस एल्वा एडिसन भी उन दिनों गैसों में विद्युत प्रवाह के ऊपर कार्य कर रहे थे। मार्च १८९६ में स्वयं-निर्मित एक एक्सरे नली पर प्रयोग करते हुए उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि उनकी आँखों पर चमक का एक आश्चर्य जनक प्रभाव पड़ता है। उन्होंने एक ऐसा एक्सरे उपकरण बनाया जिससे उसी उपकरण में लगे बेरियम प्लेटिनो साइनाइड के बने पर्दे पर एक्स रेज टकराकर चमक उत्पन्न करती थी जिसे नंगी आखों से ही देखा जा सकता था। अचानक ही प्रयोग करते समय ऐसा हुआ कि उनका हाथ पर्दे और उपकरण के बीच में पड़ गया। ऐसा होते ही पर्दे पर हाथ एवं हड्डिओं का चित्र दिखाई देने लगा। फिर क्या था। एडिसन इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने अपने

उपकरण के द्वारा शरीर के किसी भी हिस्से की हड्डियों का फोटो लेने के लिए न्यूयार्क में मई १८९६ में एक विशेष प्रदर्शनी का आयोजन कराया। परन्तु इन किरणों के गुणों से अनुभव हीन होने के कारण एक दुर्घटना हो गई। एडिसन की प्रयोगशाला के एक कर्मचारी के शरीर पर, अधिक मात्रा में एक्सरेज पड़ जाने के कारण फफोले पड़ गए और उसकी खाल और मांस जल गए। १९०५ में इन्हीं एक्सरेज के विकिरण के कारण उनकी मौत हो गई। इन्हीं सब कारणों से १८९६ में ही उन्होंने अपने उपकरणों को बेच दिया और अपने पर इन किरणों के प्रभाव का अनुभव कर इस का प्रयोग बन्द कर दिया। यहाँ तक कि इसके प्रयोग को बन्द करने के लिए अमेरिका के ही एक शहर (न्यूजर्सी) में कड़ा कानून बनाया गया ताकि कोई भी व्यक्ति साधारण कांच पर एक्स-रेज का प्रयोग न कर सके।

एक ओर एक्स-रेज के आपत्तिजनक प्रभावों पर टिप्पणियाँ हो रही थीं, दूसरी ओर मेडिकल विभाग के वैज्ञानिक तथा डाक्टर इन्हीं एक्स-रेज को हड्डियों के टूटने एवं गिलटियों को निकालने तथा अन्य असाधारण रोगों का पता लगाने में इस्तेमाल कर रहे थे।

१९ जनवरी १८९६ को डा० ग्रुब ने एक महिला को छाती के कैंसर रोग के इलाज के लिये प्रथम बार भर्ती किया और पूर्ण सफलता पायी। अप्रैल १८९६ में जे० डेनियल ने यह घोषणा की कि एक्स रेज द्वारा चिकित्सा भी की जा सकती है। वह अपने एक साथी के हाथ का फोटोग्राफ ले रहे थे; उन्होंने देखा कि उसके हाथ पर के बाल काफी मात्रा में खत्म हो गये हैं। एक्स रेज का यह अद्भुत प्रभाव था। लगभग एक महीने के बाद ही लैन्सेट नामक एक ब्रिटिस पत्रिका में एक्स रेज द्वारा बाल साफ करने के उपाय पर एक निबंध प्रकाशित हो गया।

गाउडोइन नामक एक फ्रान्सिसी ने इसी अवसर पर फायदा उठाना चाहा और १८९६ की गर्मी के दिनों में पेरिस में एक्स-रेज द्वारा बाल साफ करने की मशीन बैठा ली और अनगिनत अविवाहित लड़कियों की एक भीड़ ही बुला ली। कुछ विवाहित स्त्रियाँ भी अपने होठों पर के अनावश्यक बाल कटवाने पहुँची लेकिन गाउडोइन के दुर्भाग्य से वह मशीन इतनी कमजोर निकली कि मुँह पर के ही बालों को साफ करने में असमर्थ रही, अतः सभी स्त्रियाँ अपनी पेशगी माँगने लगी एवं उसे अपना यह विचित्र बाल काटने का कारोबार बंद कर देना पड़ा।

एक्स रेज इलाज में किसी भी मरीज को आवश्यकता से अधिक मात्रा में शरीर में प्रविष्ट होने पर हानि पहुँचाता है। इसके बाद काफी सावधानी बढ़ा दी गई जिससे मानव शरीर की रक्षा एक्सरेज के विकिरण के प्रभाव से की गई।

मशीन द्वारा उत्पन्न एक्स-रेज की सामर्थ्य नापने के लिए उस समय कोई उपकरण नहीं थे। प्राचीन काल के उपकरणों के बारे में जाँर्ज ई० फ्लेलर नामक वैज्ञानिक का कहना है कि उन दिनों विभवान्तर नापने के लिए न तो वोल्टमीटर थे नहीं विद्युतधारा नापने के लिए एम्मीटर थे। विभवान्तर नापने के लिए उन दिनों दो बिन्दुओं के बीच में समान्तर की लम्बाई की नाप की जाती थी तथा विद्युत धारा नापने के लिए एक्स किरणें पड़ती हुई फोटो प्लेट के सामने हाथ रखकर उंगलियों पर चमक के

परिवर्तन का अनुमान किया जाता था। इस प्रकार के मापों से कितने ही आदमी अपने हाथ एक्स रेज की भेंट चढ़ा चुके थे। १९०० तक इस प्रकार की लगभग १७० दुर्घटनाएँ हो चुकी थीं, जो एक्स रेज के नियन्त्रण रहित विकिरण के कारण हो चुकी थीं। डाक्टर लोग जो रौंटजेन की किरणों से इलाज करके कुछ फायदा उठाना चाहते थे खुद ही अपने जीवन से हाथ धो बैठे। अनेक दिनों तक उनके उनके शरीर पर एक्स किरणों का धीमा और हल्का प्रभाव धीरे-धीरे काफी गहरा होता गया। यह प्रभाव अंत में उनकी जान का ग्राहक बन बैठा।

इन किरणों से उत्पन्न रोगों के बारे सर्वप्रथम डा० ओ० हैसे ने अध्ययन प्रारम्भ किया। उन्होंने १९११ तक ९० से १०० मरीजों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। १९६२ तक को प्रकाशित एक रिपोर्ट में बतलाया गया कि लगभग १०० रेडियो-एक्टीवोटी-विशेषज्ञों की मृत्यु आवश्यकता से अधिक एक्स रेज के विकिरण के प्रभाव से हुई है। अन्य कितने ही प्रकार के प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया कि एक्स-रेज को देर तक बौछार जीवित तन्तुओं को नष्ट कर देती है।

रौंटजेन के इस नये आविष्कार के विकिरण ने परमाणु रचना के और अणु कवच में इलेक्ट्रॉनो के वितरण के अध्ययन में काफी सहायता की है। इससे पदार्थ वैज्ञानिकों को [illegible]ओं की रासायनिक रचना की खोज में एक नवीन पद्धति का भी ज्ञान प्राप्त हुआ।

इस तरह हम देखते हैं कि एक्सरेज से आज कल जो इतना फायदा हमें पहुँचरहा है वही आरम्भ में कितनों की जाने ले चुका है। लेकिन वैज्ञानिकों के सतत परिश्रम ने इस को आज हमारे भलाई के कामों में ही प्रयुक्त किया है और भविष्य मे भी इसके अधिक लाभदायी उपयोग की सम्भावना है।

'बेचारा'

कामेश्वर प्रसाद सिंह
बी. ए. प्रिवियस 'आनर्स'

लिखी हुई है तेरे तन में निर्धनता की करुणा कहानी
आँखों में है दुख के मोती
दिल की साध पड़ी है सोती,
पेट-पीठ में रहा न अन्तर,
उसमें दबी मनुजता रोती
पग का साथी कर की लकुटी मंजिल की है एक निशानी।
बच्चे भूख-भूख चिल्लाते
थके, राह में गिरते जाते,
फिर भी रोटी की आशा में
निर्बल पग बढ़ते ही जाते,
जीवन का दुख-भार वहन करते-करते मिट गई जवानी।
जूठा माँग-माँग कर लाता
फिर भी पेट नहीं भर पाता,
मानवता की दर्द कहानी
आँखों में भर देता पानी
असमय में मानव-सरिता की रुकी जा रही सजग रवानी।
लिखी हुई है तेरे तन में निर्धनता की करुणा कहानी।

अज्ञान

श्री इन्दल सिंह 'नवीन'
स्नातक कला, हिन्दी प्रतिष्ठा 'द्वितीय-खण्ड'

'आलोचना' के परिवेश में प्रवेश करने पर हम पाते हैं कि 'जहाँ साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, जहाँ काव्य जीवन की आलोचना है, वहाँ 'आलोचना' उस साहित्य की अभिव्यक्ति तथा उस काव्य की आलोचना है।' प्रकृति के इस विकृत प्रांगण में सभी उपादान, उपकरण जीव-जन्तु चाहे चेतन हों या अचेतन, ज्ञात हो या अज्ञात, गोचर हो या अगोचर विवेच्य या आलोच्य हैं। परन्तु, आलोचना किसी बनिया की दूकान का 'रसगुल्ला' या 'लालमोहन नहीं जिसे जो चाहे मनपसन्द रसास्वादन कर सकें। आलोचना भी एक कला है जिसका पाट बड़ा व्यापक और विस्तृत है। मनन, चिन्तन और साधना के अभाव में भले कोई आलोचक या अध्येता उपन्यास सम्राट, उस विराट् प्रेमचन्द के 'गोदान' के गोबर और धनिया के नामकरण पर ठहाका मचा दें, परन्तु वह उसके मूल-भाव का अवगाहन पूर्णरुपेण नहीं कर सकता। उसकी मूल-भित्ति, वस्तु-स्थिति को समझने के लिए व्यक्तित्व की पूर्णता तथा प्रतिभा की प्रौढ़ता की अनिवार्य अपेक्षा है। परन्तु, उन विचारों के परिपार्श्व में जब हम अन्वेषण, तथा सिंहावलोकन करते हैं तो पता चलता है कि आज आलोचना की भले ही कमी हो, पर आलोचकों की कमी नहीं हैं। आज तो विषय के बनिस्पत आलोचकों की संख्या कहीं अपरिमेय है। बात-बात पर तर्क वितर्क, खण्डन-मण्डन, छीटाकसी मानों आलोचकों की बपौती सम्पति हो। आज 'को बड़-छोट कहत अपराधू' वाली कहावत इन आलोचकों के लिए सार्थक है। आज छोटे हों या बड़े सभी अपने में शुक्ल, शर्मा, दास, द्विवेदी, नरेन्द्र, धर्मेन्द्र, देवेन्द्र आदि का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होते प्रतिपल-प्रतिक्षण पाते हैं। आज आलोचना मानो बिजली का स्वीच हो जिसे दाबने पर प्रकाश के बजाय चारों दिशाओं में करेन्ट मारता प्रतीत हो। अतः अब 'आलोचना ऐसा जादू है जो सब पर समान असर डालती है"—एक रोज, मेरे मन-मन्दिर में भी आलोचक बनने की एकबारगी गुदगुदी लगने लगी। पलक मारते ही मैं 'आलोचक' बन गया। पर एक द्विविधा सामने आ खड़ी हुई—'विषय चुनने की'। विषय की होड़ लगने लगी पर वह दाँयें से आते बाँयें निकल जाते थे। आगे से आते पीछे भाग जाते थे। मानों उसमें पवन का पैर लग गया हो! अब क्या था? मेरा माथा गर्म होने लगा। बदन पसीना-पसीना हो गया। पर जो हो। मैं तो आलोचक बन चुका था। मुझे तो केवल आलोचना करनी थी; भले ही मेरी आलोचना सुन्दर हो या असुन्दर। सार्थक हो या निरर्थक। दार्शनिक हो या साहित्यिक। मुझे उसका गम थोड़े ही था चाहे समाज पंगु कहे या

पागल। चाहे मूर्ख कहे या विद्वान। मैं तो अपने में मस्त था, किसी तरह विषय चुना—'अज्ञात': परन्तु, अज्ञात को आप समझे। क्या समझे? आम या अमरुद। टमाटर या मटर। नहीं, वह एक नाम है। जिसका काम है—पठन या पाठन। भजन या मनन भोजन या शयन।

'अज्ञात' सचमुच अज्ञात है—'बिखरा बाल, उभरा गाल, होंठ लाल, मदमस्त चाल, बोली कमाल।' यह है उसका बाह्य आवरण। परन्तु, वह है चिन्तन। उसके मानस में सरस्वती का गह्वर है। जब वह किसी विषय पर बोलने लगता है—श्रोता वृन्द मुग्ध हो जाते हैं। भाषा की रवानी, शब्द चयन, मुहावरेदार वाक्य। वाक्य इतना मृदुल, मनोहर कि सबों को कण्ठहार हो। इतना ही नहीं, आत्मीयता ही उसका धर्म है। वह अन्दर से भी इतना साफ है कि कोई भी उस मुकुर में अपनी आकृति देख सकता है। छल-प्रपंच का कहीं नामोशिान नहीं मुझे 'अज्ञात' को निकट से जानने का अवसर प्राप्त हो चुका है। बच्चा सा स्वभाव है उसका। हर समय बात-बात पर मुस्कान भरना, व्यंग्यकर हँसा देना उसकी सादगी, सौम्यता, भावुकता और निश्छलता का परिचायक है। न जाने विधाता से इतना वरेण्य 'वरदान' उसने किस तपस्या, साधना और आराधना के बल पर पाया है। जब मैं उसके अन्दर की कोठरी में प्रवेश कर गंभीर परीक्षा करता हूँ तो उसके वातायन से सर्वदा वही ताजगी, वही बुलन्दी झाँकती हुई पाता हूं। वाह रे प्रकृति का चितेरा। सृष्टि की धरोहर।

परन्तु, एक बात। अज्ञात प्रचार-प्रसार-विस्तार से कोसों दूर रहता है। वह प्रकृति के शान्तवातावरण में, उस दिव्य, भव्य विभावरी में, अपने शयन-कक्ष में, साहित्य-साधना में अनवरत तत्पर रहता है। न जाने उसका क्या प्रयोजन है? क्या वह चिरन्तन-सौन्दर्य का शोध करता है? या क्या वह मानवता की पूजा में रत रहता है? या क्या वह अपने व्यक्तित्व की सिद्धि चाहता है? न अभी उसकी एक भी प्रबल कृति प्रकाश में आयी है जिसके आधार पर वह तौला जा सके। नाम अज्ञात। उसका काम अज्ञात

वह विस्तृत होकर भी इतना सीमित, संकुचित है कि उसपर सतत आलोचना-प्रत्यालोचना की निगाहें उठा करती हैं। परन्तु, सभी घातों-प्रतिघातों को वह शान्त सागर' अचल हिमालय की तरह सह लेता है। कितना गहरा व्यक्तित्व है उसका? कितनी बड़ी पाचन-शक्ति है उसकी?

मुझे पूर्ण आस्था है कि भले ही अज्ञात का पूर्वार्द्ध अन्धकार में है। परन्तु उसका उत्तरार्द्ध अवश्य ही शाश्वत सत्य के प्रकाश से प्रकाशित, उद्भासित होगा। भावी पीढ़ी निश्चित ही उसका मूल्यांकन करेगी। अस्तु।

गुप्त जी की मानिनी यशोधरा

कुमारी नीलम शरण
स्नातक कक्षा (प्रथम खण्ड)

गुप्तजी अपने काव्यों में भारतीय पारिवारिक कवि के रूप में ही आए हैं। मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण तुलसी दास की जाति के कवि होते हुए भी उसी श्रेणी का भक्तिकाव्य ये नहीं लिख सके। उनके राम का संदेश है।

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

'यशोधरा' में व्यक्ति के उत्तोलन पर अधिक ध्यान दिया गया है। आत्य संयम, त्याग और गार्हस्थ्य जीवन की मर्यादा इस काव्य में प्रतिविम्बित है।

'यशोधरा की रचना विरह की पृष्ठभूमि पर हुई है किन्तु विरह का वह रूप इसमें उपलब्ध नहीं जो कातर बना है। गौतम गुप्त रूप से महाभिनिष्क्रमण को निकल पड़ते हैं। यशोधरा पर उन्होंने अविश्वास किया और उससे छिप कर चले गये। यशोधरा इसे समस्त नारी जाति के प्रति पुरुष की चुनौती के रूप में ग्रहण करती है। उसका अन्तर अहं भाव से भर उठता है। उसमें आत्मबल है और है अपने अस्तित्व का पूर्ण ज्ञान। गौतम के महाभिनिष्क्रमण से उसके अहं को ठेस लगी है। उसका नारीत्व चीत्कार कर फुफकार उठा है। गौतम के इस कार्य के भीतर तिरस्कार की भावना है। गौतम ने उसके नारीत्व पर कलंक का टीका लगाया है।

'प्रियतम के प्राणों के पास में हमो भेज देती है रण में' के 'क्षात्रधर्म' से गौतम अनभिज्ञ रहे। उसके मन में 'सखि वे मुझसे कहकर जाते' तो ऐसे समय में 'क्या मुझको वे अपनी पथबाधा ही पाते' की टीस भर उठती है।

वह एक आदर्श नारी है। उनने 'मुख्य उसी को जाना जो वे मन में लाते'। फिर यह अवहेलना क्यों? नारी तो युग-युग से प्यार की मूर्ति रही है, पति के कल्याण के लिए, लोक कल्याण के लिए वह अपने को बलिदान करती आई है, किन्तु उसके मन में जो एक ही चोट रह गई है कि 'सखि! वे मुझसे कह कर जाते' वह विदागान से वंचित कर सिद्धि मार्ग की बाधा नारी समझी गई। 'सिद्धि हेतु स्वामी गये' गोपा के लिए यह 'गौरव की बात' ह किन्तु 'चोरी चोरी गये यही बड़ा व्याघात' है।

वह मानती है कि 'मुझको बहुत उन्होंने माना', वह अपने ऊपर लगाये कलंक को देखती है और कहती 'फिर भी क्या पूरा पहचाना'? वह किस प्रकार इस कालिमा को धोए। पति पर उसे गर्व था किन्तु 'जिसने अपनाया था त्यागा'। फिर भी गोपा वह नारी नहीं जो इस धब्बे को अपने पर लगाए रख सके। वह मान नहीं सकती कि मात्र पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है, अथवा पलायन द्वारा ही मोक्ष प्राप्त

किया जा सकता है। कर्त्तव्य के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होते रहने से सब कुछ पाया जा सकता है मुक्ति पलायन में नहीं भक्ति में है। अतः वह महती है।

'जावो, किन्तु लौट आओगे, आओगे, आओगे'. जो गौतम सम्पूर्ण सृष्टि से सम्बन्ध जोड़ने जा रहे हैं वे क्योंकर गोपा को त्याग देंगे? स्वामी जो कुछ लाएँगे उसमें उसका भी हिस्सा होगा।

वह अपने हृदय की आकांक्षाओं एवं अभिलाषाओं का बलिदान कर नारीत्व की गौरव गरिमा के पोषण में तत्पर हो जाती है। वह संकल्प करती है कि अमृत को भी तुच्छ समझेगी। अपने बालों को काट मांग में सौभाग्य चिन्ह में सिन्दूरी रेखामात्र रखती है। वधूवंश की लाज बचाने के लिए कुसुमादपि से बज्रादपि कठोर बनती है। उसे विश्वास है कि—

"उन्हें समर्पित कर दिए यदि मैंने सब काम,
तो आवेंगे एक दिन निश्चय मेरे राम,
यहीं इसी आंगन में।"

सिद्धान्त रूप में यशोधरा पति का विरोध करती है पर उसके मान में अनुराग भी है। वह तो समस्त सृष्टि में प्रियतम की काया देखती है। वह आहों को छिपाकर भी छिपा नहीं पाती। विरह की घड़ियां भी अनिवार्य ही है। उसका प्रेम जो सच्चा है।

A love is loveliest when enbalmed with tears.

फिर भी उसके अन्तर का सारा विरह राहुल में सिमट कर निखर उठता है। 'गोपा गलती है' तो क्या हुआ फिर 'उसका राहुल तो पलता है'। वह अब जननी है पत्नी से एक कदम आगे वह राहुल के लिए जिए जा रही है, उसे तो स्वामी मरने का अधिकार भी नहीं दे गए। छोड़ गए अपने उस राहुल का सब भार'।

गर्विणी गोपा अपने मान की पगडंडी पर संभाल-संभाल कर पाँव उठाती जा रही है। जब कभी उसके मान की गठरी खुलने की होती है तो उसका धूल धूसरित राहुल उपस्थित हो जाता है। राहुल उसकी थाती है—

भव का यह विभव साथ,
थाती भर किन्तु हाथ।
लें लें कब लौट नाथ,
सौंप बचे चेरी।

गौतम ने त्याग किया है, वह समर्पण जानती है। और इसी बन्धन में मुक्ति देखकर गौतम से भी वह आगे बढ़ जाती है। वह आशावादी है पुनर्जन्म में उसे आस्था है। क्षणभंगुरता के कारण ही तो नूतनता प्राप्त होती है। मरण पुनर्जन्म का संदेश लेकर आता है। यदि अंधकार न हो तो प्रकाश का मूल्य ही क्या? मरण भी काम कैसा जबकि बीज रूप में उसका अस्तित्व रह ही जाता है। उसकी गोद में गौतम का पुत्र राहुल जो रह गया है। साथ ही कामनाओं से भी छुटकाड़ा नहीं मिलता। मुक्ति की कामना भी तो कामना ही है। अतः यह पलायन किस लिए स्वामी यदि मुक्ति देते हैं तो क्या हुआ? वह इन्हीं को बन्धन में जकड़ देगी। वह बन्धन को भी सम्बन्ध बना देगी।

गौतम आते ह गोपा का मान उन्हें आंगन में खींच लाता है। उसकी युग-युग की संचित अभिलाषा

पूर्ण हो जाती है। गोपा राहुल को उनके चरणों में समर्पित कर देती है। किन्तु सन्यासी गौतम को नहीं पिता को परम्परा निभाने के हेतु और स्वयं भी उनकी सेवा में रत हो जाती है। गौतम के चरणों में वह भाल टेक देती है उसका मान बह जाता है।

गौतम उसके नारीत्व के गौरव को स्वीकार करता है। 'दीन न हो गोपे, सुनो हीन नहीं नारी कभी और यह भी कि उसके सिद्ध मार्ग की बाधाओं को गोपा ने ही दूर किया है। भले ही वह स्मृति रूप में हो क्यों न हो। इसी लिए तो गोपा बिन गौतम भी ग्राह्य नहीं'।



अपनी लघु निःश्वासों में, अपनी साधों की कम्पन,
अपने सीमित मानस में अपने सपनों का स्पन्दन।
मेरा अपार वैभव ही, मुझसे है आज अपरिचित
हो गया उदधि जीवन का सिकता-कण में निर्वासित।

—महादेवी

अधूरे अरमान

श्री देवेन्द्र पाठक 'अकेला' धर्म विशारद
स्नातक कला, अर्थ शास्त्र प्रतिष्ठा द्वितीय 'खण्ड'

क्षितिज के विस्तरे पर लेटी हुई उषा आकाश से लिपटकर सिसकियाँ भरने लगी। सदा जाग्रत नीले आकाश का मुख मेघों की चादर ने ढँक लिया। रात्रि निःशब्द निशा में रो रही थी; और खो रहा था मैं। कल्पना एवं भावुकता के फेनिल सागर में डुबोची हुई मेरी विचार-मग्न आस्थाएँ, वे सारी प्रतीक्षाएँ फीकी मालूम पड़ती। आत्मा कभी-कभी संदिग्ध हो उठती—क्या अब मेरा कोई नहीं रह गया ? काश मेरा भी कोई साथी होता !

भास्कर की अलसायी चिर संचित कराहती हुई अभिलाषाएँ, उषा के कपोलों पर लाल गुलेल मल देने से वितृष्णित हुई। क्षितिज में प्रकाश कमल विहँस पड़े। नवीन आशा की रश्मि लिये आकाश पर उष्म की अरुणाई प्रस्फुटित हुई। मानव की रश्मियों की पंखुड़ियाँ प्रस्फुटित हो दिगन्त में बिखर गई। तब काले भ्रमर कहीं छिप गये मानो उषा का आगमन उसके लिए पीड़ा का द्योतक हो। बदली पर किरणें अठखेलियाँ करने लगीं। मुझे सोते देखकर किसी ने हल्की थपकियों से जगाया। आँखें खोलते ही भाग्य के परिहास को प्रत्यक्षतः देखकर मुझे आत्म-ग्लानि हुई। सामने कुछ दूर पर वह भी थी जिसने मेरे जीवन में खुशियाँ लाने की बात की थी……… अवगुण्ठन भरने की ठानी थी।………लेकिन मेरे भाग्य में यह नहीं बदा था।………"मुझ गरीब को शायद नहीं कोई अपना सकता था………।" लेकिन 'उसने' मेरे जीवन को आशावादी रंगीनियों से सजा दिया था………लेकिन अब छोड़ दिया………नाता तोड़ लिया।

शायद अब उस संसार को चाहती है जहाँ आध्यात्मिक अभिप्रेरणाओं का सम्मिलन होता है, मानव मानवता को पहचानती है, जहाँ मानवीय अन्तरात्मा का क्षेत्र भौतिक वाद तक सीमित न रहकर आध्यात्म वाद तक विस्तृत होता है। लेकिन क्या उसमें इतना परिवर्तन आ जायगा ? रक्त मांसल शरीर की दिव्य मूर्धन्य चेतनाओं से वह अपनी समष्टि 'वहाँ' कर लेगी। समझा मेरा भी पथ अब आध्यात्मिक रहस्यवाद होगा। लेकिन क्या मुझ दीन, हीन पर वह स्नेहिल दृष्टि अब न डालेगी ?

जब एकान्तावस्था के मधुरतम क्षणों में मैं समस्या का समाधान ढूँढता हूं तो मुझे लगता है कि ब्रह्माण्ड से एक अलौकिक शक्ति मुझे आप्लावित कर रही है। अलौकिक शक्ति मुझे आप्लावित कर रही है। उस समय मेरा मन जगती की वितृष्णाओं पर तथा अपने अधूरे अरमानों पर क्षुब्ध हो जाता है।

भारत, अणुबम तथा तटस्थता

श्री सुरेश प्रसाद मिश्र, स्नातक कला अं शास्त्र प्रतिष्ठा (द्वितीय खण्ड)

चीन के आणविक विस्फोट के चलते भारत के समक्ष सुरक्षा का बहुत बड़ा खतरा आ उपस्थित हुआ है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि इस खतरे का निवारण किस प्रकार किया जाय। यह भारतीयों के जीवन-मरण का प्रश्न है। क्या हम शत्रु के समक्ष झुक जायें अथवा उसका सामना साहस तथा बल के साथ करें? भारत अणुबम का निर्माण करे अथवा नहीं, इसके संबंध में दो मत हैं। भारतीय सत्तारूढ़ दल अणुबम के पक्षमें नहीं है तथा हमारे पूज्य स्व० नेता पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी संसद में घोषणा की थी कि भारत अणुबम का निर्माण नहीं करेगा।

हमें सर्वप्रथम चीन के अणुबम के विस्फोट के लक्ष्य का मूल्यांकन करना चाहिए। मेरे अनुमान से तो यह उसकी विस्तारवादी तथा साम्राज्यवादी नीति का परिणाम है। चीन के विदेश मंत्री के भाषण "मैं बम बनाने को अपने अधिकारों सेवंचित रहने के बजाय भूखा, नंगा रहना पसन्द करूँगा" से ही अनुमान कर लेना चाहिए कि चीन आवश्यकता पड़ने पर अणुबम का प्रयोग भारत तथा अन्य.. एशियायी राष्ट्रों के विरूद्ध करेगा। इसका फल दबाव के रूपमें स्पष्ट हो चुका है कि एक भी एशियायी राष्ट्र खुलकर उसकी निन्दा नहीं कर सके। अतः ऐसी स्थिति में भारत को अपनी क्षेत्रीय सुरक्षा तथा अखण्डता को बनाऐ रखने तथा अपनी मर्यादा के लिये अणुबम का निर्माण अवश्य करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि हमने अपनी निःशस्त्रीकरण, शांति एवं बन्धुत्व की नीति को त्याग दिया या संसार को युद्ध की विभीषिका में डालना चाहते हैं वरन् अपनी तटस्थता की नीति को बनाये रखना चाहते हैं एवं चीन को यह अच्छी तरह समझाना चाहते हैं कि हम असहाय एवं निर्बल नहीं हैं। यदि हमसे जूझने की कोशिश की उसे नाको चने चबाना पड़ेगा। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हमारी तटस्थता की नीति एक दिन अवश्य समाप्त हो जायेगी क्योंकि हमें अपनी सुरक्षा के लिये अवश्य एक न एक दिन किसी गुट में सम्मिलित होना पड़ेगा। तब हमारी तटस्थता की नीति कहाँ रहेगी।

संसार में अमेरिका तथा रूस के दो गुट हैं। ये दोनों गुट मानव को युद्ध की विभीषिका में डालना चाहते हैं। हमारे कुछ बुजुर्ग नेताओं का कहना है कि भारत को अमेरिकी गुट में सम्मिलित हो जाना चाहिए लेकिन शायद उनको यह कहावत याद नहीं कि लोग अपनी आगको पहले बुझाना चाहते हैं तब दूसरे की आग को। आज अमेरिका वियतनाम में चीन के साथ युद्ध में उलझा है। अतः ऐसी स्थिति में यदि हम उस गुट में सम्मिलित हों तो क्या वह पहले हमारी रक्षाकर सकेगा? कभी नहीं। थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि भारत अमरीकी गुट में सम्मिलित हो जायतो क्या अमरिकी सेना हमारी रक्षा करने यहाँ आयेगी कभी नहीं। उस दोस्त पर क्या विश्वास किया जा सकता है जिसने

पाकिस्तान के सिर्फ कहने से ही लड़ाकू विमान देने से इन्कार कर दिया। बड़े दुख की बात है कि ये लोग अपने को इतना कम जोर समझ रहे हैं तथा अपने वीर पूर्वजों को विस्मरण कर अपनी रक्षा के लिये याचक के रूप में दूसरों के आगे हाथ पसारना चाहते हैं।

जहाँ तक रूस का प्रश्न है वह चीन को अपना भाई तथा भारत को दोस्त समझता है। अतः उस पर क्या विश्वास किया जा सकता है कि अपने भाई को छोड़कर दोस्त की मदद करेगा जो अभी भी वियतनाम में चीनी नीति का समर्थक है। भारत किसी गुट में सम्मिलित रहकर भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता। अतः भारत को अपनी सुरक्षा के लिये तथा तटस्थता की नीति को बनाये रखने के लिये अवश्य ही अणुबम का निर्माण करना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि क्या भारत अणुबम के साधनों से युक्त है या नहीं? अणुबम के निर्माण का असर हमारी अर्थ व्यवस्था पर क्या पड़ेगा? हमारे श्रद्धेय प्रधाना मंत्री ने हाल में ही स्वीकार किया है कि हममें अणुबम बनाने की क्षमता है। यदि हम बनाना चाहें तो यह कोई कठिन काम नहीं, तो फिर क्यों नहीं हम अपनी सुरक्षा एवं क्षेत्रीय अखण्डता को बनाये रखने के लिये अणुबम का निर्माण करें। हमारे यहाँ उन खनिज पदार्थों की कमी नहीं जिससे कि अणुबम का निर्माण होता है। उल्टे हम उसका उपयोग करने के बदले विदेशों में निर्यात कर देते हैं। अतः भारत को अणुबम बनाने में उतना खर्च नहीं पड़ेगा जितना कि अन्य देशों को जो कि विदेशी आयात पर निर्भर हैं। जहाँ तक भारतीय अर्थ व्यवस्था पर उसका प्रभाव का प्रश्न है, इसका बोझ तो कुछ अवश्य पड़ेगा लेकिन अभी तो हमारे समक्ष जीवन मरण का प्रश्न है। अतः क्यों नहीं कुछ और भार को सहकर हम चीनी खतरे के निवारण के लिये अणुबम का निर्माण करें।

जहाँतक अणुबम के निर्माण के फल का प्रश्न है स्पष्ट हो चुका है कि चीनी के आणविक विस्फोट के चलते उसका प्रभाव अन्य देशों पर पड़ा ही है।

हर यज्ञ की पूर्णाहुति के लिये कुर्बानी की आवश्यकता होती है। यदि हम स्वतंत्र रहना चाहते हैं तथा दूसरों को स्वतंत्रता पूर्वक जीवन-यापन करने की सलाह देते हैं तो आवश्यक है कि अणुबम का निर्माण कर अपने तथा अन्य एशियायी-देशों की स्वतंत्रता की रक्षा करें।

कुछ महान नेताओं का कहना है कि अणुबम का निर्माण देश में तभी होगा जब एक भी शिष्ट व्यक्ति देश में नहीं रहेगा। मास्को सन्धि का उल्लंघन होगा तो विदेशों से भारतीय प्रभाव मिट जायेगा। लेकिन उनलोगों का यह कथन भावुकता का परिचायक है भारत के समक्ष, धरती की लाज तथा जीवन का प्रश्न है, उस स्वतंत्रता का प्रश्न है जिसे हमारे पूर्वजो ने प्राणों की बलिदेकर पाया। क्या हम उसकी रक्षा के लिये थोड़ी भी चिंता नहीं करेंगे। अतः उपरोक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि भारत को अपनी सीमाओं तथा तटस्थता की नीति जो कि हमारी विदेश नीति का मूल आधार है, कि रक्षा के लिये अणुबम का अवश्य निर्माण-करना चाहिए।

वैभवशालिनी

रामशरण अग्रवाला
स्नातक कला (प्रथम खण्ड)

'जी तो तुझे अंक में भर लेने को चाहता है लेकिन अपनी तुच्छता के मारे चरणों में निःशेष हो जाने की कामना शेष है।' दैनंदिनी में ऐसी श्रद्धा वारंबार प्रिय के लिए व्यक्त होती रही और इसे मिलन के बादल मिटाने आए लेकिन वह तो और बढ़ गयी।

सूर्य एवं वारिवृन्द की आँख मिचौनी में, मुजफ्फरपुर छोड़ चला, उससे लगभग १८ मील दूर पश्चिम। नगर के भवन ओझल हुए प्रिय की चौखट निकट आती हुई प्रतीत हुई। विशाल राजपथ उनपर विचरते रत्नजटित रथ। सुन्दर एवं सुडौल व्यक्तियों के जमघट अपने में गणतंत्र के लिए श्रद्धा एवं भक्ति का अथाहागार छिपाए हुए। ओठों पर मुस्कान दासी बनी पड़ी रहती है। वस्त्रों की रंगीनी तितली के परों की रंगीनी को फीका कर देती है। मद्य की दूकान से दाव खो, ला जा, गौड़, माध्वीक, खरीद कर क्या करूँ ? सारी नगरी ही मद्य बरसा रही है और नशा ऐसा कि तम भाग जाय। दम्भ का ढेर है लेकिन मानवीय भावनाएँ सर्वोपरि हैं। अरे ! जन कितने शिष्ट हैं। उनका व्यवहार क्या है। मिश्री की डली है। गली-गली से कला प्रियता की झलक मिलती है। 'उतरिए'। इस 'उतरिए' ने तो मन को कल्पना गगन से उतार खड़ा किया। लेकिन, यही तो प्रिय की अमर भूमि है।

इस गौरव मंडित भूमि पर मैं भी गौरव के साथ खड़ा हो सकता हूँ। पुण्य से पूर्ण, निर्मलता से आप्लावित, इस स्थान पर अपनी तुच्छता पर संकोच अनुभव होता ही है। अरे तेरा यह ध्वस्त रूप। प्रियतम, के आंगन में पहुँचते ही कल्पना का प्रासाद ध्वस्त होता सा लगा। यह खंडहरों का 'बसाढ़' वही वैशाली है जो कभी लिच्छवी, क्षातिक, वज्जी, उग्र, भोज, एक्ष्वाकु, और कौरवों के संघ की राजधानी थी। मीलों में तेरा फैलाव था। योजनों में प्रभाव। लक्ष्मी तुम्हारी परिचारिका थी, सरस्वती की गंगा तेरी गलियों में बहती थी। राजकुमारों ने तुम्हें कोमल-कान्त पदावली की तरह सजाया था। वैभव का सौन्दर्य तुममें अपने को चरितार्थ करता था। जनोल्लास की चुनरी में तुम सदा नवोढ़ा लगती थीं। गोरियों के मधुर स्वर का मोहक कंठहार मन-मंदिर को बाँध लेता था। 'अजातशत्रु' भी तेरे करों से एकता की चूड़ियाँ तोड़ने का प्रयत्न करते रहे। तेरे ही माथे पर विश्व के प्रथम गणतंत्र की बिंदिया चमकी थी। मर्यादा पुरुषोत्तम ने भी तुम्हें स्नेह भरी दृष्टि से निहारा था। तेरे आँचल को ही तथागत की चरण-रज पाकर इतराने का अवसर मिला करता था। तुम्ही ने स्पष्ट कर दिया कि योगी और भोगी की क्रिया में कोई अंतर नहीं होता लेकिन प्रवृत्ति में घोर अंतर

होता है। तुम्हारी ही गोद में एक लाड़ला महावीर जन्मा था और एक सौन्दर्य, आभा, रूप, माधुर्य, एवं कोमलता का झरना भी फूटा था—अम्बपाली के रूप में। लेकिन प्रिय, तेरी पैंजनी से पीड़ा भरी ध्वनि प्रतिध्वनित क्यों होती हैं? तुम निराली थी। अनूठी थी। परन्तु यह कैसा अनूठापन था कि नगर की सर्वाधिक सुन्दरी को नगर वधू बना दे? तूने अम्बपाली का सतीत्व, स्त्रीत्व, मर्यादा, यौवन, रूप, और देह का इसीलिए अर्पण करा लिया कि उसे विधाता ने अथाह रूप दिया था? ऐ, विश्व नगर वधु! तूने उसके कुलवधू के अधिकार को छीन उचित नहीं किया। यशस्विनी। तुम्हारे गौरवमय भाल पर यह कलंक का टीका मिट नहीं सकता। यह फीका पड़ चुका है—तू ऋणी है तथागत की।

गार्डीनर लाख कहो मेरा स्वर्णयुग तो रूप-धन, संस्कृति, विद्या की इस वैभव शालिनी के आँचल में बँधा है। तूने अपने आप को लुटा दिया लेकिन मस्तिष्क पर स्मृति-रेखा को अमिट क्यों कर रहने दिया? बारबार तेरी चौखट पर आता हूं। प्रिय, तेरी सखी मेरी आत्मा तुझमें निःशेष हो जायगी। यही उसकी अंतिम परिणति है। वस्तुतः—

किस अतीत गौरव की गाथा, कवि तू गाने आया है?
किस युग की तू करुण कहानी हमें सुनाने आया है?
क्यों विस्मृत घटनाओं की फिर याद दिलाने आया है?
क्यों सदियों की सुप्त वेदना पुनः जगाने आया है?
रहने दे वे मूक व्याथाएँ सारी अपने ही मन में
मत कह क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन में

—:०:—

दूसरों की आँखों का अमंगल चाहने से किसी की पवित्रता की रक्षा नहीं होती, क्योंकि वास्तविक पवित्रता का प्रमाण यही है कि मलिन-से-मलिन दृष्टि भी उसका स्पर्श कर पवित्र हो जाये।

'महादेवी'

उपन्यास में वास्तविकता

(श्री जैनेन्द्र कुमार की विचार धारा का एक विश्लेषण)

श्री रामकृष्ण सिंह, स्नातक कला हिन्दी प्रतिष्ठा (द्वितीय खण्ड)

'साहित्य का श्रेय और प्रेय' में जैनेन्द्र ने उपन्यास के क्षेत्र में वास्तविकता का स्थान निरूपित करने का प्रयास किया है। वस्तुतः उपन्यास के स्वरुप और प्रयोजन को ध्यान में रखकर ही वास्तविकता के सम्बन्ध में कुछ कहा जायगा।

'उपन्यास में वास्तविकता' निबंध के लेखक श्री जैनेन्द्र कुमार ने वास्तविकता का लघु अर्थ बतला कर उपन्यास में उसकी सम्भावना एवं परिणाम की ओर संकेत किया है। लेखक का विचार यद्यपि वैयक्तिक है किन्तु ठोस तर्क के आधार पर सब कुछ सर्व ग्राह्य बन गया है।

वास्तविकता का अर्थ है—तथ्य। इसे अंग्रेजी में 'फैक्ट' कह सकते हैं। यह यथार्थ के निकट है जो इन्द्रियों से जितना ही जाना जाता है वह उतना ही हमारे लिए अधिक वास्तविक बन कर उपस्थित होता है।

उपन्यास कल्पित घटनाओं के आधार पर जीवन के सत्य को ढूँढ़ने की चेष्टा करता है। मनुष्य का जीनव दुनियाँ में वास्तविकताओं से घिरा होता है। सत्य असीम है, इसके विपरीत जीवन की वास्तविकताएँ सीमित होती है।

जीवन की वास्तविकताओं को दो कोटि में विभक्त किया जा सकता है—एक के अन्तर्गत् मनुष्य की लाचारियों के कारण उत्पन्न व्यापार, नित्य-नैमित्तिक जीवन की घटनाएँ और व्यापार आते है, इस कोटि की वास्तविकता स्थूल है। इससे जीवन का सत्य और भी ढँका रहता है। अतएव उपन्यास की घटनाओं में इनका कोई स्थान नहीं होता। दूसरी कोटि की वास्तविकता सत्य को समझने और समझाने का माध्यम बन कर उपस्थित होती है। उपन्यास में रस, चेतना के जागरण, घटना के पीछे कारण, अनेकता के पीछे एकता, चरित्र की मानसिकता और पात्रों की भीतरी सच्चाई को जानने के लिए इसी ढंग की वास्तविकता के गहरे जाना पड़ता है। ऐसी वास्तविकता का निर्माण उपन्यास में पात्रों की क्रिया और वातावरण के रूप में प्रकट किया जाता है। सामाजिक उपन्यासों में इस प्रकार की वास्तविकता की अधिक आवश्यकता होती है। किन्तु इस प्रकार की वास्तविकता को भी उपन्यास में इस ढंग से रखना चाहिए कि अलक्ष्य सत्य प्रकट होकर भी छिपा रहे। वास्तविकता आवश्यकता से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसी में वास्तविकता की सार्थकता है। वास्तविकता का कोई परिमाण निश्चित नहीं होता अर्थात् यह बतलाना कठिन है कि वास्तविकता का किसी निश्चित अंश में होना अनिवार्य है। उपन्यास में वास्तविकता की अपनी कोई सत्ता नहीं होती। वह तो

एक वाहन है जिस पर चढ़कर सत्य पाठक को रसान्वित कर उनके व्यक्तित्व का अंश बन जाता है। उपन्यास का हृदय सत्य है, शरीर उसका वास्तविकता है। उपन्यास में यह जितनी ही कम होगी उतनी ही अच्छी बात है। अगर उपन्यास वास्तविक होने की कोशिश करेगा तो वह निरर्थक घटनाओं का जाल हो जायेगा। उपन्यास में इस आदर्श की पूर्ति रोमांटिक वृत्ति के द्वारा होती है। यह वृत्ति और कुछ नहीं, पाठक को वास्तविकता से परे, ऊँचे ले जाने वाली वृत्ति है। उपन्यास में इसकी आवश्यकता यथार्थ या वास्तविकता के प्रति किंचित उपेक्षाशील और सत्य के प्रति उन्मुख होने के लिए आवश्यक है।

उपन्यास जीवन में गति देने के लिए है। गति अर्थात चेतना (चैतन्य)। उपन्यास से प्राप्त गति पाठक को उत्तेजित नहीं करती है बल्कि उसकी उत्पत्ति स्वयमेव होती है। उस गति का स्वामी पाठक स्वयं होता है। उपन्यास पाठक के अंतश्चैतन्य को उद्बुद्ध करता है। और उसउद्बोधन के प्रकाश में वह फिर स्वयं अपना मार्ग पाकर बढ़ चलता है। यह ठीक है कि मनुष्य की वास्तविकता एक दूसरे से भिन्न होती है फिर भी उपन्यास का चेतना के उस विकास से सम्बन्ध हैजो किसी भी दिशा में गति करने की शक्ति को समृद्ध करता रहे। सब जगत व्यापार वस्तुतः भीतरी प्राणों की अभिव्यक्ति है। अतएव जीवन की गति को चारों ओर प्रवृत्त करने का काम साहित्य से अनायास हो जाता है।

साहित्य या उसकी एक विधा उपन्यास चेतना को गति अर्थात जगाकर भी परिस्थिति (वास्तविकता) को भंग नहीं करता। साहित्य परिस्थिति वा चेतना इन दोनो के लिए ही सहारा है। वाह्य परिस्थितियाँ वासनाओं के वशीभूत होती है। और ये सर्वदा चेतना विरोधी एवं गति विरोधी बनी रहती है। यह एक प्रकार की निष्क्रियता लाती है। मनुष्य परिवर्तन शील है, और परिवर्तन ही गति अर्थात चेतना का जीवन है। जो उपन्यास चेतना को नहीं जगाता सिर्फ मनोरंजन करता है वह स्थिति तुष्टि तामसिक है। वही उपन्यास श्रेष्ठ है जो जड़ता वा निष्क्रियता लाने वाली वास्तविकता अर्थात् परिस्थिति के प्रति उपेक्षा का भाव जगावे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपन्यास को स्थिति चित्रण या वास्तविकता में लिपट कर नहीं रहना चाहिए। उपन्यास परिस्थिति की आलोचना कर जीवन को गति प्रदान करने की चेष्टा करे। गति देते समय परिस्थिति का त्याग नहीं होना चाहिए। इसी में उपन्यास अपना दायित्व निभा सकता है।

अपने उपर्युक्त विचारों के लिए निःसंदेह श्री जैनेन्द्र साधुवाद के पात्र हैं।

सिन्दूर

श्री शालिग्राम सिंह
स्नातक द्वितीय खंड 'कला' राजनीति विज्ञान "प्रतिष्ठा"

जग्गू जब सबेरे सोकर उठने लगा तो उससे उठा नहीं गया। शरीर में असह्य पीड़ा थी। नस-नस टूट रही थी। कराह कर पुनः अपनी फटी-चिथड़ी पर लेट गया। इतने में मालिक की फटते बाँस से निकली ध्वनि की तरह आवाज आई—'रे जगुआ रे।' उठेगा कि दिन भर सोता रहेगा! गाय कब चरेगी? हरामी कहीं का। ओह! इन सबों के मारे तो नाकोंदम हो गया। न जाने कहाँ का आलस्य इन सबों पर सवार है।" और वे बड़बड़ाते हुए एक ओर चले गये। बेचारा किसी तरह आह! ऊँह! करता उठा। दोनों हाथों सिर दबाये धीरे-धीरे मालकिन के निकट जा पहुँचा!

मालकिन महरी से बर्त्तन मँजवा रही थीं। सामने ढेर लगे बर्त्तनों को कातर नयनों से देखती हुई बेचारी बर्त्तन भी माँज रही थी और उपदेशपूर्ण डांट भी सुनती जाती थी। पापी पेट जो न कराये। जगुआ को देखते ही मालकिल बोलीं—"क्योंरे? अभी तक गाय चराने नहीं गया है? ठहर! आज तेरा खाना बंद कर देती हूं। मोटाई चढ गयी तुझे। महरी एक सूनी दृष्टि डालकर पुनः अपने काम में लग गई। बेचारा आया था दया की आशा में, मिली झिड़की। दिल बैठ गया। फिर भी रुखे कंठ से बोला—"मालकिन"।..........

"क्या है?........" मालकिन की त्योरियाँ ज्यों-की-त्यों थीं। "कपार में दर्द......। मन ठीक न........।" जग्गू ने घुटकते हुए कहा तुम्हें सब दिन नखरा रहता है! आज सिर दर्द तो कल पेट दर्द। तुम्हारे बदले में गाय कौन चरायेगा! खायेंगे नौ मन और कमाने में नानी मरती है। हरामखोर! एक दिन खाना बन्द कर दूँगी बस अक्ल ठिकाने आ जायगी। जा गाय को खोल दे। सबेरे चले आना! हाँ, थोड़ा तेल लेकर कपार में रगड़ ले ठीक हो जायेगा।"—मालकिन के स्नेह और करुणा की अंतिम बूँद तेल बनकर बरस पड़ी। बेचारा तेरह-चौदह वर्ष का बालक भग्न हृदय डबडबाई आँखें लिये चल पड़ा। काश! आज उसके माँ-बाप होते!

चुपचाप छड़ी उठाकर किसी तरह गौओं को हाँकता हुआ जंगल में पहुँचा। तेल भी नहीं लगाया। गायें प्रसन्नता पूर्वक हरी-हरी घास चरने लगी। उन्हें क्या पता, उनके सेवक पर क्या बीत रही थी? जग्गू चुपचाप मन मारे, नीम की छाँह में घुटनों में सिर छिपाकर बैठ गया। उसकी आँखें लाल थीं और कलेजा धौंकनी की तरह चल रहा था। जग्गू को आया जान, चरवाहों का झुंड दौड़ता हुआ आ पहुँचा। पाँच-सात वर्ष से लेकर पन्द्रह-सोलह वर्ष तक के बच्चे-बच्चियों का झुंड था। सबों ने जग्गू भाई!

चलो कुछ खेला जाय। डोल-पाती ही सही।'—जग्गू ने सिर उठाकर उनकी ओर देखा। 'न भाई! मुझे तंग मत करो, मेरा जी ठीक नहीं है। मैं आज कुछ नहीं खेल सकूँगा।"—जग्गू ने उदास दृष्टि से धरती निहारते हुए कहा। जग्गू भाई उठो! तुम न रहोगे तो सारा मजा किरकिरा हो जायेगा"—सुखारी ने मुँह बिचका कर कहा। आखिर जग्गू उसका नायक जो था। हर जगह, दुख में भी। खेलने, तैरने, गाछपर चढ़ने में भी। वह उनके छल-प्रपंच रहित नैसर्गिक दिलों का राजा था। उनके स्नेहपूर्ण सहवास में अपने मा-बाप की याद भूल जाता था। यहाँ तक कि मालिक मलकिन के निर्मम व्यवहारों को भी, जिसे वह पापी पेट की तुष्टि के लिए सहता था।

"मैं कहता हूँ, तुमलोग जाओ! बेकार जिद्द मत करो।" नायक की आज्ञा पर सबों के सिर झुक गये। सभी मन मारे उदास मुख चले गये। रह गई केवल एक बालिका। बारह-तेरह साल की, गोरी, सुन्दर, शांत-गंभीर, भोली-भाली। जिसकी जवानी बचपन के आंगन में झांक रही थी। बचपना अभी गया नहीं था अतः न उसमें उफान था, न बासना के लाल डोरे थी केवल बाल-सुलभ कोमलता, स्नेह और सौहार्द्र। कुछ देर तक खड़ी रही फिर धीरे से आकर जग्गू के निकट बैठ गई।" जगत। आज तुझे क्या हो गया है? चलो न तालाब से कमल नाल लावें। क्या आज वनदेवी नहीं बनाओगे?" अपनी भोली-भाली आँखों को जग्गू के चेहरे पर टिकाते हुए बोली। किन्तु उसकी जलती आंखें देख सहम गई। जग्गू चुप रहा। केवल एक बार कातर नयनों से उनकी ओर देखा। "बोलो न! क्या हुआ है?..........", "..........।" "क्या मालकिन ने कुछ..........।" "..........।" "नहीं बोलोगे? मुझ से रूठ गये?" कहते कहते उसने उसके हाथ पर हाथ रख दिये। 'अरे' वह चौंककर हट गई।" तुम्हारी देह तो तवे की तरह जल रही है।" "मुन्नी.......।" जग्गू ने रूँधे कंठ से पुकारा। इसके लिये चुप रहना अब असह्य था। लेकिन चुप्पी फटी भी तो आँसुओं के रूप में। भीत चकित मुनिया जग्गू के साथ चुपचाप टपाटप आँसू गिराती रही। वह नादान बालिका क्या करे!

"जगत! तुम्हें बुखार है तेज बुखार! घर चलो।"—मुनिया की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता सहज बुद्धि के आगे पराजित हो गई। "घर कहाँ जो चलूँ ....।" "जग्गू इतना ही बोल सका। और फिर अपने में खो गया। उसे अपने जीवन की धुँधली स्मृतियाँ याद आने लगी। शायद मंजिल पर पहुँचा राही एक दीर्घ निःश्वास लेकर पथ का पुनरावलोकन कर रहा हो। उसे थोड़ी थोड़ी याद आने लगी—जब एक ही दिन उसके घर से दो अर्थियाँ निकली थीं। वह माँ! माँ!! बापू! बापू!! करता उन अर्थियों से लिपट गया था। उनके साथ जाने का हठ करने पर कितनी मुश्किल से उसकी दादी ने उसे सम्हाला था। विधना के उस वज्राघात को जवान बेटे के शोक को भूलकर उसकी अन्धी दादी ने उसे सम्हाला था। माँ-बाप के स्नेह के लिये तरसता क्या रहा, उसकी अनुभूति ही नहीं हुई। यद्यपि दूसरों को देखकर उनका अभाव उसे बुरी तरह खटकता। किन्तु बेवसी के सिवा था ही क्या? नियति की निर्ममता तो उस समय और पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब दो वर्ष बाद दादी की छत्रछाया भी ऊपर से उठ गई। महल से निष्कासित होने के बाद झोपड़ी को कौन पूछे वृक्ष की छाया भी शायद नसीब नहीं होती है।

बेचारा अष्टवर्षीय बालक दो-तीन वर्ष तक तिरस्कृत बहिष्कृत अवारे कुत्ते की तरह जिन्दगी बसर करता रहा। सब जगह हाथ फैला देता। कोई दुरदुरा देता। कोई चार-चने रख देता। कोई पूछता "नौकरी करोगे?" और हाँ कहने पर प्रत्युत्तर निकलता—"तुम जैसों का कौन ठिकाना, कोई सामान लेकर ही चलते बनोगे।" और इन्हीं विषमताओं के बीच उसका बालक मन पीड़ा से कराह उठता और फिर किसी वृक्ष के नीचे बैठ आठ-आठ आँसू बहा लेता। जिन्हें देखने वाला उस वेदर्दी के सिवा कोई नहीं रहता।

एक दिन एक दरवाजे पर हाथ फैलाए खड़ा था कि मालिक ने कहा नौकरी करोगे! "सब कहते हैं कि कुछ लेकर भाग जाओगे? तुम्हें कौन रखेगा?" उसने सरलता से उत्तर दिया। और उसी दिन से वह पं० दीनदयाल तिवारी के यहाँ नौकर हो गया। किन्तु उस कोमल हृदय वाला को यह आश्रय कितना महँगा पड़ा यह उसका दिल ही जानता है।

उस ग्यारह-बारह साल के बच्चे से दिन भर काम करवाना, बात-बात पर डाँटना अखाद्य भोजन और स्नेहहीन व्यवहार एक एक कर उसके सामने नाचने लगे। वह पीड़ा से कराह उठा। गालों पर अश्रु की धारा बह चली मुनिया अवाक उसका मुँह निहारती रही। वह उसकी पीड़ा समझती थी लेकिन वह करे तो क्या? उसने उसका हाथ पकड़ कर धीरे से कहा— मेरे घर चलो!

'और गायें'। उस स्थिति में भी उसकी कर्त्तव्य बुद्धिमानी नहीं। अपनी चिंता करो। मुनिया के संग घर जाओ। गायें मैं पहुँचा आता हूँ"। आते हुए चन्ना ने कहा। मुनिया उसे सहारा देकर अपने घर ले चली और चन्ना गायों को लेकर तिवारी जी के घर की ओर।

मुनिया की माँ, विधवा राजो आँटा पीस रही थी कि मुनिया का स्वर सुन पड़ा—"माँ! समय से पूर्व आगमन और घबराहट पूर्ण स्वर सुनकर राजो घबराई सी बाहर निकल आई। 'क्या है बेटी!' माँ तनिक सहारा दो। जगत को बुखार.......।" और उसके आगे उससे नहीं बोला गया। माँ ने जल्दी से बिछावन किया। और उसे लिटाने लगी! संस्पर्श होते ही चिल्ला उठी बाप रे! इतना बुखार! हाथ जल गया। कब से बुखार है बेटी?" 'राजो ने कहा सुबह से'। "और तब भी तिवारी जी ने गाय चराने भेज दिया। राम! राम! आदमी है कि राक्षस! अपना बेटा रहता तो बुझाता। दूसरे का बेटा खटी-कोवार है। इसी नीयत से तो भगवान घर भरे हुए हैं? बेटी! जा तो, जरा भगत जी को बुला ला। ठढी हवा लग गई हो। और हाँ, बैध जी को भी बुलाती आना। जरा जल्दी आना। मैं तबतक बैठती हूं। हे महावीर जी! हे कासी माई! नीरोग कर दो तो सम्पूर्ण पूजा दूँगी। हे ब्रह्मबाबा!

और तब तक मुन्नी लौट आई। भगत जी आये पंडित जी आये, बैद्य जी आये। सब अपनी-२ करामात दिखाकर चले गये। मुनिया रात भर जग्गू के सिरहाने बैठी भगवान के चरणों में अश्रुओं की माला और मूक प्रार्थना अर्पित करती रही। रह-रह कर उसका हृदय काँप उठता। हृदय में एक अजीब बेकली और टीस उठ जाती। जग्गू रात भर बेहोश

रहा। रात भर चिल्लाता अनाप-सनाप बकता रहा। माँ! माँ!! ···· ··· आता हूँ माँ! तुम्हीं तो मुझे छोड़ गई! माँ भी कहीं पुत्र को इस तरह छोड़ती···। मुनिया······आह! ·········वनदेवी·········मेरी रानी ·········तुझे नहीं पा सका·········ओह! अब नहीं बचूँगा·········माँ·········मुनिया········। और मुनिया का कलेजा रह-रह कर मुँह को आ जाता। बड़ी मुश्किल से उसकी रुलाई रुकती। माँ-बेटी ने जागकर भोर किया। रातभर में जो कुछ सम्भव हो सका, किया। ओझा, वैद्य, गुहरौती, मनौती। किंतु जग्गू नहीं बचा। नहीं!! राजो का मातृ हृदय कराह उठा। वह फूट-फूट कर रोने लगी और मुनिया उस बेचारी का तो अज्ञात सुखद लोक ही लुट गया। इधर अर्थी निकली और। उधर मुनिया 'हाय! राजा' कहकर कड़ाक से गिरकर बेहोश हो गई। विधाता ने उसकी माँग की अज्ञात सिन्दूर ही पोंछ लिया था।

गीत

श्री रणविजय सिंह स्नातक कला द्वितीय खण्ड (प्रतिष्ठा)

अब व्यथा के हास में उल्लास पाया

मैं सँजोता था गगन के तार में विश्वास
खोजता विश्वास की तह में अलस आवा
जानता इन्सान में इन्सानियत का हास
क्या पता उस हास में कितना बड़ा परिहास?
उस सुनहले स्वप्न में कुछ भी न पाया
पर व्यथा के हास में उल्लास पाया!

मैं समझता था न अपने, हैं पराये
दर्शनों की दृष्टि में जो कुछ समाये?
किन्तु आस्था हिल गई सपने उजड़ते
भावना के फूल हैं हँसते बिखरते
जब सितारों ने सजल हो गान गाया
तब व्यथा के हास में उल्लास पाया।

चाँदनी की मधुर कविता हँस पड़ी जब
गरल की हलकी लहर उर छू गई तब
भाव के ठोकर लगाये सरल उर में
मैं विकल हो बस गया विषधर उदर में
क्या पता दुनिया रंगीली क्यों न पाया?
पर व्यथा के हास में उल्लास पाया।

हिन्दी साहित्य का सन्देश

श्री इन्दुप्रकाश वर्मा 'शेखर'
स्नातक वाणिज्य (द्वितीय खण्ड)

आज का जीवन अनेक विघ्न-बाधाओं से, बहुत दिक्कत परेशानियों से भरा है। जीवन के साथ साहित्य का घना सम्बन्ध है। इसलिए साहित्य का मार्ग कण्टकाकीर्ण है। सारे संसार में उथल-पुथल मची हुई है। सभ्यता का संक्रान्तिकाल है। आर्थिक और सामाजिक अवस्थाएँ अशान्त हैं। मानव अपने पुराने आदर्शों और व्यवस्थाओं को तोड़-फोड़ कर फेंक रहा है। वह एक नवीन आदर्श की खोज में लग गया है। यान्त्रिक युग ने दुनियाँ के टुकड़ों को जोड़ने की परिस्थिति उत्पन्न की है। देश-देश की हवा मिल-मिलकर एक दूसरे को रँग रही है। सरसरी निगाह से देखा जाय तो लगेगा कि दुनिया एक हो जायगी, देश-देश का घेरा टूट जायगा। जातियों और राष्ट्रों की विभिन्नता और विशेषता एकता में खो जायगी। लेकिन यह दृश्य अधिकतः प्रतीयमान हैं, सम्पूर्णतः सत्य नहीं। एक-एक देश की सफर करें तो सामने आ जायेंगी वहाँ की छोटी-छोटी सीमाएँ, संकीर्णताएँ, क्षुद्रताएँ। अपने देश में देखिए—प्रान्तीयता का वाद-विवाद, जाति उपजाति का टंटा, आपस की छीना-झपटी ने इसकी टाँग खीच ली, उसके भाल पर हाथ मारा! इस तरह की मारा-मारी लूट-खसोट घर-घर तक फैल गई है। क्या यही दुनिया एक हो रही है? क्या यही मानव का आदर्श है?

विश्व में एक ओर तो एकता के लिए प्रगति है और दूसरी ओर विद्वेष की प्रतिक्रिया चल रही है। मानव-जीवन इसी संघर्ष में पड़ा हुआ है, और इस अशान्ति से निकलने के लिए राह ढूँढ रहा है। राह ढूँढ़नेके पहले अशान्ति के कारण का पता लगाना चाहिए। अशान्ति इसलिए है कि जो हम खोजते हैं वह मिलता नहीं। हम सभी सुख चाहते हैं, सुख के लिए चेष्टा करते हैं, अपने सुख के लिए दूसरों से छीना-झपटी करते हैं। सुख मिलता है हमें? सुख के साधन कुछ मिल जाते हैं, पर सुख नहीं मिलता। जिन्हें हम सुख के साधन समझते हैं उन्हें लूट खसोट कर जमा करते हैं; लेकिन चैन की नींद सो नहीं सकते। एक ओर तो हम विज्ञान की उन्नति से, मशीन की मदद से, जीवन के सुख-साधनों के ढेर लगा रहें है। दूसरी ओर सुख साधनों को एक दूसरे से छीन लेने के लिए लड़-कट रहे हैं। सुख-साधनों के ढेर लगाने की जानकारी तो हमने खूब बढ़ाई है, लेकिन उन्हें बाँट कर भोगने का शऊर हममें नहीं आया है। यह सब इसलिए कि हम ऊँचे आदर्शों से दूर हो गये हैं, हमारा चरित्र गिर रहा है; हम कायर और स्वार्थी हो गये हैं। हम भूल गये हैं कि सुख के लिए आपस में लड़ना सुख देने वाला नहीं है। समाज में एक व्यक्ति का सुख सारे समाज के

सुख से बँधा हुआ है। इसलिए ऐसे सुख को पाने की कोशिश करना, जिससे दूसरों को दुःख पहुँचे, कभी भी सुख-दायक नहीं हो सकता है। सुख साधनों को सबके साथ मिलकर भोगने में ही सच्चा सुख है और सबके साथ मिलने के लिए एक दूसरे को समझने की जरूरत है। हृदय में कुछ अनुभूतियाँ और मस्तिष्क में कुछ विचार पनपाने पड़ेंगे। वास्तविक सुख के लिए कुछ स्थूल सामग्रियाँ इकट्ठी कर लेने से ही काम नहीं चलने को है। इसके लिए कुछ एक प्रकार के भाव विचारों को भी जमा करना आवश्यक है। साहित्य को इन्हीं भाव विचारों से सम्बन्ध है।

सभ्यता के ह्रास से ही जीवन में अशान्ति है। संस्कृति के उत्थान द्वारा शान्ति प्राप्त करना जीवन का चरम लक्ष्य है। संस्कृति की धारा साहित्य के प्रांगण में अजस्र रूप से बहती है। विस्तृत विश्व और सनातन काल में साहित्य ने ही संस्कृति की धारा प्रवाहित रक्खी है। विचारों को परिमार्जित करके, मस्तिष्क को शुद्ध करके तथा अनुभूतियों को सजग करके, हृदय को द्रवित करके—साहित्य आदमी को आदमी बनाता रहा है। मानव को शुभ गुणों से युक्त करके ऊँचे आदर्शों की ओर प्रेरित और आकर्षित करके उसे जगाए रखना साहित्य का काम है। साहित्य की शक्ति बड़ी प्रबल है, बड़े काम की चीज है। कला आपके दिल तक पहुँचती है। आपका दिल टटोलती है। आपके दिल पर काबू करती है। आपका दिल बदलती है। फलस्वरूप आपका दिल उठ बैठता है। आप दुनिया को नई नज़र से देखते हैं। इसके नए मजे लेने लगते हैं, यह आपको नई खुशी से भर देती है। वही दुनिया, जो कुछ क्षण पहले आपके लिए मायूसी, शिकंजे और झंझट की तस्वीर थी। लेकिन अब आप नए जोश से काम करते हैं, नई मस्ती से आगे बढ़ते हैं, क्योंकि आपके विचार सुलझे हुए हैं, आपका दिल साफ है। साहित्य मानव-जीवन के उच्चतम स्तर तक पहुँचता है और इससे सम्बन्ध रखने वाले अभ्यासी साहित्यक और साहित्यप्रेमी भी तीव्रता और दृढ़ता से वहाँ पहुँचते हैं।

साहित्यिकों का उत्तरदायित्व बड़ा है। संस्कृति की रक्षा और प्रगति का भार उन पर है। समाज के अन्तस्थल में उनकी वाणी गूँजती है। इसलिए उन्हें अपनी वाणी शुद्ध, मधुर, और हितकर बनाने की आवश्यकता है। साहित्यिक ऐसा नहीं कह सकते कि जो मेरे मन में विचार आया सो मैंने लिख दिया। साहित्य के आदर्शों की रक्षा करने में ही उनकी शक्ति की सफलता है। साहित्य के आदर्श जीवन के आदर्श से दूर नहीं होते हैं। साहित्य जीवन का एक अंग है और बड़ा ही आवश्यक अंग है। आनन्द जीवन का लक्ष्य है, आनन्द साहित्य का ध्येय है। साहित्य का—आनन्द जीवन के अनेक प्रकार के आनन्द में से एक है। साहित्यकार और साहित्य प्रेमी का कर्त्तव्य है आनन्द की इस धारा को अधिकाधिक जन में प्रवाहित करना। एक ऐसी परिस्थिति समाज में उत्पन्न करने की आवश्यकता है, जिसमें साहित्य अधिकाधिक संख्या में फूले फले और सारा समाज साहित्यिक आनन्द के लिये उत्सुक हो। जब तक यह परिस्थिति नहीं उत्पन्न होती है, तब तक सभ्यता खतरे में है। आज के जीवन से साहित्य कुछ दूर पड़ गया है। साधारणतया जीवन में अधिकांश लोग साहित्य की

आवश्यकता नहीं अनुभव कर रहे हैं। उनका आदर्श अधिकतर आर्थिक है और मनोरंजन विशेषतया हीन रुचिपूर्ण साहित्य में उच्च आदर्श और सुरुचिपूर्ण मनोरंजन का संयोग है। इसलिए समाज को साहित्य की ओर प्रेरित करके इसे ऊपर उठाने और सुखमय बनाने की ओर सभी का ध्यान होना आवश्यक है। हिन्दी ने जो पद आज प्राप्त किया है, वह भारत की विस्तृत सीमा में बहुत दिनों तक होने वाले क्रमिक और स्वाभाविक विकास का फल है। यह विकास किसी राजसत्ता का आश्रय या अन्य कृत्रिम उपायों के कारण नहीं हुआ है। इसलिए इसमें स्वाभाविक शक्ति और गुण है। इसके प्रति भारत के उन लोगों का आकर्षित होना भी स्वाभाविक है। जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। क्योंकि इसके द्वारा ही समस्त भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक एकता की धारा प्रवाहित रह सकती है। हिन्दी ही वह भाषा है, जिसका विकास देश में सबसे बड़े भूभाग में हुआ है। अन्य भाषाओं की सीमाएँ छोटी हैं। हिन्दी की शक्ति इसलिए अपरिमित है कि वह आसानी से इस देश के कोने-कोने में कुछ-न-कुछ समझी जाती है और बोली जाती है। यह शक्ति इसे स्वाभाविक विकास-क्रम में प्राप्त हुई है, इसलिए यह कृत्रिम नहीं है। अबतक जो शक्ति इसने अर्जित की है वह किसी जिद जबर्दस्ती या पकड़-धकड़ से नहीं मिली है। इसलिए इसमें किसी का द्वेष नहीं होना चाहिए।

हिन्दी को हिन्दुस्तानी बनाकर भारतभ्रमण करने की जरूरत नहीं है। यह अपने मामूली लिवास में ही देश के कोने-कोने में पहचानी जाती है। हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रचार प्रान्तीयता की खींचातानी और वैमनस्य के लिये नहीं है। यह भारत की एकता दृढ़ करने के उद्देश्य से किया जा रहा है। यदि इस प्रचार से किसी अन्य भाषा को कष्ट अनुभव होता है, तो उन्होंने इसका उद्देश्य समझा नहीं है या उनके मन में कोई निराधार आशंका अथवा क्षुद्रता है, जो उन्हें एकता से दूर विद्वेष की ओर ले जाने वाली है। उनसे आग्रह है कि इसके उद्देश्य को समझें और प्रीतिपूर्वक इसे ग्रहण करें। इसी में उनका कल्याण है, इसी में समस्त देश का कल्याण है।



क्रिकेट : भारत और आस्ट्रेलिया

श्री निर्मल कुमार गोयनका
स्नातक कला, द्वितीय खण्ड राजनीति विज्ञान 'प्रतिष्ठा'

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही भारत को क्रिकेट खेलने वाले अन्य देशों से भी क्रिकेटखेलने की स्वतंत्रता मिली। १९४७ के पहले भारत सिर्फ इंगलैण्ड के साथ ही क्रिकेट खेल सकता था। लेकिन स्वतंत्रता के बाद यह प्रतिबन्ध हम पर से उठ गया। इसके बाद भारत ने हर क्रिकेट प्रेमी देश के साथ टेस्ट मैच खेले। परन्तु भारत और आस्ट्रेलिया के बीच हुये मैचों का कुछ दूसरा ही महत्व है। स्वतंत्रता के बाद से अबतक भारत ने आस्ट्रेलिया के साथ चार श्रृंखलाओं में सोलह मैच खेले हैं। इन सोलह मैचों में मे आस्ट्रेलिया ने नौ मैच जीते, भारत ने दो मैच जीते तथा ५ मैचों में हार जीत का फैसला न हो सका।

पहली श्रृंखला के पाँच मैच आस्ट्रलिया में १९४७-४८ में खेले गये। भारतीय क्रिकेट टीम के, इस ऐतिहासिक दौरे के, कप्तान थे लाला अमरनाथ। यह भ्रमण कई दृष्टियों से ऐतिहासिक माना जायगा, क्योंकि स्वतंत्रता के बाद पहली बार भारतीय क्रिकेट टीम मैदान में उतर रही थी, विश्वविजेता आस्ट्रेलिया के विरूद्ध पहली बार मैच खेले जा रहे थे तथा खेले गये ५ मैचों में से ४ में भारत बुरी तरह पराजित हुआ। इस श्रृंखला का प्रथम टेस्ट ब्रिसबन में शुरू हुआ, जिसमें भारत १ पारी और २२६ रन से पराजित हुआ। इस मैच की खाश बात यह थी कि भारतीय टीम दोनों पारियों में एक सौ से कम रन पर ही आउट हो गयी। इस के मुख्य कारण थे आस्ट्रेलियन गेंदबाज टोशाक (Toshak) जिन्होंने पहली पारी में २ रन देकर ५ विकेट तथा दूसरी पारी में २९ रन देकर ६ विकेट लिए। आस्ट्रेलिया की ही ओर से ब्राडमैन ने इस मैच में १८५ रन बनाये। रन संख्या थी—आस्ट्रेलिया ८ विकेट पर ३८२ रन (पारी समाप्ति की घोषणा) भारत ५८ रन तथा ९८ रन। दूसरा मैच सिडनी में शुरू हुआ जो वर्षा के कारण बिना हार-जीत का फैसला हुए समाप्त हो गया, अन्यथा इसमें भी भारत के हारने की पूरी सम्भावना थी। इस मैच में भारतीय गेंदबाज फादकर (३।१४) तथा हजारे (४।२९) ने आस्ट्रेलियन टीम को १०७ रन पर ही आऊट कर दिया, लेकिन भारत खुद पहली पारी १८८ रन बनाने के बाद दूसरी पारी में ७ विकेट पर सिर्फ ६१ रन ही बना पाया कि खेल समाप्त हो गया। तीसरा मैच मेलबोर्न में खेला गया, जिसमें आस्ट्रेलिया ने भारत को २३३ रन से हराया। भारत की ओर से इस श्रृंखला का पहला शतक विनू मन्कड (११६) ने इसी मैच में बनाया लेकिन आस्ट्रेलिया के ब्राड-

मैन (जिन्होंने दोनों पारियों में शतक बनाये (१३२+१२७ अपराजित) तथा मोरीस (१०० अपराजित) की बल्लेबाजी के आगे भारतीय बल्लेबाजों को हार माननी पड़ी ! भारत ने २९१ रन (९ विकटो पर पारी समाप्त घोषित) तथा १२५ और आस्ट्रेलिया ने ३९४ तथा ४ विकेट पर २५५ (पारी समाप्त घोषित) रन बनाये। इस शृंखला का चौथा मैच रेकर्ड की दृष्टि से आजतक हमें याद है और न जाने कबतक याद रहेगा। यह मैच एडलाइड में खेला गया और आस्ट्रेलिया ने फिर भारत को १ पारी और १६ रन से हराया। इन दोनों देशों को उच्चतम रन एक दूसरे के विरुद्ध इसी में बने। भारतीय बल्लेबाज विजय हजारे ने दोनों पारियों में शतक बना कर एक रेकर्ड कायम किया, जो अभीतक किसी भारतीय से फिर न बन पाया। इस मैच में ६ शतक बने, तीन भारतीय बल्लेबाजों ने बनाये तथा तीन आस्ट्रेलिया के बल्लेबाजों ने। रन संख्या इस प्रकार रही–आस्ट्रेलिया ६७४ (डी० जी० ब्राड मैन (२०१), ए० एल० हसेट्ट (१९८ अपरा०) तथा एस० जी० बर्न्स (११२) तथा भारत ३८१ (विजय हजारे (११६) तथा डी० जी० पाढ़कर (१२३) और २७७ विजय हजारे (१४५) शृंखला के अन्तिम मैच में भी भारतीय टीम को १ पारी और १७७ रन से पराजित होना पड़ा। यह मैच मेलबोर्न में खेला गया। जिसमें आस्ट्रेलिया ने पहले खेलना शुरू किया और ८ विकेट पर ५०५ रन बनाकर पारी समाप्त की घोषणा कर दी। भारतीय टीम क्रमशः ३३१ तथा ६७ रनों पर आऊट हो गई। भारत की ओर से मन्कड ने (१११) तथा आस्ट्रेलिया की ओर से हार्वे (१५३) ने शतक बनाये।

भारत और आस्ट्रेलिया के बीच क्रिकेट मैचों की दूसरी शृंखला उस समय शुरू हुई, जब आई० डब्लू० जानसन के नेतृत्व में आस्ट्रेलियन टीम १९५६ में भारत के दौरे पर पहुँची। शृंखला में खेले गये तीनों मैचों को कप्तान का भार भारत की ओर से पाली उमरीगर ने सम्भाला। प्रथम टेस्ट मद्रास में खेला गया, जिसमें भारत १ पारी और ५ रन से पराजित हुआ ! इस मैच में आस्ट्रेलियन गेंदबाज खूब जमकर खेले और भारत को पहली पारी म १६१ (बेनो ७।७२) तथा दूसरी पारी में १५३ (लिण्डवाल ७-४३) रन पर ही आऊट कर दिया। आस्ट्रेलिया ने अपनी पहली पारी में ३१९ रन बनाये थे। दूसरा टेस्ट बम्बई में खेला गया, जिसमें हार जीत का फैसला न हो सका। भारतीय बल्ले बाजों, रामचन्द्र (१०९), पंकजराय (७९) उमरीगर (७८), ने जम कर बल्लेबाजी की। आस्ट्रेलिया की ओर से जे० बर्क (१६१) तथा आर० हार्वे० (१४०) ने शतक बनाये। अन्तिम रन संख्या इस प्रकार रही—भारत २६१ और ५ विकेट पर २५१ रन तथा आस्ट्रेलिया ७ विकेट पर ५२३ रन (पा० स० घो० इस शृंखला का अन्तिम मैच कलकत्ता में खेला गया। गुलाम अहमद (७।४९+३।८१) तथा मन्कड की (३।५६+४।४९) बेजोड़ गेंदबाजी के कारण आस्ट्रेलिया यह मैच सिर्फ ९४ रन से जीत पाया। रन संख्या थी—आस्ट्रेलिया—१७७ तथा ९ विकेट पर १८९ (पा० स० घो०) भारत १३६ (बेनो ६।५२) तथा १३६ (बेनो ५।५३)।

भारत और आस्ट्रेलिया के तृतीय शृंखला के क्रिकेट मैच फिर भारत में ही खेले गये। इस बार आस्ट्रेलियन टीम का नेतृत्व करने वाले थे आर० बेनो। १९५९-६० में खेले पाँचों मैच में भारत की ओर से जी. एस. रामचन्द ने नेतृत्व किया। इस शृंखला के दूसरे मैच में भारत ने पहली बार आस्ट्रेलिया को ११९ रन से हराया। अन्य ४ मैचों में २ आस्ट्रेलिया ने जीते और २ बिना हारजीत के समाप्त हो गये। नयी दिल्ली में खेले गये प्रथम टेस्ट में आस्ट्रेलिया १ पारी और १२७ रन से विजयी रहा। भारत ने पहली पारी में १३५ रन बनाये। इसके जबाब में आस्ट्रेलिया ने ४६८ हार्वे (११४) रन बनाये और भारत को दूसरी पारी में २०६ पर आउट कर विजयश्री हासिल की। आस्ट्रेलिया की ओर से मुख्य विकेट लेने वाले थे बेनो (३।० और ५।७६) तथा क्लाइन (४।४२)। दूसरा मैच कानपुर में शुरू हुआ, जिसमें भारत ने पहली बार आस्ट्रेलियन टीम को ११९ रन से हराया। इसके मुख्य कारण थे भारत के आफ स्पिनर जसू पटेल। उन्होंने और उमरीगर ने आस्ट्रेलियन टीम को उखाड़ फेंका। भारत की ओर से बल्ले बाजी में डेविडसन (५।३१+६।९३) और बेनो (४।६३) की गेंदबाजी के सामने सिर्फ नारी कान्ट्रेक्टर (२४+७४) चन्दू बोर्डे (२०+४४) तथा नाडकर्णी ही (२५+४६) जम पाये। अन्तिम रन संख्या थी—भारत १५२ तथा २९१ आस्ट्रेलिया २१९ (मैक डोनाल्ड ५३, हार्वे ५१, पटेल ९।६९) तथा १०५ (पटेल ५।५५, उमरीगर ४।२७) इस शृंखला का तीसरा मैच बम्बई में खेला गया जो बिना हार जीत के समाप्त हो गया। भारत की ओर से नारी कान्ट्रैक्टर (१०८) नेशतक बनाया तथा आस्ट्रेलिया की ओर में हार्वे (१०२) और ओनील (१६३) ने। गेंदबाजी में भारत की ओर से नाडकर्णी (६।१०५) तथा आस्ट्रेलिया की ओर से मैकिफ्फ (४।७९+३।६७) जमे। भारत ने पहले खेलते हुए २८९ रन बनाये, इसके जवाब में आस्ट्रेलिया ने ३८७ रन बनाकर आठ विकेटों पर पारी समाप्त घोषित कर दी। भारत ने दूसरी पारी मे ५ विकेट पर २२६(पा. सा घो.) रन बनाये तथा आस्ट्रेलिया ने १वि. पर ३४ रन मद्रास में खेले गये चौथे मैच में आस्ट्रेलिया ने भारत को आठवीं बार हराकर १ पारी ५५ रन से विजय प्राप्त की। इस मैच में आस्ट्रेलिया की ओर से फावैल (१०१) ने शतक बनाया! भारत की ओर से ऊच्चतम रन बनानेवाले थे विकेट कीपर कुन्दरम (७१) आस्ट्रेलिया की ओर से "बाउलिंग" हीरो बेनो (५।४३+३।४३) नेआठ विकेट लिए। भारत को रन संख्या थी १४९ और १३८ तथा आस्ट्रेलिया की ३४२। इस शृंखला का अन्तिम मैच कलकत्ते मे बिना हार जीत के समाप्त होगया। ओनील (११३) ने इस मैच मे भी अपना शतक बनाया। इस मैच की खास बात यह रही कि भारत के बल्लेबाज जयसिन्हा पाँचो दिन कुछ न कुछ समय के लिए क्रीब पर जरूर रहे! उन्होने २० अपारा० तथा ७४रन बनाये इस शृंखला मे विकेट लेनेवाले का रेकर्ड कायम करने वाले थे आस्ट्रेलिया के डेविडसन (२९ विकेट-१५.१७रन प्रतिविकेट) तथा बेनो (२९विकेट-१९.५५ प्रतिविकेट)। इसी शृंखला में भारत की ओर से बल्लेबाजी मे कान्ट्रेक्टर (४३८रन) तथा गेन्दबाजी में पटेल ने (१९-विकेट-१७.२१रन प्रतिविकेट) रेकार्ड कायम किये।

अबतक खेली गयी शृंखलाओं की अन्तिम शृंखला भी भारत में ही १९६४ मे खेली गयी। कप्तान रहे

आस्ट्रेलिया की ओर से सिम्पसन तथा भारत की ओर से पटौदी के नवाब। इस क्रम का पहला मैच मद्रास में खेला गया, जिसमें अस्ट्रेलिया भारत को नवी वार पराजित कर १३९रन से जीता। इस मैच में आस्ट्रेलिया ने पहले खेलते हुये २११ (नाडकर्णी ५।३१)रन बनाये, इसके प्रत्युत्तर में भारत ने २७६ (पटौदी १२८ तथा बोर्डे ४९; मैकेन्जी ६।५८) रन बनाये। आस्ट्रेलिया के खिलाड़ी दूसरी पारी मे जम गये और ३९७ (सिम्पसन ७४ ब्रिभर्स ७४ तथा वर्ज ६० नाडकर्णी ६।९१) बना ले गये। फिर उन्होंने भारत को १९३ (हनुमन्त ९४; मैकेन्जी ४।३३) रन पर ही आउटकर विजयश्री प्राप्त की। इस श्रृंखला का दूसरा मैच बम्बई में हुआ, जिसमें दूसरी बार भारत ने आस्ट्रेलिया को २ विकेटो से हराया। आस्ट्रेलिया की टीम पहले मैदान मे उतरी और ३२० (बर्ज—८० जरमन ७८ चन्द्रशेखर ४।५०) रन बना ले गयी। भारत ने भी अपना खेल अच्छी तरह खेला और ३४१ (पटौदी ८६; जयसिन्हा ६६) रन बनाये। आस्ट्रेलिया की दूसरी पारी मे कुल २७४ (चन्द्रशेखर ४।७३ नाडकर्णी ४।३३) बना पाये। अब भारत को मैच जीतने के लिए २५४ रन की जरूरत थी। भारत ने बहुत ही सावधानी के साथ खेल शुरू किया। ८ विकटो पर २५६ (सरदेसाई ५६; पटौदी (५३) मान्जरेकर ३९; बोर्डे ३० अपरा) बनाकर विजय प्राप्त कर ली! इस श्रृंखला का अन्तिम मैच कलकत्ता में बारीश के कारण बिना हार जीत के फैसले के समाप्त हो गया। इसमे पहले आस्ट्रेलिया ने खेलना शुरू किया और १७४ (सिम्पसन ६७; दुर्रानी ६।७३ सुर्त्ती ३(३८) पर ही उसके सभी खिलड़ी आउट हो गये! भारत ने जमकर खेलना शुरू किया और २३४ (बोर्डे ६८ अपा; जयसिन्हा ५७; सिम्पसन ४।४५) रन बनाये। दूसरी पारी मे आस्ट्रेलिया ने अभी १ विकेट पर १४३ रन ही बनाये कि वर्षा के कारण खेल समाप्त हो गया।

यह पहला अवसर था; जबकि आस्ट्रेलिया बिना 'रबर' जीते हुये वापस जा रहा था। पहले की तीनो श्रृंखलाओं मे अस्ट्रेलिया ने क्रमशः ४–०,२—० तथा २-१ से 'रबर' जीता था।



परमाणु की बनावट

प्रो० पुरुषोत्तम गणेश परांजपे, एम० एस० सी०
अध्यक्ष, भौतिक विज्ञान विभाग

आज से करीब दो सहस्त्र वर्ष पूर्व भारतीय वैज्ञानिक कणादि ऋषि ने यह सिद्धान्त दिया कि प्रत्येक पदार्थ कणों का बना है तथा ऐसे कण बड़ी संख्या में जुड़े हुए हों तो वे पदार्थ के रूप मे दिखाई पड़ते हैं, और भिन्न भिन्न पदार्थ के कण गुण और स्वभाव में भिन्न होते हैं।

अठारहवीं सदी में डाल्टन नामक वैज्ञानिक ने भी परमाणुओं का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जो अधिक प्रायौगिक फलों पर आधारित था। इस सिद्धान्त के अनुसार परमाणु को पदार्थ का वह अन्तिम छोटा से छोटा भाग समझते हैं, जहाँ तक उसमें पदार्थ के सब गुण उपस्थित रहें।

यदि इनकी मात्रा तथा आकार का विचार किया जाय तो ये अति सूक्ष्म हैं। इनकी मात्रा 1.8×10^{-24} ग्राम से 4.2×10^{-22} ग्राम तक होती है। 1.8×10^{-24} का अर्थ 1.8 में। पर चौबीस शून्य रखने पर जो राशि आएगी उससे भाग देने से प्राप्त फल है परमाणु का आकार 10^{-8} सेन्टी मीटर होता है। 10^{-8} यह सेन्टी मीटर के दस हजारवें का दस हजारवाँ भाग है। यह आकार इतना छोटा है कि इसको आँख से देख पाना तो दूर की बात है, अच्छे से अच्छे सूक्ष्म दर्शक से देख पाना भी संभव नहीं है।

ऐसे परमाणु की रचनाकी कल्पना वैज्ञानिक कैसे कर पाए, यह हम प्रस्तुत विवेचना मे देखें।

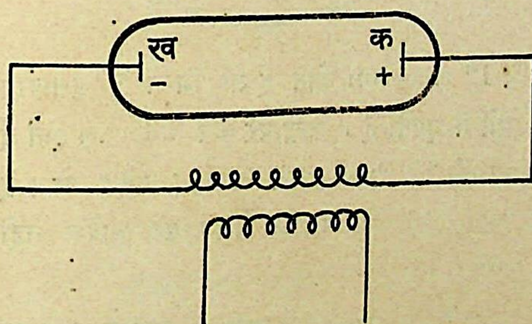
साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति ने देखा होगा कि यदि सूखे बालों पर कंघी फेरें और तब उसे छोटे कागज के टुकड़ों अथवा तिनकों के निकट लावे तो वे तिनके उससे आकर्षित होकर चिपक जाते हैं। इसी-प्रकार इबोनाइट कीछड़ को फलालेन अथवा बिल्ली की खाल से रगड़ा जाय तो इबोनाइट की छड़ और फलालेन दोनो में ही आकर्षित करने का गुण आजाता है। इसका कारण भी दोनो पर विद्युत आजाना है। दोनो में से एक पर घन विद्युत और दूसरे पर ऋण विद्युत आती है। यदि इबोनाइट की छड़ और फलालेन को पुनः जोड़ दें तो दोनो का विद्युत–आवेश समाप्त हो जाता है और वे अब तिनकों को आकर्षित नहीं कर सकते। इन प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि चूँकि छड़ और फलालेन को बाहर से आवेश नहीं दिया गया अतः ये रगड़ने से उत्पन हुए। प्रश्न यह उठता है कि ये आवेश पहले कहाँ थे? रगड़ने से पूर्व दोनो पदार्थों के पास धन और ऋण आवेश बराबर मात्रा मे थे जो एक दूसरे को सन्तुलित करते हैं। पर जब रगड़ा गया तब एक पदार्थ से कुछ ऋण दूसरे पर चले आए तो वह पदार्थ ऋण हो गया और जिसमे से ऋण निकल गए वह धन हो गया। चूँकि प्रत्येक पदार्थ कणों का बना है

जिसे हम वैज्ञानिक शब्द मे परमाणु कहते हैं इसलिये प्रत्येक परमाणु मे बराबर ऋण और धन आवेश होने चाहिये।

यह भी एक महत्त्व पूर्ण तथ्य है कि यदि दो पदार्थ जिसमे से एक धन दूसरा ऋण आवेशित है निकट रखे जाँय तो वे एक दूसरे को आकर्षित करते हैं और यदि दोनो पर समान आवेश हो तो विकर्षित करते हैं।

परमाणु की रचना मे यह तो स्पष्ट हुआ कि इसमे दो कण होने चाहिये। एक धन आवेशित दूसरा ऋण आवेशित तब रगड़ने पर ऋणकण निकलकर दूसरे पर जाता है कि धन कण? यह देखने के लिये एक प्रयोग समझना होगा।

इसप्रयोग मे कांच कि एक नली लेते हैं। इसके



एक ओर एक धातवीय पट्टी 'क' लगी होती है दूसरी ओर 'ख' इनको electrode कहते हैं। नली को करीब-करीब वायु रहित कर देते हैं। अब इनमें से एक पट्टी को धन दूसरे को ऋण आवेशित कर देते हैं तो पाया जाता है कि ऋण पट्टी से ऋण कण निकलकर धन की ओर जाते हैं तथा ये ऋण कण हाइड्रोजन (Hydrogen) के परमाणु की तुलना में 1800 गुना हल्के होते हैं।

इस प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि परमाणु के ऋण कण धन की अपेक्षा हलका होता है और बल लगाने से ऋण कण ही परमाणु में से बाहर निकलता है।

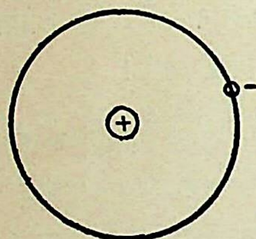
अब हमारे पास जितने तथ्य हैं उनके आधार पर परमाणु की रचना पर विचार करें!

सबसे सरल Hydrogen 'हाइड्रोजन' के परमाणु में एक धन कण जिसे हम Proton कहें और एक ऋण कण जिसका नाम इलेक्ट्रान है, होगा। यदि वे कण निकट होंगे तो विपरीत आवेश होने के कारण आकर्षित होकर चिपक जाएंगे और एक दूसरे का आवेश नष्ट कर देंगे और जैसा कि हम रगड़ वाले प्रयोग में पाते हैं उनको अलग करना सम्भव नहीं होगा।

अब यदि उनके बीच आकर्षण का बल भी लगा हो और फिर भी वे एक दूसरे से दूर रहें ऐसी स्थिति पानी हो तो यह आवश्यक है कि उनको दूर रखने वाला बल होना चाहिये। यदि ऋण कण 'electron' धनकण 'proton' के चारों ओर लगातार घूमता हो तो यह स्थिति पाई जा सकती है। इसलिए कि गोलाकार पथ में कोई पदार्थ जब घूमता है तो उसकी प्रवृत्ति बाहर जाने की होती है। जैसे कि एक पत्थर को रस्सी से बांधकर घुमावें तो वह चक्राकार पथ में तब तक घूमता है जब तक रस्सी हाथ से बंधी है। जैसे ही रस्सी छूटती है या टूटती है पत्थर दूर चला जाता है। अर्थात् घूमतो अवस्था में उस पर बाहर की ओर जाने का बल निर्माण होता है। इस बल को केन्द्रा पसारी बल कहते हैं।

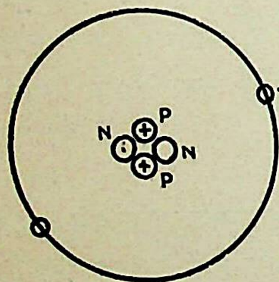
अतः Hydrogen के परमाणु में electron और proton आपसी आकर्षण के बाद भी अलग

रहें इसके लिए electron का proton के चारों ओर घूमना ही एकमात्र हल है! electron कण proton के चारों ओर इतने वेग और ऐसी दूरी पर घूमता है कि आकर्षणीय बल और केन्द्रापसारी बल एक दूसरे को सन्तुलित करें।

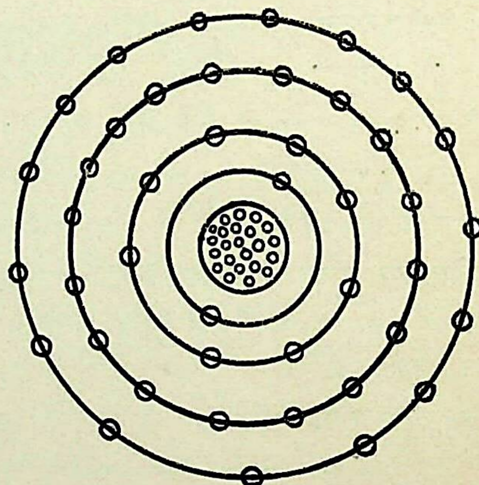


Hydragen Atom

Hydrogen के पश्चात दूसरा आसान कण Helium है इसका आवेश Hydrogen से दूना है पर मात्रा चौगुनी है। दूने आवेश के लिए दो electron बाहर होंगे और आवेश सन्तुलन के लिए केन्द्र पर दो proton आवश्यक है पर यदि Helium के परमाणु की बनावट इतनी ही होती तो मात्रा भी दूनी होती। अतः दो ऐसे कण और आवश्यक हैं जिनकी मात्रा proton के बराबर हो परन्तु जिन पर आवेश न हो। ये दोनों कण भी proton के साथ केन्द्र पर होते हैं। इन कणों को neutron कहते हैं। केन्द्र को nucleus कहते हैं!



जैसे-जैसे परमाणुओं में electron की संख्या बढ़ती है तो ये एक ही वृत्त में नहीं घूमते परन्तु अलग-अलग वृत्तों में घूमते हैं इन वृत्तों को electronic shells कहते हैं एक shell में घूमने वाले electron की अधिकतम संख्या भी निश्चित रहती है। तथा अन्तिम बाहरी वृत्त में घूमने वाले eletron की संख्या पर अणु के गुण निर्भर करते है इसी तरह सबसे अन्तिम परमाणु Uranium



में I2 electron होते हैं जो भिन्न २ वृत्ताकार पथों में घूमते हैं। केन्द्र पर कुल 238 कण होते हैं इसमें से 12 Proton जिन पर धन आवेश होता है तथा 146 neutron जिन पर आवेश नहीं होता।

चूँकि nucleus में proton होते हैं तथा उन पर समान होता है और वे nucleus में एक दूसरे को विकर्षित करते है फिर भी वे nucleus में एक साथ बने रहें इसके लिए तीसरे प्रकार के कणों की आवश्यकता प्रतीत हुई जो nucleus में कणों को बांधे। इनको meson कहा गया। यह meson भी बीस प्रकार के पाये जाते हैं।

Uranium के nucleus में कणों की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि यह परमाणु अस्थायी हो जाता है और वह छोटे-छोटे कणों में टूटता रहता है। इस घटना को Radio-activity कहते हैं।

यह गुण Radium इत्यादि और भी परमाणुओं में पाया जाता है। यदि Uranium के अणु को योजना पूर्वक तेजी से तोड़ने की क्रिया करें तो बहुत ही अधिक शक्ति पाई जा सकती है। इसे हम atomic energy कहते हैं।

इतनी विवेचना से स्पष्ट है कि जिस परमाणु को हम कभी देख नहीं सकते उसकी रचना का अन्दाज किया जा सकता है और जो रचना आज मान्य है उसके द्वारा विज्ञान के बहुत से तथ्यों को समझ सकते हैं।

व्यक्ति की भाँति समाज भी माया के पाश में बँधकर 'पशु' अवस्था को प्राप्त करता है। उसकी स्वतंत्र इच्छा समाप्त हो जाती है। वह रूढ़ियों, आप्तवाक्यों और शास्त्र-विधानों के द्वारा चलाया जाने लगता है। व्यक्ति की पशुता से कहीं अधिक भयंकर होती है समाज की पशुता। भारत का वर्तमान समाज इसी पशुता का शिकार है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

"छात्र-वर्गः राजनीतिश्च"

प्रो० लक्ष्मण उपाध्याय शास्त्री

अध्यक्ष संस्कृत विभाग

विद्यार्थि-जीवनमेकं तपः। यदर्थं दृढ़ता, कर्म-निष्ठा, पूर्ण-परिश्रमः, शील-सौजन्यादि-गुणाः अपेक्ष्यन्ते यद्युक्त गुणाः छात्र-जीवने पूर्णतः परिपाल्यन्ते तर्हि स्व-तपसि छात्राः सफलाः सन्तः भाविनि सुखमये जीवनेऽनेकविधं प्रमोदमालभन्ते। अतः आवश्यक्तेत्थं प्रतीयते यत् सर्वतः नेत्रं निमील्य स्व-निष्ठया परि-श्रमेण च विद्याध्ययनमेव मुख्यं विषयं मत्वा तत्तपः सम्पादनीयम्। विदितमस्ति यन्मनस्तु एकमेव। तत्रैक एक विषयः ग्राह्यः। गृहीते नानाविधे विषये कुत्राऽपि साफल्यं नाप्स्यते इतिः मनीषिणः प्रवदन्ति। तत्र विचारणीयमिदं यत् सम्प्रति यथा जीवने जाटिल्यं दृश्यते पुरा न तथा। पुरा विद्यार्थिनः केवलं विद्या-प्राप्तिमेव स्व-लक्ष्यं विधाय गुरुकुले गच्छन्ति स्म समाप्य च स्वाध्ययनं सांसारिके वातावरणे प्रवेशं प्रददति स्म। अधुना यथा संसारे संघर्षः दरीदृश्यते तत्र यदि छात्राः सर्वतः उदासीनाः सन्तः विद्याऽ ध्ययनमेव कुर्युः तदा स्वराष्ट्रस्य का गतिरिति विचा-रणीयः मुख्यः विषयः।

यद्यपि प्रचीनकालेऽनेके अवसराः राष्ट्रे समुपस्थिताः येषु विद्यार्थिनः राजनीतिं समाश्रयन्तः राष्ट्रोत्थाने सहायकाः अभूवन्। सम्राजः सिकन्दरस्य आक्रमण-काले तक्षशिलायाः गुरुकुलम् राजनीति-केन्द्रं जातम्। परन्तु इमेऽवसराः राष्ट्रस्य सङ्कटकाले समुपस्थिताः अन्यथा तेषां गुरवः सदैव छात्राणा मध्ययनं तप एव प्रवदन्ति स्म। विद्यार्थिनश्च गुरुणा-माज्ञां शिरसि निधाय स्व-कर्त्तव्यपालनं कुर्वन्ति स्म।

परमत्र युगे पूर्व-युगापेक्षया परिस्थितिः विषमा जटिला चागता। अद्य जीवनन्तु इत्थं संघर्ष-ग्रस्तं, नानाविध-विपत्तिभिः संमिश्रितं जटिलता-ज्वालाकुलं तथा आर्थिक-दृष्ट्या संत्रस्तं दृश्यते यत् कश्चिदपि पुमान् तदवरोधं प्रयतमानोऽपि सर्वथा तद्वञ्चितो न भविष्यति। प्रायःशतत्रयवर्षैः परतन्त्रता-पाश-परिबद्धानां भारतीयानां जीवन-स्वरूपं सर्वथा विशृंखलं जातम् किं भारते, विश्वस्य अनेकं स्थान-मन्यमपि अनेकविधं संकटग्रस्तं दृश्यते। यत्र छात्राः हठात् राजनीतौ आपतन्ति। अधुना भौतिक-विज्ञान-विकासेन यातायात सौविध्येन च विस्तृतोऽपि विश्वः गेहीभूत इव अवलोक्यते। तत्र कुत्राऽपि काचित् समस्या आगता तदा तस्याः प्रभावः भारतेऽपि आपतति तर्हि अत्रत्याः छात्राः सर्वथा तदुदासीनाः सन्तः कथं विद्याध्ययनवैकं व्यापारं विधास्यन्तीति विचारः नोपेक्ष्यः। भारतस्य स्वतन्त्रतासंग्रामे छात्राः एव अग्रेसराः आसन्। छात्राः एव राष्ट्र-कर्णधाराः सन्ति आसन्च। अद्यतनाः अल्पवयस्काः छात्राः अनन्तरं

महत् पदं प्राप्य राष्ट्र-भाग्य-विधातारः भविष्यन्ति तदा ते राजनीतिं परित्यज्य कथं स्वस्थाः सेत्स्यन्ति ? अतः अत्रोपस्थित-प्रश्नोपरि गम्भीर विचारः कर्त्तव्यः।

सांप्रतिक-संघर्षशील-परिस्थितौ यत्र राष्ट्रोत्थानाय सहयोगं दातुं छात्राणाम् आह्वानं जनाः कुर्वन्ति तत्र तेषां कृते राजनैतिक-जीवनस्य पूर्णज्ञानं प्राप्तुं परिस्थितिः बाधते। यदा निज-छात्र-जीवने एव विद्यार्थिनः राजनीतेः ज्ञानं न करिष्यन्ति तदा तत्पश्चात् स्व-राष्ट्र-सञ्चालनाय कथं समर्थाः भविष्यन्ति ? इदानीन्तु महाविद्यालये छात्राणां कृते राजनीतिविषयः तत्पठनाय निर्धारितो विद्यते। महान्तो विद्वान्सः तदध्यापनाय नियुक्ताः दृश्यन्ते अतएव छात्रैरवश्यं राजनीतिरध्येतव्या परञ्च राजनीतेः सैद्धान्तिकं ज्ञानमेव छात्र-जीवने ग्राह्यम् न व्यावहारिकम्। स्वाध्यायकालः छात्रेभ्यः पूर्वचार्यैः जीवन-पूर्वाह्णो निश्चितः। तद्व्यवहार समयस्तु स्वाध्याय-समाप्त्यनन्तरं निर्धारितः। इत्थं पठनकालस्य पूर्ण-सार्थकता सिद्धा भवति। स्वाध्यायकालः तद्व्यवहारकालश्च मनीषिभिः पृथक् वर्णितः शास्त्रे।

चञ्चले मनसि उभयविधं ज्ञानं नाप्तुमर्हति कश्चिदपि कुशाग्र बुद्धिः छात्रः।

राष्ट्र-संकट कालः सम्प्रति दूरं गतः। तद् दूरे गते काले पुनः सङ्कटापत्तिं मत्वा छात्रैः अध्ययना-वरोधः न कार्यः। राजतीतिज्ञाः पुरुषाः प्रायः उद्धताः भवन्ति। तत्रापवादोऽपि दृश्यते। अतः गुरुगृहगतवतां छात्राणां कृते राजनीतेः व्यावहारिकं रूपं नादेयम्, यतोहि तेऽपि उद्धताः एव भविष्यन्ति। उद्धते छात्रे विद्या न प्रवेष्टुं शक्ष्यति। विनयिनः छात्राः एव यथेच्छं विद्यां प्राप्य स्वगृहं गच्छन्ति।

सम्प्रति ये किल छात्राः उच्छृंखलाः दृश्यन्ते तत्र तेषां स्वल्पो दोषो विचार्यते यतो हि स्वार्थसिद्धिं कामयमानानां पथभ्रष्टानां राजनीतिज्ञानांजनानां स्वकार्य-सिध्यर्थं छात्राणां पठन-स्थानः त्याज्यन्ते तैः। परमत्र महदाश्चर्यं प्रतिभाति यत् विद्याव्यसनिनः छात्राः कुटिलानां कूटनीतिं नावगच्छन्ति। कूटनीतिज्ञाः स्व-कार्यं संसाध्य यथावसरं छात्रान् निन्दन्ति। अतः छात्राः स्वस्थाः सन्तः विचारयन्तु अत्र विषये। मूढा-चरणेन छात्राः समाज निन्दापदभाजो भविष्यन्ति। निन्दां नीत्वा विद्यार्थिनः जीविताः अपि मृताः अव-लोकिष्यन्ते।

श्रीराम-कृष्ण-गौतम-गान्धीत्यादयः आदर्शभूताः छात्राः स्वाध्यायकाले राजनीतेः व्यावहारिकं स्वरूपं नादर्शयन्। इत्थमेव पूर्वाचरितानां शुद्ध-छात्राणां-सरणिं गृहीत्वा आधुनिकाः छात्राः अपि स्वाध्यायं समाप्य यथामतिं राजनीतिं चिन्तयेयुः। स्वाध्यायकाले एव यदा छात्राः राजनीतेः व्यावहारिकं रूपं प्रदर्शयिष्यन्ति तदा युवावस्थायां व्यतीतायां वार्धक्ये पठन-प्रारम्भः निन्दितो यास्यति। आधुनिकाः नेतारोऽपि प्रार्थ्यन्ते यत् छात्र-जीवन-महत्वं बुद्ध्वा विद्यार्थिनः विपथाः न क्रियन्ताम् अन्यथा राष्ट्रस्य शुभ्रे जीवने महान् अन्धकारः आपतिष्यति।

परिषद्-विवरण

'प्रसाद परिषद्'

'प्रसाद परिषद्' गोयनका कालेज, सीतामढ़ी की विगत बौद्धिक परम्पराओं का एक जागृत समिति है। इस कालेज की अक्षुण्ण महत्ताओं की छापर का माध्यम यह परिषद् ही है। छात्रों के चतुर्दिक विकास के लिए जिन व्यावहारिक कर्त्तव्यों की अपेक्षा होती है उन सबों को यह परिषद् यथावसर प्रयोग में लाने का प्रयास करती रही है। इसने छात्रों की सौन्दर्यानुभूति, जीवन-दर्शन, नैतिक विचार और आचरण को पूत एवं उन्नत करने में पूरा योगदान किया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की 'प्रसाद साहित्यगोष्ठी' का आदर्श लेकर चलने वाली यह परिषद् अपने अन्तर्गत जयंतियों, व्याख्यान और अभिनय आदि कलापूर्ण आयोजनों का कार्यक्रम उपस्थित करती हुई छात्रों की अभिरुचि का परिष्कार करती है और उनके अध्ययन की शुष्कता में अनुरंजन की सरस माधुरी का मधुवर्षण भी। इसकी परम्परागत सफलता का प्रमुख कारण इसके सुविज्ञ अध्यक्षों की कार्य पटुता ही कही जायगी। इस परिषद् के भूतपर्व अध्यक्षों में श्री रमाकान्त द्विवेदी अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, श्री ब्रजकिशोर पाण्डेय एवं श्री मदन मोहन प्रसाद वर्मा 'पूर्णेन्दु' के नाम उल्लेखनीय हैं। विचार गोष्ठियों एवं साहित्यकार सम्मेलनों के कार्यक्रमों से इसने छात्रों में एक अपूर्व उत्साह उत्पन्न किया जिससे उनकी रुचि को एक नवीन गति मिली और वे जीवन की बहुविधि प्रगति के पथिक बनने लगे। यह परिषद् अपने उत्साही छात्रों के मानसिक उत्थान, भाषा-प्रेम और जीवन के रचनात्मक-विकास से दिनानुदिन कालेज का एक प्रमुख अंग बनती गई। आज इसके वर्त्तमान रूप को देखकर तो लगता है कि यह अब अपने पूर्ण यौवन पर है। हो भी क्यों न। जब इसे श्री प्रमोद कुमार सिन्हा ऐसे सुयोग्य एवं कर्मठ अध्यक्ष मिले हैं। जब से इन्होंने यह कार्यभार सँभाला है इस परिषद् को एक नयी जिन्दगी मिली है।

अपने पूर्ववर्त्ती अध्यक्षों के गौरव की रक्षा करते हुए इन्होंने परिषद् की ओर से कुछ अमर कार्यक्रमों को भी सामने उपस्थित किया छात्र–विश्राम-सदन में इन्होंने देश के गण्यमान्य साहित्यिकों, कवियों एवं नेताओं के जो चित्र टँगवाए हैं उनसे आनेवाले छात्रों को भी एक प्रेरणा मिलेगी और वर्त्तमान तो प्रेरक बना ही रहता है अपने प्रयास से हो प्रतियोगिताओं की एक नयी पद्धति चलाई जिससे छात्रों में रचनात्मक कार्यों की वृद्धि हुई, नूतन मौलिक रचना की ओर स्वतः स्फूर्त्ति जगी और छात्रों की प्रतिभा का द्वार खुलने लगा। परिषद् को समय-समय पर विशेष रूप से प्रो॰ शंभु शंकर प्रसाद प्रो॰ सत्यनारायण प्रसाद और प्रो॰ वीरेन्द्र नाथ दिवेदी जी ने अपना अमूल्य योगदान देकर इसकी कार्यवाहियों को पूर्ण सफलता प्रदान की है। यदि परिषद् भविष्य में भी इसी गति से कार्य

रत रही तो अन्य नूतन विधाओं के शुभ दर्शनों से भी कालेज के छात्रों का मंगल होगा। मुझे तो इस परिषद् के मंत्री के रूप में जो कार्य करने पड़े हैं उनसे मेरा बड़ा लाभ हुआ है। एक जिज्ञासु छात्र के लिए ज्ञान का यह परिषद् एक कोष है। मुझे विश्वास है कि पढ़नेतर कार्यों में इसका कार्यक्रम एक बौद्धिक व्यायाम हो; है और जिसकी निरंतरता हमारी शैक्षणिक प्रगति की सीढ़ी। मैं इसकी गतिशीलता से सदा हर्षोत्फुल्ल रहता हूँ।

रामचद्र सिंह

मुख्य सचिव

छात्रावास

हमारे कालेज में दो छात्रवास हैं। एक तो पंचवर्षीय योजना छात्रावास है और दूसरा निरंजन छात्रावास यहाँ लगभग एक सौ विद्यार्थियों के रहने की समुचित व्यवस्था है। ये छात्रावास उन बाहरी जिज्ञासु छात्रों के निमित्त हैं जिन्हे घर से बाहर निकलने पर आवासीय सुविधा मिलने में कठिनाई होती है यह कालेज छात्रावासों के माध्यम से अपनी जनप्रियता और विकास को ध्यान में रखकर छात्रों की हित साधना में सतत प्रयत्नशील है यहाँ दो भोजनालय भी हैं जहाँ कम लागत पर छात्रों को भोजन उपलब्ध होता है।

इन छात्रावासों में रहने वाले छात्रों का जीवन एक तरह से क्रमबद्ध है। समय पर सोना, पढ़ना और जगना जैसे दैनिक कार्यक्लाप उनको जीवन जीने का व्यावहारिक ज्ञान देते हैं बहुत माने में हमारे छात्रावास में रहनेवाले छात्र बहुविध उत्तरदायित्वों का वहन करना सीख रहे हैं।

छात्रावास के अन्तर्गत एक छात्र-संघ है जिसकी देख-रेख सुयोग्य छात्र करते हैं। वर्ष में कई बार इस संघ की ओर से कुछ ऐसे कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते हैं जिनसे छात्रों का बौद्धिक परिष्कार होता है। वाद-विवाद प्रतियोगता, कवि-सम्मेलन, तथा सांस्कृतिक कर्यक्रम जैसे पठनेतर कार्य इस दिशाके परिचालक हैं। अच्छे छात्रों को पुरस्कृत किया जाता हैं। छात्रावास अपने वार्षिकोत्सव का आयोजन करता है। इस अवसर पर प्राध्यापक और छात्र आमंत्रित किये जाते हैं तथा उन्हें छात्रावासों के उत्साही छात्रों से परिचित कराया जाता है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस महाविद्यालय के महत्वपूर्ण अंग के रूप में छात्रावास दिनानुदिन विकसित होता रहेगा।

अधीक्षक

शंभूनाथ ठाकुर

विश्राम सदन

छात्र विश्राम सदन उतना ही पुराना है जितना कि यह महाविद्यालय ऐसा होना स्वाभाविक ही है क्योंकि इसके अभाव में एक उन्नत महाविद्यालय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जहाँ छात्र हों और उनके मनोरंजन का प्रबन्ध न हो यह कुछ अजीब सा प्रतीत होता है। भूतपूर्व प्राचार्य स्वर्गीय पंडित वेणीमाधव मिश्र के सतत् प्रयत्न से ही इसकी स्थापना की गयी।

छात्र विश्राम सदन अपने जन्म के साथ से ही काफी प्रगतिशील रहा है। इसमें छात्रों के मनोरंजन के लिए पूरा-पूरा ध्यान दिया गया है। Indoor games के लिए जिन सारे सामानों की आवश्यकता हो सकती है उन सभी सामानों की व्यवस्था की गयी है जैसे कैरम, टेबिल टेनिस, शतरंज आदि। इसके अलावा लड़कों के सामान्य ज्ञान (General knowledge) की वृद्धि के लिए शिक्षाप्रद तथा अंतर्राष्ट्रिय मामलों से सम्बन्धित उपयोगी पत्र-पत्रिकाओं की व्यवस्था की जाती है। इस सिलसिले में दैनिक, साप्ताहिक, मासिक और वार्षिक अनेक पत्र-पत्रिकाएँ विभिन्न भाषाओं की मंगवायी जाती हैं। इतना ही नहीं छात्रों के बीच उत्साह लाने के लिए खेलों की प्रतियोगिता का प्रबन्ध किया गया है। हर वर्ष लड़के इसमें भाग लेते हैं और सफल प्रतियोगियों को उचित पुरष्कार भी दिया जाता है।

छात्र विश्राम सदन के तत्वावधान में आयोजित विशेष समारोहों में कई विशिष्ट विद्वानों को समय-समय पर आमंत्रित किया गया है। कई विद्वान अब तक आ चुके हैं जिन्होंने न केवल पुरष्कार वितरण ही किया बल्कि अपने विद्वतापूर्ण भाषण से महाविद्यालय के छात्रों को लाभान्वित भी किया हैं। गत वर्ष बिहार विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० प्यारे लाल श्रीवास्तव ने सपत्नीक आकर इसके द्वारा आयोजित समारोह में भाग लिया था और प्रतियोगियों का उत्साह बढ़ाया था।

आज जो भी छात्र-विश्राम-सदन है वह प्रो० पद्मनाभ सिंह जी के अथक परिश्रम की देन है। इनके सबल कंधों पर ही इसका भार वर्षों से रहा है और जिस लगन और तत्परता के साथ इन्होंने किया है वह सराहनीय है। प्रो० राय रवीन्द्र कुमार सिन्हा तो इस सदन के प्राण ही हैं। अपने मृदुल स्वभाव और लगनशील वृत्ति से ये सदा इस सदन को जीवंत साबित करने में जुटे रहते हैं। इन से हमें पूर्ण निर्देशन मिलता रहा है। अंत में हम अपने वर्त्तमान प्राचार्य श्री रामवतार प्रसाद अग्रवाल और शासी निकाय के मंत्री श्री हरिकिशोर सिंह डी० लिट् के उत्साह वर्द्धक सहयोग के प्रति भी आभारी हैं। आशा है छात्र-विश्राम-सदन भविष्य में यों ही प्रगतिशील रहेगा।

अध्यक्ष
प्रो० पद्मनाभ सिंह

उपाध्यक्ष
प्रो० राय रवीन्द्र कुमार सिन्हा

मंत्री
राणाप्रताप सिंह
केशरी कुमार सिंह
नागेन्द्र कुमार गुप्ता

राजनीति विज्ञान परिषद्

भूतपूर्व प्राचार्य स्वर्गीय श्री वेणीमाधव मिश्र के आशीर्वाद तथा राजनीति विज्ञान विभाग के अध्यक्ष प्रो० विशेश्वर प्रसाद सिंह के सत्प्रयास से १९५९ ई० में कालेज में राजनीति विज्ञान परिषद् की स्थापना की गई जिसका उद्घाटन बिहार विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग के अध्यक्ष एवं अखिल भारतीय राजनीति विज्ञान परिषद् के वर्त्तमान उपाध्यक्ष डा० लल्लन प्रसाद सिंह के करकमलों के द्वारा सम्पन्न हुआ। स्थापना काल से लेकर अबतक प्रत्येक वर्ष परिषद् के तत्वावधान में छात्रों के लिए वाद-विवाद, भाषण एवं निबन्ध आदि प्रतियोगिताओं के आयोजन होते रहे हैं तथा उनमें सफल छात्राओं एवं छात्रों को बराबर पुरस्कृत किया जाता रहा है। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष परिषद् का वार्षिकोत्सव भी मनाया जाता है और उस अवसर पर बाहर से उच्चकोटि के विद्वानों एवं मनीषियों को आमन्त्रित किया जाता है। परिषद् के तत्वावधान में आयोजित समारोहों एवं सभाओं में जिन सज्जनों के भाषण एवं प्रवचन हुए हैं, उनमें निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, स्वर्गीय प्राचार्य श्री वेणीमाधव मिश्र, डा० लल्लन प्रसाद सिंह, प्राचार्य विश्वम्भर सिंह चौहान, प्रो० शंकर कुमार झा चन्द्रधारी मिथिला कालेज दरभंगा, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग के भूतपूर्व आचार्य श्री मुकुट बिहारी लाल एम० पी०, बिहार के शिक्षा मंत्री श्री सत्येन्द्र नारायण सिंह जनकार्य मंत्री श्री रामलखन सिंह यादव और श्री हरिकिशोर सिंह। कालेज शासीनिकाय के विद्वान सचिव श्री हरिकिशोर सिंह का आशीर्वाद परिषद् को बराबर प्राप्त रहा है तथा उनकी ही प्रेरणा से परिषद् के तत्वावधान में विभिन्न प्रकार की विचार गोष्ठियों का आयोजन होता रहा है। प्रारंभिक अवस्था में परिषद् के विकास में राजनीति-विज्ञान के भूतपूर्व प्राध्यापक श्री पांडेय [illegible]जेन्द्र नारायण का भी काफी सहयोग रहा है। प्रो० श्री राय रवीन्द्र कुमार सिन्हा तो मानों परिषद् के प्राण ही हैं क्योंकि परिषद् का जो आज विकसित रूप है, वह उनके ही परिश्रम एवं सहयोग का फल कहा जा सकता है। परिषद् की उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि इस वर्ष गोपेश्वर कालेज हथुआ में लोकमान्य राजनीति परिषद् के तत्वावधाण में आयोजित अन्त कालेज भाषण पतियोगिता में हमारे राजनीति विज्ञान के दो छात्र श्री रामशरण अग्रवाल एवं श्री रामचन्द्र सिंह को प्रथम एवं द्वितीय पुरस्कार मिले। वाद-विवाद प्रतियोगिता में भी रामशरण अग्रवाल को द्वितीय स्थान मिला। इसके अतिरिक्त गोयनका कालेज के छात्रों की उसी टीम को श्री जानकी देवी रजत कलश का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार यह परिषद् दिनानदिन प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होती जा रही है।

अध्यक्ष :

प्रो० विश्वेश्वर प्रसाद सिंह

मंत्रीः

श्री मदन मोहन झा बी० ए० आनर्स

संयुक्त मंत्री—सुश्री रेखा दास, बी० ए० आनर्स

,, सुश्री नीलम शाही, बी० ए० आनर्स

सहायक मंत्री—रामचन्द्र प्रसाद सिंह, बी० ए० आनर्स

सरगम परिषद्

शिक्षण एवं मनोरंजन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। पाठ्यक्रम की सरस-नीरस पुस्तकों में ज्ञान की खोज करने वाले छात्रों एवं प्रज्ञादान देने वाले प्राध्यापकों के लिए मनोरंजन की खोज सहज स्वाभाविक ही है। कॉलेज की स्थापना के साथ पठन-पाठन के अनन्तर सांस्कृतिक कार्य-क्रम का आयोजन होता रहता है और इन्हीं कार्य-क्रमों ने इस कॉलेज में सरगम परिषद् को जन्म दिया जो समय-समय पर कॉलेज में संगीत, नृत्य एवं नाटकों के आयोजन द्वारा पठन-पाठन की एकरसता को दूर कर सके।

अभी तक परिषद् के तत्वावधान में भीष्म, कोणार्क, छठा बेटा दो कलाकार एवं मर्यादा की वेदी-पर आदि नाटकों का सफल अभिनय को चुना है। कॉलेज के प्राङ्गण में मुक्त आकाशी कलात्मक रंगमंच के निर्माण से दर्शकों के सुविधापूर्वक बैठाने की समस्या के हल होने के साथ नाटकों के अभिनय में भी अभूतपूर्व कुशलता प्राप्त हुई है।

परिषद् की देखरेख में संगीतकला के शिक्षण का भी प्रवन्ध हुआ है जिससे संगीत के इच्छुक छात्र-छात्राओं को काफी सुविधा प्राप्त हुई है। इस संदर्भ में परिषद के दीर्घकालीन भूत-पूर्व अध्यक्ष प्रो. शंभुशंकर प्रसाद की सेवाओं और कोशिशों को नहीं भुल सकते जिन्होंने अपने संगीत-कला के ज्ञान से छात्रों को प्रोत्साहित एवं लाभान्वित किया है। जिन अन्य प्राध्यापकों का सक्रिय सहयोग एवं सहायता हमें सर्वदा प्राप्त होती रही है, उनमें सर्व-श्री प्रो. रमाकान्त द्विवेदी, प्रो. श्रीकान्त प्रसाद, प्रो. मदन मोहन प्रसाद वर्मा 'पूर्णेन्दु, प्रो. पद्मनाभ सिंह तथा प्रो. ब्रज किशोर पाण्डेय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रो. पूर्णेन्दु की कवित्वपूर्ण टिप्पणी समारोहों में चार चाँद लगाती रही है।

१९६४ का वर्ष परिषद् के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जायगा क्योंकि इस वर्ष काफी तैयारी के बाद परिषद् वर्त्तमान अध्यक्ष प्रो. पुरुषोतम परांजपे एवं प्रो. शंभुशंकर प्रसाद के नेतृत्व में कोलेज की टीम ने ढ़ोली में आयोजित बिहार विश्व विद्यालय युवक समारोह में भाग लिया और आशातीत सफलता प्राप्त की। समारोह में प्रदर्शित प्रहसन 'चार नमूने' द्वितीय घोषित हुआ और कई कलाकारों को प्रमाणपत्र भी प्रदान किये गये। दर्शकों ने टीम के प्रदर्शन की भूरि-भूरि सरहना की। चार नमूने के कलाकार थे सर्वश्री वैद्यनाथ प्रसाद गुप्ता, श्री लल्लन शाही, श्री भोला प्रसाद एवं श्री सच्चिदान्द सिंह।

आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में भी छात्र-छात्राओं एवं प्राध्यापकों के सहयोग से परिषद दिनानुदिन उन्नति करती जायगी।

अध्यक्षः श्री पुरुषोत्तम परांजपे

मंत्री : श्री सच्चिदानन्द सिंह